Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विश्ववाणी

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

[ज]नवरी १९४२

संस्कृति अङ्क : पहला भाग

[संस्कृति अङ्क दूसरे भाग की विषय सूची कवर के चौथे पृष्ठ पर देखिये]

T- 33/1

[वा]र्षिक मूल्य ६) मैनेजर 'विश्ववाणी' इलाहाबाद इस अङ्क का २)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY

Acc. No.

Book No.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इतिहास संस्कृति और राजनीति की सचित्र मासिक पत्रिका

विश्ववाणी ही क्यों पढ़ें ?

'विश्ववाणी' का नामकरण स्वर्गीय कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था

'भारत में अंगरेज़ी राज' के रचयिता पं० सुन्दरलाल इसके संरक्षक हैं

'विश्ववाणी' पर लोकमत

यों तो मैं किसी को आज कल कुछ संदेश नहीं भेजता, लेकिन विश्ववाणी को मैंने चन्द मिनट दीं। 'विश्ववाणी' की विशेषता कि उसमें ज़ाहिर ख़बर नहीं ली जाती मुझे बहुत प्रिय लगी। मुझे यह भी अच्छा लगा कि 'विश्ववाणी' में सब धर्मों के लेखकों के लेख भरे हैं······—महात्मा गान्धी

'विश्ववाणी' जिस महान उद्देश्य को लेकर निकली है, मुल्क को उसकी बेहद ज़रूरत है। हर हिन्दुस्तानी को 'विश्ववाणी' पढ़नी चाहिये—राष्ट्रपति आज़ाद

... को लेकर जिस साहस के साथ आपने 'विश्ववाणी' निकालने का आयोजन किया है, ... सर्वपल्ली राधाकृष्णन

...च नहीं कि हिन्दी में इतनी उच्चकोटि की कोई दूसरी मासिक पत्रिका ...

निस्सन्देह 'विश्ववाणी' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका है—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

'विश्ववाणी' का एक एक अङ्क संग्रह करने की वस्तु है

आज ही छै रुपये भेजकर ग्राहक बन जाइये

मैनेजर, 'विश्ववाणी' कार्यालय, साउथ मलाका, इलाहाबाद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय-सूची

[संस्कृति अङ्क : जनवरी १९४२]

(१) भू-वन्दना (कविता)—
अनु० श्री महादेवी वर्मा,... ... १

(२) अनेक कंठों में शान्ति की एक वाणी (कविता)—श्री महादेवी वर्मा ... ३

(३) आदि मानव और उसकी संस्कृति—
प्रो० मनोहर लाल मिश्र ... ५

(४) आदि भारत का संस्कृति-केन्द्र मोहेन-जो-दड़ो—श्री सी० आर० राय ... १६

(५) वैदिक संस्कृति के सात महान सन्देश—
डा०, ए० सी० दास ... २२

(६) भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन—
डा० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर २६

(७) आर्य संस्कृति के मौलिक सिद्धान्त—
श्री कन्हैयालाल एम० मुंशी ... ३३

(८) वेदों के यूरोपीय भाष्यकार—
डा० मणिलाल पटेल ... ३७

(९) हिन्दू संस्कृति के व्यापक सिद्धान्त—
डा० सैयद महमूद... ... ४०

(१०) भगवान बुद्ध का कर्मयोग—
आचार्य धर्मानन्द कौसाम्बी .. ४८

(११) संस्कृति क्या है ?—आचार्य गुरुदयालमलिक ५३

(१२) संस्कृति—भदन्त आनन्द कौसल्यायन ५५

(१३) भारत और चीन का सांस्कृतिक सम्बन्ध—
प्रो० तान यून-शान ... ५८

(१४) शिव और उनके नृत्य—
प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी ... ६६

(१५) मातृभूमि भारत की सांस्कृतिक और मौलिक एकता—डा० राधाकुमुद मुकर्जी ७२

(१६) भारतीय चित्रकला पर एक दृष्टि—
श्री अजित घोष ८४

(१७) गंगा काँठे की संस्कृति—श्री राय कृष्णदास ९०

(१८) भारतीय संस्कृति की अखण्डता—
डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त ... ९७

(१९) मुहब्बत का रंग (कहानी)
पं० माखनलाल चतुर्वेदी ... १०९

(२०) पांचाल - पथ (यात्रा-वर्णन)
श्रीमती सत्यवती मल्लिक ... ११६

(२१) अशोक का शोक (एकांकी नाटक)
डा० रामकुमार वर्मा ... १२४

(२२) ऐ आदमी के बेटे (हदीस)—मुसलिम १४०

(२३) भारतीय संस्कृति और शिल्पकला—
डा० राधाकमल मुकर्जी ... १४१

(२४) वेदों की रचना का समय-विस्तार—
डा०, आर० शाम शास्त्री ... १४५

(२५) यूरोप में वैदिक देवता मित्र—
पं० सुन्दरलाल १५१

(२६) पांच हज़ार वर्ष पूर्व की सुमेरी संस्कृति—
सर लियोनर्ड वूली १५५

(२७) तन्त्र का आध्यात्मिक और [illegible]
निरूपण—पं० देवीदत्त [illegible]

(२८) आर्य तथा द्रविड़ संस्कृ[illegible]
श्री व्योहार राजेन्द्र सिं[illegible]

(२९) भारतीय संस्कृति में ज्ञान [illegible]
सम्बन्ध—प्रो० राजाराम शास्त्री ... १६५

(३०) मज़ार (कहानी) श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार १७०

(३१) शान्तिनिकेतन में (रेखा-चित्रण)—
श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ... १७४

(३२) मेरा लाल राजा से भी बड़ा (कहानी)—
श्री "विष्णु" १८२

(३३) कबीरदास के निर्गुण राम—
श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ... १८४

(३४) मध्यकालीन भारत में हिन्दुओं की स्थिति
डा० मेहदी हसन ... १८९

(३५) मंझन (संस्कृति) महात्मा भगवानदीन १९२

(३६) सम्पादकीय-विचार १९४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

T/33 I

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

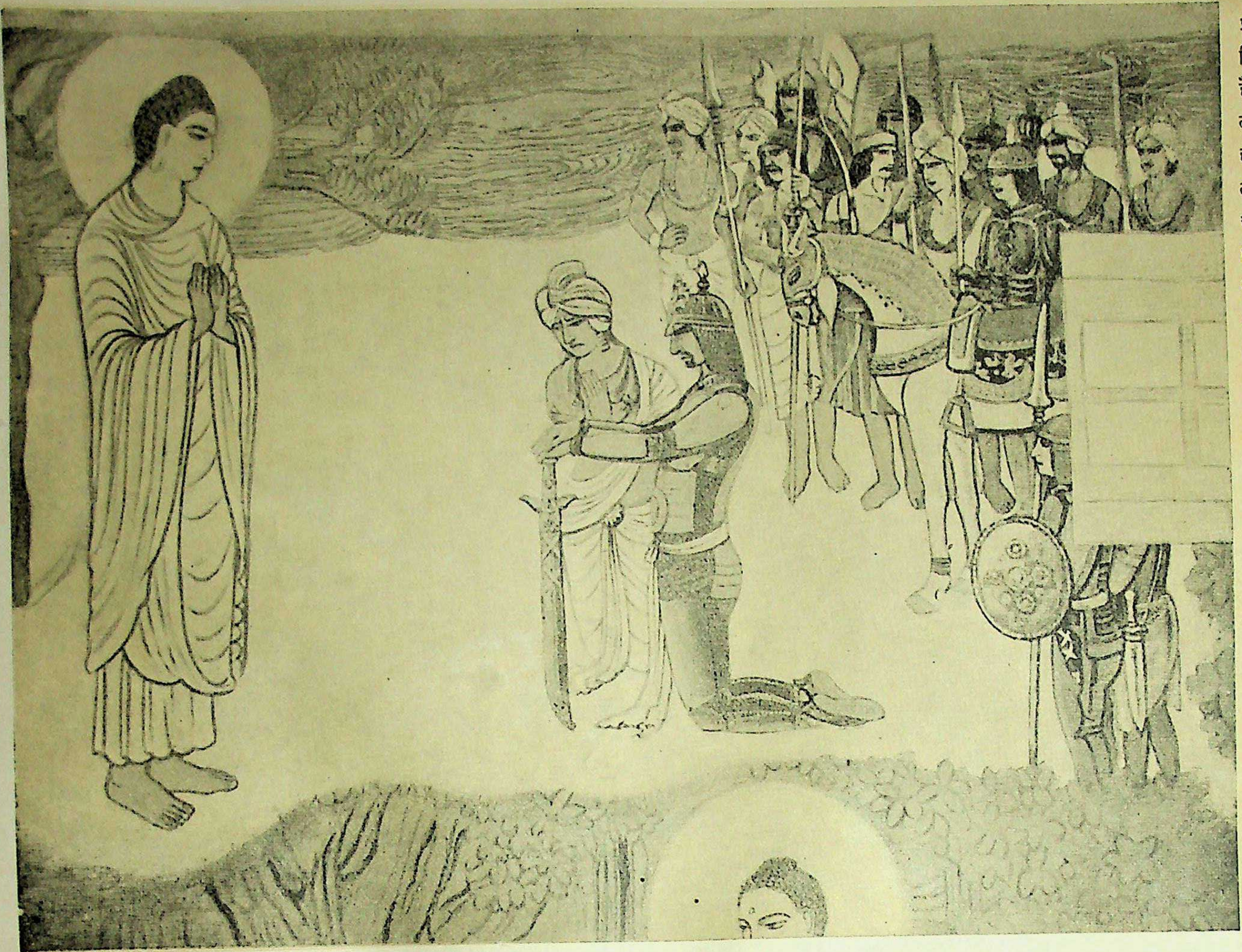

प्रस्तुत चित्र में दिखाया गया है कि किस तरह ढाई हज़ार वर्ष पूर्व तथागत के अनुरोध पर एक रणोन्मत्त राजकुमार ने शस्त्रत्यागकिया था।

उसी तरह के शस्त्रत्याग का मार्मिक अनुरोध आज दूसरा तथागत संसार के युद्ध में संलग्न राष्ट्रों से कर रहा है!

शस्त्र-त्याग

[महाबोधि सोसायटी के सौजन्य से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़ जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

वर्ष २, भाग ३ | जनवरी, १९४२ | अङ्क १, पूरे अङ्क १३

भू-वन्दना

[अथर्ववेद पृथिवी सूक्त से]

आश्रित जिस पर सभी सरित सर सागर के जल,
लहराता है जहाँ शस्य का शोभन अञ्चल,
जिस पर यह चल प्राणि - जगत है जीवित स्पन्दित,
वही धरा दे हमें पूर्वजों का श्रेयस् नित !

सृष्टिपूर्व जो रही सिन्धु में जलमय तन से,
ऋषियों ने की प्राप्त सिद्धि के अक्षय धन से,
परमव्योम वह अमर सत्य - तेजस् - आच्छादित
जिसका उर है, वही धरा दे शक्ति अपरिमित !

शोभित जिस पर अचल-हिमाचल-वन सुषमाकर,
अक्षत अमर अजेय खड़े हम उस वसुधा पर !
श्यामल गैरिक अखिल रूपमय, मघवा-रक्षित,
उसी भूमि पर रहें सदा हम सुख से विचरित !

जिसके उर पर विविध वनस्पतियाँ औ' तरुवर,
पाते ही रहते विकास ध्रुव और निरन्तर,
धरा हुई जो धारण करके यह जग सारा,
उसका वन्दन आज कर रहा गान हमारा !

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तेरे पावस औ' निदाघ तेरे मधु-पतझर,
तुझ पर रहतीं, शरद शिशिर सब ऋतुयें निर्भर;
तुझ से होते सदा दिवस औ' रजनी निर्मित,
ओ पृथिवी! यह रहें हमारे ही सुख के हित!

जो तुझ से उत्पन्न शक्ति औ' बल का आकर,
हमें उसी के मध्य प्रतिष्ठित कर दे सत्वर;
पूत हमें कर, धरापुत्र हम तुझसे लालित,
रसदायक पर्जन्य पिता से भी हों पालित!

तेरा जो शुभ गन्ध मिला ओषधि-जलकण में,
अप्सरियाँ गन्धर्व जिसे रखते निज तन में,
उस सौरभ से गात हमारा तू सुरभित कर,
पड़े किसी की द्वेष-दृष्टि ओ जननि न हम पर!

हम सबके हित महत सदन बन कर तू रहती,
महत वेग, सञ्चलन महत, कम्पन भी महती!
रहे महत निस्तन्द्र इन्द्र-छाया में ऐसी,
स्वर्णधरा तू! पर न हमें देना विद्वेषी!

भू ही तो पाषाण शिला औ' धूलिपटल में,
थामें सबको वही अंक अपने निश्चल में!
तेरा उर है हमें राशि सोने की अभिमत,
देते हैं हे भूमि! तुझे हम आज नमन शत!

२६ दिसम्बर, ४१]

[अनु० श्री महादेवी वर्मा

—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनेक कण्ठों में शान्ति की एक वाणी

अनु० श्री महादेवी वर्मा

है एक शान्ति में सुख अपार !
हो क्षमामयी यह धरा हमें विस्तृत अम्बर भी रहे शान्त,
सागर का यह अस्थिर जल भी हमको हो मंगलमय प्रशान्त,
वन-ओषधियां हों आज हमारे जीवन के हित शान्त क्षान्त,
सब कठिन क्रूर विपरीत हमें अब शान्तरूप में हों उदार !
है एक शान्ति में क्षेम - सार ![१]

यह निर्ममता का कठिन भार !
हो जहां अपेक्षित, स्नेह और विश्वास-छाँह का अभिनन्दन,
जब उसी दिशा में उठें नित्य शत भय शंका आपद के घन,
रखता हो कोई जहां शान्ति का सागर पाने की आशा,
जब उसी ओर से घिर आवे तूफ़ान प्रबल आंधी अपार,
कितना निष्ठुर निर्मम प्रहार ![२]

कैसे आता है यह विचार !
कैसे अपने को भूल एक, जिसको नश्वर तन मिला दान,
करने लगता संकल्प, दूसरे को कर देगा विगतप्राण !
हो इष्ट उसी को, औरों का परिजन - परिग्रह - सन्तति - विनाश,
जो जान रहा है मर्त्य, खुला है उसके भी हित मरण-द्वार !
यह निर्ममता कितनी असार ![३]

तब जीवन में होगा न सार !
कुसुमित कुञ्जों को कर लोगे जिसदिन तुम अपना समराङ्गण,
अर्चन-गीतों के मन्दिर में भर लोगे अस्त्रों का झनझन,
अपने जीवन हित छीन और से लोगे धरती - धन - जीवन,
वह हार न होगी हार उन्हें, पर विजय तुम्हारी एक भार !
निष्ठुर जीवन का मूल्य क्षार ![४]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जीवन हो विश्वासी उदार !
जो हिंसा - वैर - विरोध - शून्य को भी कर देगा प्राणहीन,
उसने मानो सब मनुज-जाति का ही जीवनधन लिया छीन !
पर जो करता है, यहाँ एक जीवन की रक्षा का विधान,
उस एक व्यक्ति ने ली मानो यह मानव-संसृति ही उबार !
वह सत्पथचारी है उदार ![५]

बिन स्नेह सभी जय है असार !
जो शक्ति-विजित उसके न कभी पाते विराम उद्भ्रान्त प्राण,
केवल नतमस्तक सह लेता निज दुर्बलता का कठिन दान !
जो बँधकर गुण के बन्धन से खिंच आता है सुख से समीप,
वह स्नेह-विजित पल में देगा तुम पर अपना सर्वस्व वार !
शस्त्रों से अर्जित विजय हार ![६]

जीवन पर हो न विरोध-भार !
धरती के विस्तृत अञ्चल से वह कर देता सब वैर दूर,
पैने कुन्तों को खण्ड खण्ड वह करता धनु को चूर चूर !
उठती लपटों की ज्वाला में रख रथ को करता भस्मसात्,
तब रुक जाते संघर्ष, युद्ध के साधन होते क्षार क्षार !
सुख शान्ति तभी पाते प्रसार ![७]

---

१ अथर्ववेद-१६.६.१४
२ चुल्लवग्ग-५.२०.१
३ जोरोआस्ट्रीयनीज़्म-फ्रैगमेण्ट्स ८, औगेमर्द ४८
४ क्वांग त्जे-२४.२
५ .कुरान-५.३५
६ कन्फ़्यूशियनीज़्म—मेन्सिअस २.१.३.२
७ ओल्ड टेस्टामेण्ट—बुक आफ़ साम्स ४६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदि-मानव और उसकी संस्कृति

प्रोफ़ैसर मनोहरलाल मिश्र, एम. एस-सी., एल-एल. बी.

सृष्टि में विचरण करने वाले इस मानव की कहानी बहुत पुरानी है। इस कहानी को शुरू हुए सैकड़ों नहीं, हज़ारों नहीं, लाखों ही नहीं किन्तु करोड़ों वर्ष बीत चुके हैं। इसका अन्त कैसे और कब होगा यह अभी कौन कह सकता है ? जब हमारी यह कहानी शुरू हुई उन दिनों की दुनियां ही दूसरी थी। उस समय दुनियां का नक़्शा ही दूसरा था, और तब से आज तक तो यह नक़्शा कई बार बदल चुका है। पृथ्वी का निर्माण हुए लगभग दो अरब वर्ष बीत चुके हैं, और इस लम्बी उम्र में हमारी धरती माता ने लाखों प्रकार के जीव जन्तुओं को जन्म दिया। वे जन्मे, बड़े हुए, खेले कूदे और अन्त में कराल काल की गोद में हमेशा के लिये सो गये। उनकी जाति की जाति का ही अन्त हो गया। पर पृथ्वी जीव जन्तुओं से खाली न हुई। एक तरह के प्राणी पैदा हुए और मिट गये। फिर दूसरे प्रकार के प्राणियों ने जन्म लिया और वे भी मिट गये। यही क्रम चला जा रहा है और चलता रहेगा।

यह मानी हुई बात है कि एक जीव का जन्म दूसरे जीव के आधार पर होता है। कोई भी जीव अपने आप पैदा नहीं होता। कहा गया है कि जीव एक छोटे से अणु से उत्पन्न हुआ है। यह अणु अपने आप दो अंशों में बंट गया। बाद में ये दोनों अंश और भी अनेकों अंशों में बंटे और इन्हीं अंशों से तरह तरह के जीव उत्पन्न हुए। जब इन जीवों में विकास शुरू हुआ तब उनसे तीसरे ही प्रकार के प्राणी पैदा हो गये। यही थोड़े में प्राणियों के पैदा होने का क्रम है। इसी क्रम के अनुसार मनुष्य भी किसी अन्य प्राणी के विकासक्रम का परिणाम है। मनुष्य की उत्पत्ति से लेकर उसमें जो जो विकास हुए हैं उनका अनुभव करने के लिये हमें प्राणी मात्र के विकास का अध्ययन करना होगा, क्योंकि मनुष्य का विकास दूसरे प्राणियों का ही विकास है। उनसे अलग करके उसे नहीं देखा जा सकता।

यह ठीक ठीक कह सकना कि संसार में जीव की उत्पत्ति कब शुरू हुई, असम्भव सा ही प्रतीत होता है। किन्तु इसका अन्दाज़ अवश्य लगाया जा सकता है। दुनियां के प्राणियों के इतिहास से यह बात पूरी तरह साबित हो चुकी है कि सब प्राणियों में मनुष्य लगभग सभी से उम्र में छोटा है। दुनियां का इतिहास और मनुष्य का जन्म एक ही सूत्र से बंधा है। इसलिये मनुष्य के जन्म, उसके विकास तथा उसकी संस्कृति को समझने के लिये दुनियां के समूचे इतिहास पर ग़ौर करना होगा। वैज्ञानिकों ने पृथ्वी के जन्म से लेकर आज तक के समय को चार महाकालों में विभाजित किया है। इन महाकालों को क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ काल नाम दिये हैं। इन चारों महाकालों को भी छोटे बड़े कालों में विभाजित किया गया है। इन महाकालों का विभाजन भिन्न भिन्न कालों में जमा हुई चट्टानों तथा उन चट्टानों में पाये गये पशुओं के पत्थर बने हुए (फ़ासिल) अस्थि पंजरों पर निर्धारित है। कहीं कहीं दो काल की चट्टानें व उनमें पाये जाने वाले जीवों के (फ़ासिल) अस्थिपंजर इस तरह मिलते जुलते हैं कि उनका अलग अलग करना मुश्किल हो जाता है। परन्तु बहुधा ये एक दूसरे से भिन्न ही होते हैं। यह विभाजन इस प्रकार है—

चतुर्थ महाकाल = | वर्त्तमान काल
| प्लाइस्टोसीन काल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तृतीय महाकाल = | प्लायोसीन काल
| मायोसीन काल
| ग्रालिगोसीन काल
| योसीन काल

द्वितीय महाकाल = | क्रिटेशश काल
| जुरासिक काल
| ट्राइसिक काल

प्रथम महाकाल = | परमियन काल
| कारबोनीफ़ेरस काल
| डिव्होनियन काल
| साइलूरियन काल
| ग्रारडोव्हीशियन काल
| कैम्ब्रियन काल

प्रथम काल के पहिले का समय

कैम्ब्रियन काल की चट्टानों में जिन जीवों के पत्थर हुए ग्रस्थिपंजर पाये जाते हैं वे इस बात को साबित करते हैं कि उस काल में वे प्राणी पैदा हो चुके थे। इसके ग्रनुसार उस काल के पहिले काल में प्राणियों का या जीव का उत्पन्न होना मानना पड़ेगा, हालाकि इस काल से पहले काल की चट्टानों में किसी भी प्रकार के प्राणियों के ग्रस्थिपंजरों का बिलकुल ही ग्रभाव है। कैम्ब्रियन काल के जीव ग्रमिश्रित प्राणी थे! वे पुराने तथा ग्राजकल के प्राणियों से बिलकुल ही भिन्न थे। उस समय शरीर में रीढ़ नहीं होती थी। बिना रीढ़ के ही प्राणी पृथ्वी पर रहते थे। ऐसे प्राणी जैसे स्पंज, कोरल, जैली मछली ग्रौर एक प्रकार का बिच्छू जिसे ट्राइ-लोबाइट कहते हैं। ये सबके सब जलचर ही थे। थल पर उस समय तक जीव का ग्रागमन नहीं हुग्रा था।

ग्रारडोव्हीशियन काल बड़े बड़े ज्वालामुखियों का काल था। इस काल के प्राणी कैम्ब्रियन काल के प्राणियों से बहुत कुछ मिलते जुलते थे।

साइलूरियन काल में पहले दो कालों के प्राणियों से ग्रधिक विकसित प्राणी मिलते हैं ग्रौर इसी समय भिन्न भिन्न प्राणियों का विकास शुरू हुग्रा। किन्तु इस काल में भी थल पर जीव का ग्रागमन नहीं हुग्रा। इस काल के भी सब प्राणी जलचर ही रहे। बड़े बड़े, छै छै फ़ुट के बिच्छू जिनकी कांवर दस दस फ़ुट की होती थी इस काल में पाये जाते थे। इनका एक हमला बड़े से बड़े जानवरों को निष्प्राण करने के लिये काफ़ी था। इसी काल में प्राणियों में विकास होकर रीढ़दार प्राणियों का जन्म हुग्रा। इस प्रकार के प्राणी, गोकि वे ग्राजकल की मछलियों के पूर्वज समझे जाते हैं, फिर भी इन मछलियों से बिलकुल भिन्न थे। इन रीढ़दार प्राणियों का चमड़ा हड्डी के समान कड़ा होता था जो बड़े बड़े बलवान बिच्छुग्रों से उनकी रक्षा करता था। इनमें फ़ुरती बिलकुल न थी। ये महा ग्रालसी जीव थे। इस काल में लगभग दस हज़ार प्रकार के भिन्न भिन्न प्राणी संसार में रहा करते थे। ये सब के सब जलचर थे। इनमें थलचर एक भी न था।

डिव्होनियन काल में बेहद ग्रन्धड़ ग्रौर तूफ़ान चला करते थे ग्रौर घनघोर वर्षा हुग्रा करती थी। इस काल में थल का बहुत सा भाग मरुस्थल था। ग्रनुकूल वतावरण मिलने के कारण पुराने जलचरों में ख़ूब चुस्ती ग्रा गई थी जिससे वे पानी में तेज़ी से यहां वहां ग्रपने बचाव के लिये भाग सकते थे। ग्रब उन्हें हड्डी के समान कड़े चमड़े की ग्रावश्यकता न रह गई थी। वह उनकी फ़ुर्ती में बाधक होता था। धीरे धीरे यह हड्डी जैसा चमड़ा नरम हो गया। इसी काल में थल पर जीव का ग्रागमन हुग्रा। इन सर्व प्रथम ग्रागन्तुक थलचारियों में थीं—वनस्पतियां, कीड़े, मक्खियां, मकड़ियाँ ग्रादि।

कारबोनीफ़ेरस काल में बड़ा भारी परिवर्त्तन हुग्रा। डिव्होनियन काल के मरुस्थल इस काल में ग्रत्यन्त घने जंगलों में परिवर्त्तित हो गये। जल वायु में उष्णता ग्रा गई। इस काल में वृक्षों की उंचाई साधारणतया १५० फ़ुट ग्रौर छोटी छोटी झाड़ियों की उंचाई ग्राजकल के वृक्षों की उंचाई के बराबर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

थी। आजकल जो ज़मीन के भीतर पत्थर का कोयला पाया जाता है वह इसी काल के वृक्षों से बना था। इस काल में उन जानवरों का ख़ूब विकास हुआ जिनसे बाद में नभ में उड़ने वाले प्राणियों की उत्पत्ति हुई। इन्हीं जानवरों के विकास से रेंगने वाले जानवरों की भी उत्पत्ति हुई।

परमियन काल में फिर जलवायु में परिवर्त्तन हुआ। जंगल उजड़कर फिर मरुस्थल बनने लगे। जलवायु और वातावरण में परिवर्त्तन होने से प्राणियों में भी परिवर्त्तन हुआ। उन्हें अपने बचाव के लिये

ट्राईसिक काल में जलचर, थलचर और नभचर जीवों का ख़ूब विस्तार हो चुका था। आजकल की ह्वेल मछलियों के बराबर सैकड़ों प्रकार के जीव उस काल में समुद्र को मथा करते थे। बड़े बड़े रेंगने वाले प्राणी जिनके चमगीदड़ के समान पंख और लम्बी लम्बी चोंच में पैने पैने दांत होते थे, आसमान में बेधड़क उड़ा करते थे। इसी काल में जल में रहनेवाले प्राणियों के बीच में एक बड़ा ही भयानक प्राणी रहता था। इसकी लम्बाई लगभग १०० फ़ुट और उंचाई लगभग ३० या ४०

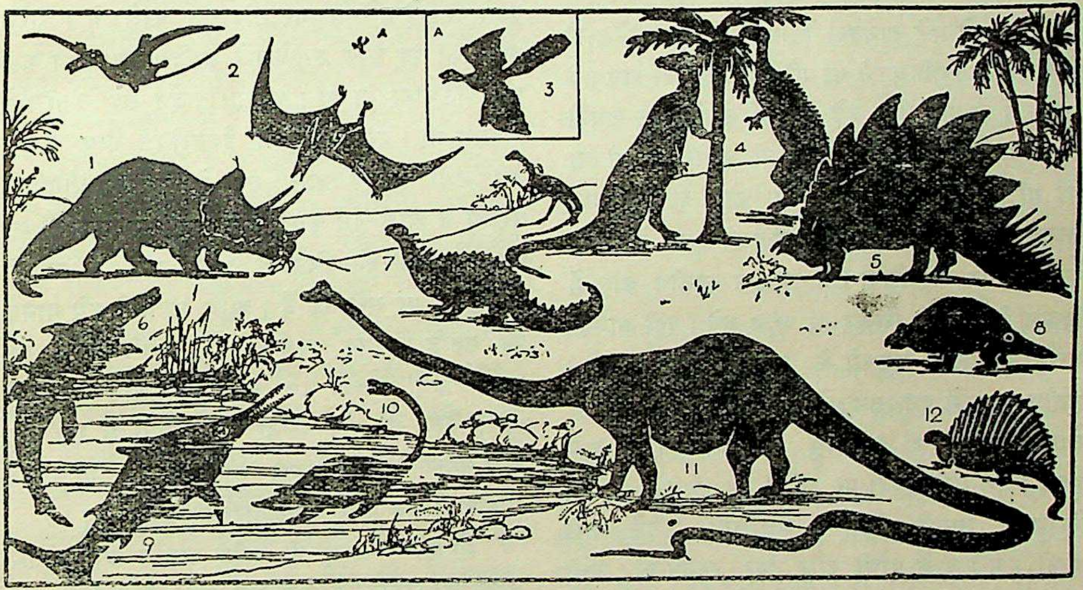

द्वितीय महाकाल के भयङ्कर जीव-जन्तु

कायापलट करनी पड़ी। जो जीव ऐसा न कर सके वे नष्ट हो गये। जिन्होंने अपनी रक्षा की वे बच गये। इस समय तक थल पर भी प्राणियों का आगमन हो चुका था। एक विशेष प्राणी ने थल को ही अपनाया। वह हमेशा थल पर ही रहने लगा। इस काल के साथ साथ प्रथम महाकाल का अन्त हुआ।

द्वितीय महाकाल में रेंगने वाले जानवरों का ख़ूब ज़ोर रहा। इस महाकाल में सौ सौ फ़ुट के रेंगने वाले जानवर रहा करते थे।

फ़ुट से कम न थी। इसका मुंह घड़ियाल के समान, गर्दन सांप के समान और शरीर आजकल के जल घोड़े के समान था। इसे वैज्ञानिक डिपलोडोकस नाम से पुकारते हैं।

जुरासिक काल में रेंगने वाले जानवर अपने अन्तिम तथा उच्चतर विकास पर पहुंच चुके थे। इस समय के लगभग सभी प्राणी भयानक, भीमकाय और बलवान थे। इनमें हमेशा प्राणों की बाज़ी लगी रहती थी। इसी कारण प्रत्येक प्राणी में रक्षा की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भावना से कायापलट होने लगी। मार्के की बात यह थी कि ये जानवर दिमाग़ से कोई काम न लेते थे। इससे दिमाग़ का विकास रुका रहा। नतीजा यह हुआ कि इन दिनों के समस्त जानवरों में से किसी एक का भी भेजा मुर्ग़ी के अण्डे से बड़ा नहीं हो पाया। समय के बदलते ही इनमें से बहुत से प्राणी नष्ट हो गये। केवल भौतिक-बल पर ही वे कहां तक टिक सकते थे?

क्रिटेशश काल में इनमें से लगभग सभी प्राणी नष्ट हो चुके थे। इनके नष्ट होने के साथ ही साथ द्वितीय महाकाल का भी अन्त हो गया।

इन बड़े बड़े जानवरों के मरते ही उन छोटे छोटे प्राणियों को आगे बढ़ने का मौक़ा मिला जो अब तक प्रमुख न हो पाये थे। बड़े जानवरों से निरन्तर अपनी रक्षा करते रहने के कारण इनमें काफ़ी फुरती आ गई थी। ये ही जानवर तृतीय काल के स्तनपायी जानवरों के पूर्वज हैं। इन्होंने कुछ ही समय में अपना पूर्ण विस्तार कर लिया। ये जानवर तृतीय काल में विकास के उच्चतम शिखर पर पहुंच गये। यही जानवर वर्त्तमान काल के पशुओं के पूर्वज समझे जाते हैं। तृतीय काल में इन जानवरों के विकास के साथ ही साथ आजकल की जलवायु का आगमन भी शुरू हुआ। इस तरह पृथ्वी पर जीवों का विकास हुआ; बेरीढ़दार समुद्री जीवों से मछलियां, उड़ने वाले प्राणी, रेंगने वाले प्राणी और फिर स्तनपायी प्राणी पैदा हुए। तृतीय महाकाल के मायोसीन काल में मनुष्य ने भी जन्म लिया।

यहीं से हमारे पूर्वज आदिम-मानव की जन्म-कथा शुरू होती है। जिस समय मनुष्य ने पहले पहल पृथ्वी पर जन्म लिया था वह तृतीय महाकाल था। परन्तु उस समय भी उस प्राणदार मनुष्य में मनुष्यता के चिह्न लेशमात्र ही थे। बल्कि उसे मनुष्य न कहना ही ठीक होगा। यह बात सही है कि वह ठीक वही प्राणी था जिसके विकासक्रम का परिणाम आज का मनुष्य है। जिस समय इस तथाकथित मनुष्य का पृथ्वी पर आगमन हुआ उस समय उसे बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसके पास अपने बचाव के लिये सिवाय नाखूनों के कोई दूसरे हथियार न थे। वह जंगलों में रहता था। मौक़ा पाकर अपना भोजन ढूंढ़ता होगा और रात दरख़्तों पर ही काटता होगा। उस समय जंगलों में महा भयंकर मांसाहारी जन्तु विचरण करते थे। उनकी गर्जना से दिन रात जंगल गूंजा करते थे। झीलों व नदियों में बड़े बड़े घड़ियाल और जलघोड़ों का वास था। स्थल पर बलवान गेंडे, भीमकाय भैंसे, शेर, हाथी आदि चिंघाड़ा करते थे। गुफाओं में भयंकर रीछ और वृक्षों पर बड़े बड़े अजगर सांप रहा करते थे। ग़रज़ कहने की यह है कि उस बेचारे आदिम-मनुष्य का कहीं कोई ठिकाना न था। वह ग़रीब इन सब के बीच में निहत्था था। परन्तु फिर भी ईश्वरीय लीला महान है। उसी निहत्थे और सब से कमज़ोर प्राणी के वंशजों ने आज उस काल के सब भयंकर जानवरों को अपना ग़ुलाम बना लिया है और उन्हें वे उंगली के इशारे पर नचा रहे हैं। आज उसी निहत्थे मानव की संतति भयानक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित है। वह जानवर रूपी मनुष्य उस समय मायोसीन काल में चारों पैरों के बल चलता था, दरख़्तों पर रहता था और बन्दर से किसी प्रकार भी भिन्न न था। वह मांसाहारी कम और शाकाहारी ही अधिक था।

मायोसीन काल के पहिले अर्थात् आलिगोसीन काल की चट्टानों में कुछ अस्थिपंजर मिले हैं। इनके अध्ययन से यह पता चलता है कि गोकि यह आदि मानव निरा पशु ही था पर उसमें मनुष्यता की ओर विकास का अंकुर फूट चला था। लेकिन इस अंकुर का पनपना बाक़ी था। इस अंकुर के पनपने में ही लाखों वर्ष लग गये। तब तक इसके विकास-क्रम में जो भी प्राणी रूपी मनुष्य हुए वे रत्ती भर भी मनुष्य कहलाने योग्य न थे। इन प्राणियों के अस्थिपंजरों को प्रोप्लायोपिथेकस, मैक्रीपिथेकस आदि नाम दिये गये हैं। ये अस्थिपंजर अफ्रीका महाद्वीप की आलिगोसीन काल की चट्टानों में पाये गये हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मायोसीन काल में यह आदिम मानव विकसित होकर बन्दर रूपी मनुष्य की शक्ल में आने लगा। इस काल की चट्टानों में कई जगह आदिमानव के अस्थिपंजर मिले हैं। एक अस्थिपंजर हिन्दुस्तान में शिवालिक की पहाड़ी पर गंगा की नहर खोदते समय पाया गया है। डा० पिलग्रिम ने उस पर खोज की और उसे आलिगोसीन काल के अस्थिपंजरों से भिन्न पाया। इसका नाम उन्होंने ड्रायोपिथेकस रखा। इसी प्रकार के या इससे बहुत कुछ मिलते जुलते अस्थिपंजर फ्रान्स और हंगरी में भी इसी काल की चट्टानों में मिले हैं। ड्रायोपिथेकस में डा० पिलग्रिम ने आदिम मानव में मनुष्यत्व के अधिक लक्षण पाये हैं। परन्तु फिर भी यह गया बीता मनुष्य था। मनुष्य नाम के वास्तविक प्राणी से अभी यह बहुत दूर था। डा० इलियट स्मिथ का मत है कि शायद यही ड्रायोपिथेकस तरह तरह के बन्दरों, ओरंगउटान, शिम्पैञ्जी, गोरिला, आदि का पूर्वज है। उनका यह भी मत है कि शायद इसी शिवालिक पहाड़ियों से इन बन्दरों का फैलना शुरू हुआ है। यह फैलाव मायोसीन काल में ही हुआ है। शिवालिक पहाड़ियों से ये बन्दर अनेकों दिशाओं में फैले। कुछ पूर्व की ओर गये और बोर्नियो तक जा पहुंचे। इनके फैलाव के मार्ग को देखने से यह पता चलता है कि वे एशिया महाद्वीप के दक्षिणी तथा गर्म किनारे के आस पास ही रहे। कुछ पश्चिम की ओर फैले और ईरान होते हुए धीरे धीरे अरब तक जा पहुंचे। यहां पर इनकी दो शाखाएं हुईं। एक तो यूरोप की ओर फैली और धीरे धीरे फ्रान्स और स्पेन तक जा पहुंची। दूसरी अफ्रीका की ओर बढ़ी और काफ़ी दक्षिण तक फैली। प्रो० डार्ट को जो अस्थिपंजर बुशानन में मिले हैं, और जिनका नाम उन्होंने आस्ट्रालोपिथेकस रखा है, वह इन्हीं फैली हुई शाखाओं में से किसी एक की संतति है। इन बन्दरों का इस तरह फैलना सारे मायोसीन काल में जारी रहा। कुछ लोगों का तो यह मत है कि प्लायोसीन काल का आधे से ज़्यादा समय भी इसी प्रकार बीता। यह सौ या दो सौ साल की ही बात न थी। केवल प्लायोसीन काल ही एक करोड़ ६० लाख वर्ष का आंका गया है। इससे यह पता चलता है कि इन बन्दरों के इस प्रकार फैलाव की क्रिया लगभग ३ करोड़ वर्ष तक ज़रूर जारी रही होगी। इतने लम्बे काल में उस जानवर रूपी आदि-मानव को यहां वहां भटकने में न जाने किन किन कष्टों का सामना करना पड़ा होगा। न जाने वह किस किस जलवायु या वातावरण में से गुज़रा होगा। इसका असर उस पर बहुत पड़ा। उसमें विकास होना और विकास न होना दोनों क्रियायें हुईं। कुछ में तो पशुत्व की ओर ही अधिक झुकाव हुआ और किसी का विकास मनुष्यत्व की ओर हुआ। परन्तु यह तो निश्चित ही है कि इसी समय उस जानवर ने जो विकासधारा पकड़ी वह उसे शीघ्र ही मनुष्यत्व की ओर ले जाने वाली थी। अब तक आधा प्लायोसीन काल बीत चुका था। इसका अन्त ही हो रहा था। पर इस समय तक की चट्टानों में ऐसा अस्थिपंजर नहीं मिला जिससे यह सिद्ध हो सके कि उस जानवर रूपी मनुष्य में मनुष्य कहलाने के लक्षण आगये थे। अभी तक वह आदि-मानव निरा पशु ही था।

इस प्रकार धीरे धीरे प्लायोसीन काल का अन्त हुआ। इस काल में मनुष्य के विकास की महत्वपूर्ण घटना हो चुकी थी। पर वैज्ञानिकों को अभी तक, सिवाय एक अस्थिपंजर के इस सम्बन्ध में और कोई ऐसे चिह्न सारी दुनियां में नहीं मिले, जो इस पर और प्रकाश डालते। यह अस्थिपंजर प्लायोसीन काल के अन्त में जमा हुई चट्टानों में पाया गया है। डा० दुबॉय का छै वर्ष का परिश्रम उस समय सफल हुआ, जब सन् १८९१ के सितम्बर मास में जावा द्वीप में ट्रिनिल नामक स्थान के पास ऐसे अस्थिपंजर के कुछ भाग पाये गये। डा० दुबॉय ने इस पर खोज शुरू की और शीघ्र ही उन्होंने यह देखा कि उस अस्थिपंजर के अवशेष उस समय तक पाये गये सारे अस्थिपंजरों से भिन्न थे। उसमें मनुष्यता का कहीं अधिक विकास दिखाई दिया। उन्होंने यह भी मत प्रगट किया कि उस जीव की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हड्डियों के बनाव से ऐसा मालूम होता है कि वह मनुष्य की तरह दो पैरों पर चलने लगा था। उसकी खोपड़ी छोटी थी। वह मनुष्य की खोपड़ी से लगभग आधी रही होगी। खोपड़ी के भीतर एक छोटा सा भेजा (Brain) था। गोकि छोटा भेजा पशुत्व की निशानी नहीं है फिर भी मनुष्य के लिये तो वह छोटा ही था। उसमें पशुत्व की ही मात्रा अधिक थी। खोपड़ी के भीतरी भाग में कुछ निशान ऐसे हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि यह जीव काफ़ी समझदार

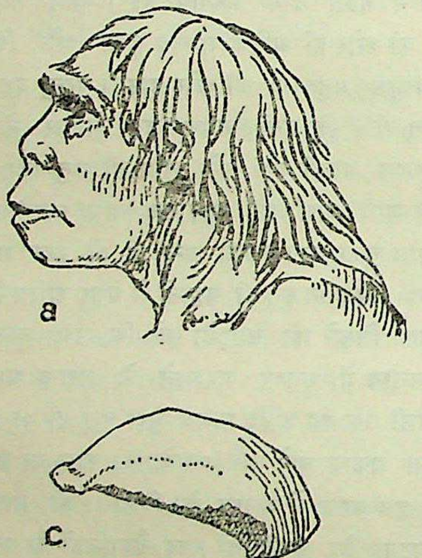

जावा का पिथेकैन्थ्रोपस

हो चुका था, पर फिर भी मनुष्य से उसकी समझ बहुत ही कम थी। इसकी खोपड़ी दबी हुई थी। भौहों के पास से उठाव इतना कम था कि माथा नहीं के बराबर था। उसके चेहरे पर उठी हुई भौहें, भीतर घुसी हुई छोटी आंखें, चौड़ी नाक, बाहर निकला हुआ जबड़ा, पीछे हटी हुई टोढ़ी और माथा था। सिर आगे झुका हुआ था। गर्दन इतनी छोटी थी कि मालूम होता था कि सिर कंधों पर ही रखा है। यह सीधी न की जा सकती थी। बूढ़ों के समान पैर फैलाकर, कुछ मुड़े हुए घुटने से यह झुक कर खड़ा होता था। यही दुनिया का सबसे पहला अचम्भा था। इतना भद्दा था पर फिर भी इसमें मनुष्यता के बहुत से लक्षण थे। यह कुछ कुछ बोल भी सकता था, भाषा इसकी चाहे जो रही हो। इस खोज ने दुनियाँ के वैज्ञानिकों के सामने बिजली सी चमका दी। उन्नीसवीं सदी में इस अस्थिपंजर ने जितने महत्व-पूर्ण प्रश्न को हल किया उतना किसी दूसरी घटना ने नहीं। डा० दुबॉय ने इस जीव का नाम 'पिथेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' रखा। मनुष्य रूपी बन्दर का यह सब से पहिला सबूत था। सारी दुनियाँ में यह अपने क़िस्म का अकेला ही नमूना है। इसके पहिले के जीवों के जो भी निशान मिले हैं उनमें और पिथेकैन्थ्रोपस में ज़रा भी सिलसिला नहीं। एकाएक विकास होना असम्भव है। पर जानवर रूपी मनुष्य और मनुष्य रूपी बन्दर के बीच की कहानी को पूरा करने के लिये अभी कोई और सबूत नहीं है। और यही "मिसिंग लिंक" (खोई हुई कड़ी) है जिसे पाने के लिये वैज्ञानिक अपने प्राण तक निछावर करने को तय्यार हैं।

मनुष्य का पूर्वज पिथेकैन्थ्रोपस ही है या नहीं, इस बात पर बड़ा मतभेद है। इसके बाद के काल की चट्टानों में जो अस्थिपंजर मिले हैं, उनमें और इसमें विकास का एक ही सिलसिला जारी है, जो कि मनुष्यत्व की ओर बढ़ता ही चला गया है और इस बात का सबूत है कि विकास का जो अंकुर पिथेकैन्थ्रोपस में पनपा था, वह शीघ्रता से उन्नति करने लगा था। पिथेकैन्थ्रोपस का जन्म लगभग ११ लाख वर्ष पहिले का बताया जाता है और यही मनुष्य-जन्म की—मनुष्य के पृथ्वी पर आगमन की—तारीख़ है, गो कि इसकी तय्यारियां लगभग ३ करोड़ वर्ष पहिले से हो रही थीं। प्रश्न अब यह है कि हम पिथेकैन्थ्रोपस के रक्त की ही संतति हैं या नहीं? डा० दुबॉय का मत है कि वह हमारा सगा पड़दादा मनुष्य है। ड्रायोपिथेकस के ख़ानदान की एक शाखा से कुत्ते की शकल वाले छोटे छोटे बन्दर हुए। दूसरी से शिम्पैंजी आदि और तीसरी से पिथेकैन्थ्रोपस और बाद में उसी से मनुष्यः—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ड्रायोपिथेकस का ख़ानदान

शिम्पैंजी आदि | पिथेकैन्थ्रोपस | कुत्ते की शक्ल के छोटे छोटे बन्दर

पिथेकैन्थ्रोपस → मनुष्य

डा० ब्यूल का मत है कि मनुष्य पिथेकैन्थ्रोपस के रक्त की संतति नहीं है। ड्रायोपिथेकस के ख़ानदान से तीन शाखाएं फूटीं। एक से कुत्ते की शक्ल वाले छोटे छोटे बन्दर, दूसरी से मनुष्य और तीसरी से शिम्पैंजी आदि। शिम्पैंजी वाली शाखा के दो भाग होगये, एक से शिम्पैंजी और दूसरी से पिथेकैन्थ्रोपस।

ड्रायोपिथेकस का ख़ानदान

शिम्पैंजी आदि के पूर्वज | मनुष्य | कुत्ते की शक्ल वाले छोटे छोटे बन्दर

शिम्पैंजी आदि के पूर्वज → शिम्पैंजी आदि | पिथेकैन्थ्रोपस

इस मत के अनुसार पिथेकैन्थ्रोपस मनुष्य का दूर का रिश्तेदार होता है।

अन्य वैज्ञानिकों का मत है कि ड्रायोपिथेकस के ख़ानदान से तीन शाखाएं फूटीं। एक से कुत्ते की शक्ल वाले छोटे छोटे बन्दर, दूसरी से मनुष्य और पिथेकैन्थ्रोपस के पूर्वज, और तीसरी से शिम्पैंजी आदि। दूसरी शाखा दो भागों में विभाजित हो गई। एक से मनुष्य और दूसरी से पिथेकैन्थ्रोपस :—

ड्रायोपिथेकस का ख़ानदान

शिम्पैंजी आदि | मनुष्य तथा पिथेकैन्थ्रोपस के पूर्वज | कुत्ते की शक्ल वाले बन्दर

मनुष्य तथा पिथेकैन्थ्रोपस के पूर्वज → पिथेकैन्थ्रोपस | मनुष्य

डा० ब्यूल और अन्य वैज्ञानिकों का मत है कि पिथेकैन्थ्रोपस हमारा कोई सगा नहीं है। उसका विकास प्लायोसीन के अन्त में अपने उच्चतम शिखर पर पहुंच गया था और उसके बाद ही उसका नाश हो गया। पिथेकैन्थ्रोपस चाहे हमारा पड़दादा आदम न हो परन्तु पड़चाचा आदम अवश्य है। यही मत ज़्यादा प्रचलित है। वह मनुष्य की ओर अग्रसर होने वाले विकास की एक सीढ़ी है जो वहीं पर ख़तम हो गई।

जिस समय पिथेकैन्थ्रोपस जावा द्वीप के आसपास घूमा करता था उसी समय याने प्लायोसीन काल के अन्तिम चरण में इङ्गलैण्ड में एक प्रकार का मनुष्यरूपी जीव रहा करता था। इसके अस्थि-पंजर के अध्ययन से यह पता चलता है कि इसका दिमाग़ गो कि मनुष्य के दिमाग़ से बहुत छोटा था फिर भी वह था मनुष्य का ही दिमाग़। उसकी आंखों के ऊपर की हड्डियां इतनी उठी हुई न थीं जितनी अभी तक के दूसरे ऐसे जीवों की। उसमें बोलने की शक्ति पिथेकैन्थ्रोपस से अधिक थी। डा० इलियट स्मिथ का मत है कि यही मनुष्यों का पड़दादा आदम है। हम सब लोग इसी जीव की संतति हैं। उन्होंने इसका नाम योएनथ्रोपस रखा है। ये अस्थिपंजर इङ्गलैण्ड के पिल्टडाउन शहर के नज़दीक मिले हैं।

इसके बाद प्लायोसीन काल का अन्त हुआ और मनुष्यरूपी जीव ने प्लाइस्टोसीन काल में पदार्पण किया। इस काल के जो अस्थिपंजर या दूसरे चिन्ह मिले हैं उनसे यही पता चलता है कि विकास की सारी शक्तियां वर्त्तमान मनुष्य के बनाने में पूरे तौर से लगी थीं। ये सारे चिन्ह उन दिनों के मनुष्य की संस्कृति पर काफ़ी प्रकाश डालते हैं। ये चिह्न उन दिनों के मनुष्यों के हथियार और औज़ार थे जो उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पत्थरों को तोड़ फोड़ कर बनाये थे। जहां जहां ये मनुष्य गये वहां वहां अपनी संस्कृति की छाप छोड़ते गये। प्लाइस्टोसीन काल इन्हीं सांस्कृतिक (Cultural) चिह्नों के आधार पर कई भागों में विभाजित किया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गया है। एक भाग की संस्कृति दूसरे भाग की संस्कृति से भिन्न है। परन्तु सब में एक ही सिलसिला है जो इस बात का द्योतक है कि मनुष्य ने अपनी संस्कृति की उन्नति के लिये हज़ारों वर्ष और सैकड़ों उपाय लगा दिये थे। एक काल की संस्कृति दूसरे काल से भिन्न पर मिलती जुलती और सिलसिलेवार है। यह सांस्कृतिक विभाजन इस प्रकार है :—

वर्त्तमान युग
- लौह युग
- ताम्र युग

सिन्ध काल

निकटवर्ती प्रस्तर-युग
- हाऊसियन काल
- कैम्पेगनियन काल
- अज़ीलियन काल

दूरवर्ती प्रस्तर-युग
- मैगडालियन काल—क्रो मैगनान जाति की संस्कृति
- सालूट्रियन काल
- आरिगनीशियन काल } —ग्रामाल्डी और निग्रो जाति की संस्कृति
- मॉसटीरियन काल

पूर्व पाषाण-युग
- अच्यूलियन काल
- चीलियन काल —नियनडरथल जाति की संस्कृति

चीलियन काल के पूर्व का समय
स्ट्रैपियन काल
मैसह्वियन काल

मैसह्वियन काल के पूर्व का समय। होमोहिडलबर जैन्सिस जाति की संस्कृति

पिथेकैन्थ्रोपस के बाद का सबसे पहिला मनुष्य होमोहिडलबरजेन्सिस था। उन दिनों की जलवायु गरम तथा नमी लिये हुए थी। इसके समय में पत्थर के औज़ार बनने लगे थे। मनुष्य पत्थर या किसी भी कड़ी वस्तु को तोड़ फोड़कर औज़ार बनाया करता था। काम होजाने पर उन्हें फेंक देना और ज़रूरत पड़ने पर फिर बनाना, यही उसका काम था। मगर इन औज़ारों ने अभी भयानक हथियारों का रूप धारण नहीं किया था। वे किसी की हत्या के साधन न थे। ये हथियार छोटे छोटे होते थे। ये किसी मरे हुए जानवर की खाल से बहुधा गोश्त खुरचने के काम में लाये जाते थे। इन दिनों मनुष्य जंगलों को छोड़कर पहाड़ों और गुफाओं में रहने लग गया था। पूर्व पाषाण काल की संस्कृति सारे संसार में पाई जाती है। परन्तु यह संस्कृति समयानुसार एक सी नहीं है। संसार के भिन्न भिन्न देशों के लोग या भिन्न भिन्न जातियों के लोग भिन्न भिन्न समय में

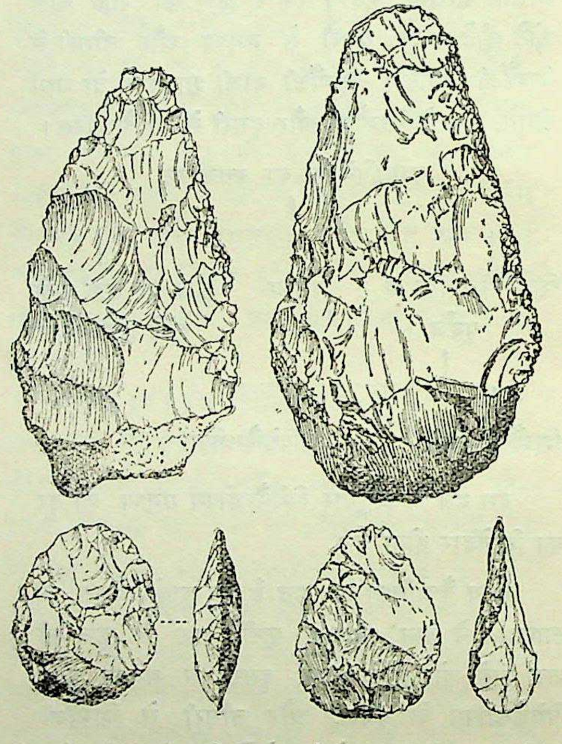

कूप-द-पांग औज़ार

पाषाण काल से गुज़रे हैं। दूरस्थ हिस्सों में आगे पीछे यह संस्कृति पाई जाती है। इस युग में हिडलवर्ग जाति के लोग इङ्गलैण्ड या यूरोप में पाये जाते थे। ये लोग गुफाओं में रहते थे। भाषा का इनमें प्रचार हो गया था। पत्थर के छोटे छोटे हथियार बनाते थे। ये बड़े ऊंचे पूरे तथा बलवान होते थे। इनके दांत मनुष्य जैसे थे पर जबड़ा मनुष्य के जबड़े से काफ़ी बड़ा था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चिलियन काल में यह पाषाण-संस्कृति पूरी तरह फैल चुकी थी। तरह तरह के पत्थर के हथियार बनने लगे थे। पत्थर के एक विशेष प्रकार के हथियार बनाये जाते थे जिन्हें हाथ से पकड़ने में सहूलियत होती थी। इन्हें दपांग कहते थे। मनुष्य गुफाओं में रहते थे। जलवायु गरम थी। जलघोड़े, ख़ूंख़ार शेर, बड़े बड़े हाथी, गेंडे आदि जानवर पाये जाते थे। अच्युलियन काल में 'कूप दपांग' बढ़िया प्रकार के बनने लगे थे। हथियारों में टेढ़ापन लाने की कोशिश होने लगी थी। इस ज़माने में एक अण्डाकार आकृति का नया ही हथियार बना।

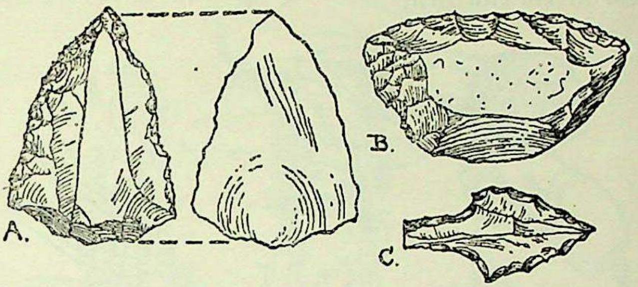

हड्डियों के औज़ार

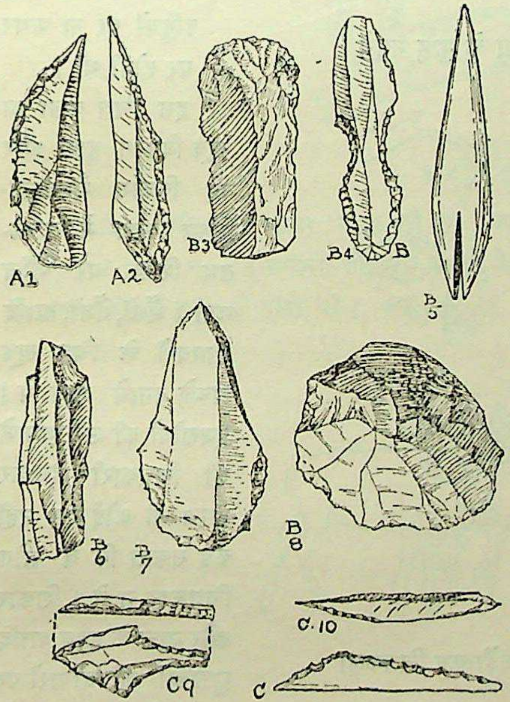

पत्थर के पैने हथियार

चिलियन युग में नियनडरथल जाति के लोग रहते थे ये हमेशा गुफाओं में ही न रहते थे। कभी कभी गरमी के दिनों में महीनों मैदानों में पड़े रहते थे। पर गुफाएं ही इनके घर थे। इन गुफ़ाओं के द्वार पर जानवरों की हड्डियों के और टूटे फूटे हथियारों के ढेर लगे रहते थे। ये गुफाएं दुश्मनों से या जंगली जानवरों से बचने के लिये ही काम में लाई जाती थीं। उन दिनों यूरोप की जलवायु गुफाओं में रहने वालों के लिये अनुकूल न थी। ये अपने छोटे छोटे हथियारों से बड़े बडे जानवर तक को मार लेते थे। शिकार में यह जाति तेज़ थी। ऐसा ज्ञात होता है कि ये लोग पत्थर के हथियारों से खाल पर से गोश्त खुरचकर उसे पहिनने के काम में लाने लगे थे, किन्तु उस समय तक कला का ज्ञान नहीं हुआ था।

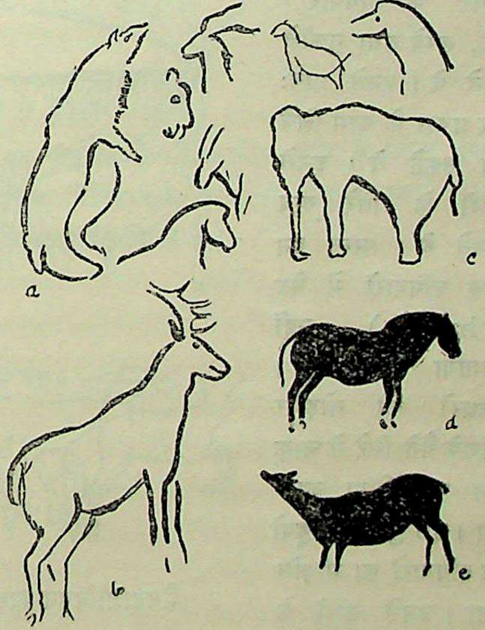

आरगिनीशियन काल की चित्रकला

मासटीरियन युग में खुरचने वाले हथियार खूब प्रचलित हो गये थे। शायद उन दिनों चमड़ा पहनने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का रिवाज बढ़ गया था। इस युग में हड्डियों के हथियार बनाने का प्रयत्न भी शुरू हुआ। जानवरों के कंधों की हड्डियां मांस काटने के हथियार का काम देती थीं। बहुत से लोग साथ साथ रहा करते थे। इस कारण इन लोगों में अपने विचार एक दूसरे पर प्रकट करने के लिये भाषा का उपयोग भी होने लगा था।

आरिगनीरियन काल में पत्थर के हथियार बनाने की योग्यता का विकास अपने उच्चतम शिखर पर पहुंच गया था। इस युग की यूरोप की संस्कृति में अफ़्रीका की और पूर्वीय संस्कृति का मिश्रण हुआ। इस युग के पत्थर के हथियार पैने, लम्बे तथा नुकीले होते थे। इनसे प्रायः हर प्रकार के काम लिये जा सकते थे। इनसे तीरों के सिरे ख़ूब बनते थे। परन्तु इन सब हथियारों में बेट (handle) नहीं लगाया जाता था। पत्थरों को तोड़कर उनके पैने सिरे से चाक़ू का काम लिया जाता था। इस युग में हड्डियों के हथियारों का भी ज़ोर रहा। उनसे तीरों के सिरे बनाये जाते थे। शायद इसी युग में अग्नि का उपयोग भी शुरू हुआ। इस काल के लोगों को यह महत्व प्राप्त है कि ये दुनियां के सबसे प्रथम कलाकार थे। इस काल से पहले कला का नाम तक भी न था। इस युग के भावुक मनुष्य ने अपनी भावनाओं को चित्रकला के द्वारा व्यक्त करना शुरू किया। इन लोगों की चित्रकारी के नमूने देखने से मालूम होता है कि बच्चों ने यहां वहां लकीरें खींची हैं या चित्र बनाये हैं। चित्र ज़्यादहतर पशुओं के हैं। ये चित्र गुफ़ाओं की दीवारों पर या छत पर ही बनाये जाते थे।

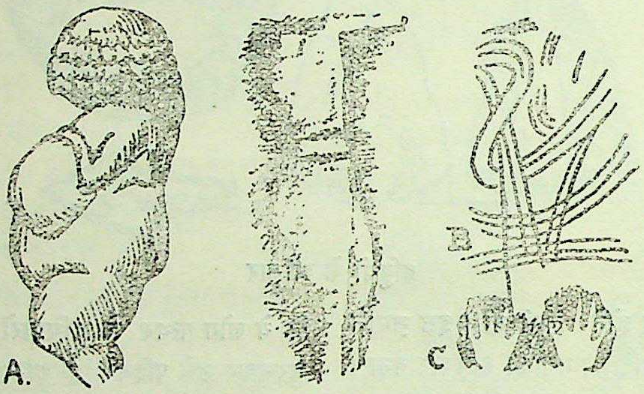

उस काल की शिल्पकला के कुछ नमूने

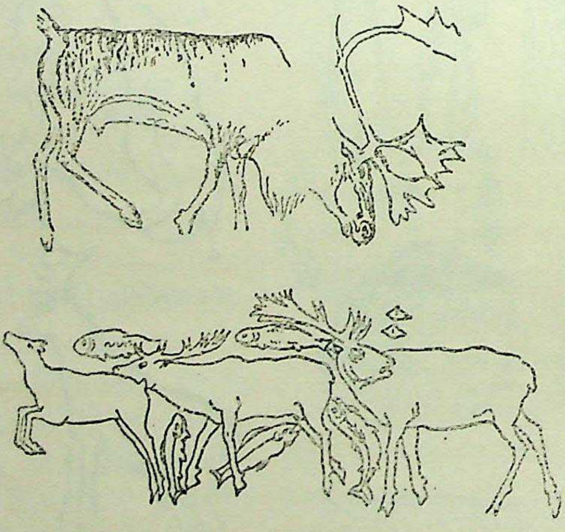
मैगडालीवियन काल की सर्वोत्कृष्ट चित्रकला

इस ज़माने के लोग निर्माण कला से भी थोड़े बहुत परिचित हो गये थे। वे नक़्क़ाशी भी करने लगे थे। यह नक़्क़ाशी हड्डियों पर या पत्थर पर होती थी।

इस चित्र कला का ख़ूब विकास हुआ और यह विकास मैगडालीनियन काल में उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। भैंसों, गैंडों, आदि जानवरों के चित्र ख़ूब अच्छे बनाये जाते थे। इनलोगों की उस ज़माने की चित्रकारी देखकर आज भी कोई यह नहीं कह सकता कि वे लोग चित्रकार न थे। शिकार और नाच के दृश्य आदि गुफ़ाओं की दीवारों पर अंकित किये जाते थे। इस प्रकार के चित्र स्पेन के कोगुल नामक स्थान में अंकित पाये जाते हैं। हिन्दुस्तान में बांदा, सिंगनपुर मिरज़ापुर और होशंगा-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बाद आदि ज़िलों में भी ऐसे चित्र पाये गये हैं। ये पक्के लाल रंग से बनाये गये हैं।

इस प्रकार की उन्नति के बाद अजीलियन युग का भी अन्त हुआ और मनुष्य ने पाषण युग से निकल

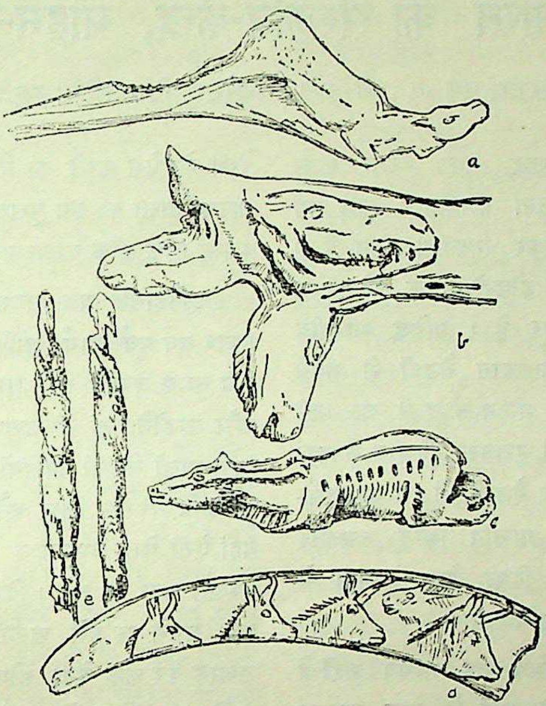

अजीलियन युग के औज़ार

इन दिनों हड्डियों के ऊपर नक़्क़ाशी का काम ख़ूब होने लगा था। हथियारों की मूठ बहुधा ऐसी ही नक़्क़ाशीदार हड्डी की होती थी।

कर धातुओं के ऐतिहासिक युग में प्रवेश किया। किन्तु ऐतिहासिक काल की संस्कृति हमारे इस लेख से बाहर का विषय है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदि भारत का संस्कृति-केन्द्र, मोहन-जो-दड़ो

श्री सी. आर. राय, एम. ए, बी. एल, क्यूरेटर, विक्टोरिया म्यूज़ियम, कराची

पाठकों ने पांच हज़ार वर्ष पुराने शहर मोहन-जो-दड़ो का नाम सुना ही होगा। कुछ वर्ष हुये यह ज़मीन से खोदकर निकाला गया है। सिन्ध के लरकाना ज़िले के डोकरी नामक स्टेशन से यह शहर आठ मील दूर है। प्रसिद्ध भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता स्वर्गीय राखालदास बैनर्जी ने सबसे पहले सन् १९२२ में इस मोहन-जो-दड़ो का पता लगाया था। तब से सरकारी पुरातत्त्व विभाग ने यहां काफ़ी खुदाई की है। स्वर्गीय बैनर्जी की इस आश्चर्य-जनक खोज ने एक इतनी प्राचीन किन्तु उन्नततर सभ्यता को प्रकाश में ला दिया जिस सभ्यता से वर्त्तमान संसार बिलकुल अनभिज्ञ था।

हममें से हर एक के लिये यह सम्भव नहीं है कि हम केवल खण्डहरों और वहां से प्राप्त पुरातन अवशेषों को देखकर मोहन-जो-दड़ो के निवासियों की संस्कृति और सभ्यता के वास्तविक महत्व को ठीक ठीक समझ सकें। इसका असली महत्व तो तभी हमारी समझ में आ सकेगा जब हम प्राग-ऐतिहासिक काल की पट-भूमिका में मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता को समझें, और इन खुदाई से निकली हुई पुरातन छिन्न भिन्न वस्तुओं का सम्बन्ध मोहन-जो-दड़ो के भूले हुए लोगों के साथ जोड़ें। अक्षर अक्षर जोड़कर मोहन-जो-दड़ो के इतिहास के पुनर्निर्माण की अनेक चेष्टाएं की जा रही हैं और हर रोज़ हमें अतीत की इस झांकी पर नया प्रकाश मिलता है।

मुझे मोहन-जो-दड़ो को खोदने और उसके खण्डहरों का अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपने व्यक्तिगत अनुभव और खोज से और अपने दूसरे साथियों के परिश्रम के परिणामों से इस सम्बन्ध में अब तक जो कुछ मालूम हो सका है उसकी रूप रेखा को पेश करने का मैं यहाँ प्रयत्न करूंगा, ताकि पाठक भारत की इस पुरातन सभ्यता का वास्तविक महत्व ठीक ठीक समझ सकें।

इतिहासज्ञ यह समझते थे कि लगभग चार हज़ार वर्ष पूर्व आर्य जाति भारत में आई; अर्थात् उस समय जबकि लौह युग का प्रारम्भिक काल था, और उन्होंने यहां की असभ्य, काले रंग की, चपटी नाक वाली जंगली जातियों को हरा कर इस देश पर अधिकार कर लिया और आर्यों के आने के पहले यहां ऐसी कोई सभ्यता न थी जिसे सच्चे अर्थों में सभ्यता कहा जा सके। किन्तु अब मोहन-जो-दड़ो के पता लगने पर हमें अपनी इस धारणा को समूल उखाड़ कर फेंक देना होगा। मोहन-जो-दड़ो ने यह साबित कर दिया कि आर्यों के भारत आगमन से बहुत पहले सिन्ध में एक अत्यन्त ऊंची सभ्यता का विस्तार था, जो आर्यों और अपनी समकालीन इलाम, मेसोपोटामिया, बाबुल और मिस्र की सभ्यता से कहीं आगे बढ़ी हुई थी। मोहन-जो-दड़ो की खोज की यही सब में महत्वपूर्ण विशेषता है।

आर्यों के सब से प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में हमें अश्व और लोहे का वर्णन मिलता है। किन्तु मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता में अश्व और लोहे, दोनों का नाम निशान तक नहीं। मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता लौह युग के बहुत पहले से प्रारम्भ हुई, यानी प्रस्तर युग और ताम्र युग के सन्धिकाल में। उस समय प्रस्तर युग समाप्त हो रहा था और ताम्रयुग शुरू हो रहा था। मोहन-जो दड़ो की खुदाई में हमें पत्थर और तांबे दोनों के औज़ार काफ़ी संख्या में मिले हैं।

सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर मोहन-जो-दड़ो के निवासियों ने अपने नगर की बुनियाद डाली।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समानान्तर में बिछी हुई नगर की सीधी चौड़ी सड़कों, गलियों और कूचों को देखकर यह मालूम होता है कि बहुत ही दक्ष इञ्जीनियरों ने इसका नक़्शा तय्यार किया होगा। ये सड़कें और गलियें नगर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैली हुई थीं और इनके दोनों किनारों पर पक्की हुई ईंटों की इमारतें, महल और आलीशान मन्दिर थे। मानव सभ्यता को मोहन-जो-दड़ो की जो सब में बड़ी देन है वह है उसकी सफ़ाई के लिये ज़मीन के नीचे पटी हुई नालियों की पद्धति। उनकी यह नालियों की पद्धति बेहद पेचीदा किन्तु सम्पूर्ण थी और स्वच्छता के दृष्टिकोण से उसमें किसी तरह की कोई कमी न थी।

यहां यह बता देना उपयुक्त होगा कि आजकल भी ऐसे अनेक शहर हैं जहां इतनी अधिक सफ़ाई और नालियों की यह पद्धति नहीं मिलेगी। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि आज से पांच हज़ार वर्ष पहले नालियों की इतनी निर्दोष पद्धति मौजूद थी। इससे यह स्पष्ट है कि मोहन-जो-दड़ो के लोग कितने सभ्य रहे होंगे और उन्हें स्वच्छता का कितना अधिक ज्ञान रहा होगा।

सीधा राज्य शासन के अथवा म्युनिसिपैल्टी के मातहत शहर का प्रबन्ध होता था। लोगों में आपस में प्रेमपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध था। हर नागरिक अपनी संस्कृति को उन्नत बनाने में अपना अपना कर्तव्य निभाता था। अलग अलग काम और अलग अलग धन्धे बंटे हुए थे। व्यापारी, किसान, कसेरे, सुनार, चांदी का काम करने वाले, पत्थर का काम करने वाले; बसोड़, कुम्हार, जुलाहे, कुंजड़े, बढ़ई, मैमार, इमारत बनाने वाले, हाथीदांत और हड्डी का काम करने वाले, शंख और मोती का काम करने वाले, मछिहारे, शिकारी, पुरोहित, शिक्षक, सैनिक, तेली, नाई, भंगी आदि आदि मोहन-जो-दड़ो के कुछ पेशेवर लोग थे। वेश्याएं गाने और नाचने का पेशा करती थीं। मोहन-जो-दड़ो में एक नर्त्तकी की कांसे की मूर्ति मिली है जो नृत्य-अभिनय दिखा रही है।

हर परिवार अलग-अलग घरों में रहता था। हर घर में बहुत से कमरे, ऊंचे-चौड़े दरवाज़े और खिड़कियां होती थीं। हर घर का सदर दरवाज़ा सड़क पर खुलता था। सदर दरवाज़े के पास एक चौड़ा सा कमरा होता था, जहाँ चौकीदार, दरबान या कुली रहते थे। उसके बाद बैठकख़ाना होता था। बैठकख़ाने के बाद स्त्रियों के लिये अन्तःपुर होता था। घरों में अन्तःपुर में सोने का कमरा, रसोईघर आदि होते थे। हर घर में एक कुँआ होता था, जिसका पानी पीने के लिए और दूसरे कामों में इस्तेमाल होता था। दो-मंज़िले मकान भी होते थे। खुदाई से उनकी सीढ़ियों के अवशेष मिले हैं, और ये सीढ़ियां हमारी आजकल की सीढ़ियों से बिलकुल मिलती-जुलती हैं। जैसे ही हम उन मकानों के अन्दर घुसते हैं, हमारे सामने पांच हज़ार वर्ष के अतीत के चित्र आ जाते हैं और हम सोचने लगते हैं कि मोहन-जो-दड़ो के वे प्राचीन निवासी किस प्रकार अपना जीवन बिताते होंगे? इसी खडहर के अन्दर जनता के सुख-दुख, प्रेम और वियोग की कितनी ही कहानियां बिखरी पड़ी होंगी। छोटे छोटे बच्चों का रोना और मुसकराना भी यहां छाया होगा! प्रेमियों का प्रेम-सम्भाषण भी यहां मूक-मौन पड़ा होगा। उस अतीत के इतिहास की साक्षी केवल यह ईंटें और दीवारें रह गई हैं।

एक बड़ा मकान खोदकर निकाला गया है जो समझा जाता है कि राजमहल है। महल के बीच में एक बड़ा सा ऊंचा कमरा है, जिसमें खूब ऊंचे ऊंचे खम्भे हैं। इस बड़े कमरे के चारों तरफ़ पचासों छोटे-छोटे कमरे हैं। बड़े कमरे के पास एक पक्का तालाब है, जिसके चारों तरफ़ बारादरी और कमरे हैं। दो तरफ़ से सीढ़ियां तालाब में उतरती हैं। एक बड़े कमरे से दूसरी गैर बारादरी से। तालाब स्वच्छ और ताजे जल से भरा रहता था। जब उसका पानी गन्दा हो जाता था तो एक बड़ी नाली से बाहर निकाल दिया जाता था। जिस तरह रोम की शाही महिलाएं अन्तःपुर के तालाब में स्नान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किया करती थीं उसी तरह मालूम होता है कि इस महल की महिलाएं भी इसी तालाब में नहाया करती होंगी। इस महल की सबसे अधिक आश्चर्य-जनक बात इसके बड़े-बड़े स्नानागार हैं, जिनकी बहुत सी दीवारें, फ़र्श और नालियां अब तक ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। यह कितनी हैरत की बात है कि जब प्राचीन काल में दुनियाँ के अधिकांश लोगों में असभ्यता का अंधकार छाया हुआ था और उस समय जबकि आजकल की अनेक सभ्य जातियां जंगली हालत में थीं, मोहन-जो-दड़ो के निवासी इतने सभ्य और इतने शीलवान थे कि उन्हें स्नानागार बनाने की बात सूझी। हमने स्वयम् हज़ारों वर्ष बाद स्नानागार में नहाना सीखा है।

हालांकि उस ज़माने के लोगों की पोशाक नष्ट हो गयी है फिर भी थोड़े बहुत जो अवशेष यहां पाये गये हैं, उससे हम उस ज़माने के लोगों की पोशाक का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। मिट्टी के खिलौने और मिट्टी के बरतनों पर बनी हुई चित्रकारी से हमें उस ज़माने के लोगों का रहन सहन मालूम हो सकता है। पुरुष कमर से नीचे धोती पहना करते थे, सिरों पर पगड़ी बांधते थे, बदन में कमीज़ और कोट और पैरों में जूता पहनते थे। स्त्रियां ज़रीदार और कामदार साड़ियाँ, जाकेट और लबादों का इस्तेमाल करती थीं।

इसमें ज़र्रा भर भी संदेह नहीं कि मोहन-जो-दड़ो की स्त्रियां बेहद फैशनेबुल थीं। उनके विविध प्रकार के गहनों और शृङ्गार की वस्तुओं के जो अवशेष पाये गये हैं, वे सब इस बात को साबित करते हैं कि वे तरह-तरह के ज़ेवर कर्णफूल, झूमर, नथ, बाज़ूबन्द, चूड़ियां और बुन्दे आदि पहनती थीं। ये आभूषण सोने, चांदी, काँसे, हाथीदांत और दूसरे क़ीमती जवाहिरातों के बने होते थे। वे कलाई से लेकर कोहनी तक चूड़ियां पहनती थीं। सिन्ध की स्त्रियों में अब तक वही रिवाज पाया जाता है। उनकी जड़ाऊ मेखला सहज ही में दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। नाकों में वे जो नथ पहनती थीं वह एक बारीक सोने की ज़ंजीर से कानों में बँधी रहती थी। इसी तरह की नथ का रिवाज अब तक सिन्ध और बंगाल की स्त्रियों में पाया जाता है। स्त्रियां अपने बालों को वेणियों में सवांरती थीं और इन सब वेणियों का एक जूड़ा बनाती थीं। वे जूड़ों को सोने, चांदी और दूसरी क़ीमती धातुओं के हेयर पिनों से सजाया करती थीं। वे अपनी आंखों में सुरमा या काजल लगाती थीं। वे सीसे का दर्पण और लकड़ी और हाथी दांत की कंघियां इस्तेमाल करती थीं। इस तरह के दर्पण बंगाल में शादियों की रस्म में अब भी इस्तेमाल किये जाते हैं और इस तरह की कंघियां सिन्ध और बंगाल में अब भी पायी जाती हैं।

आज से पांच हज़ार वर्ष पहले के बच्चे हमारे आजकल के बच्चों की तरह ही खिलौने पसन्द करते थे। हम आजकल जिस तरह अपने बच्चों को गुड़ियां और खिलौने देकर प्रसन्न होते हैं वैसे ही मोहन-जो-दड़ो के लोग भी होते थे। खुदाई से जो अवशेष मिले हैं उसमें हमें अनगिनती मिट्टी के खिलौने, गुड़ियां, और तरह तरह के पशु, पक्षी, सांप, स्त्री, पुरुष आदि की मूर्त्तियां मिली हैं। लड़कियों के लिए छोटे-छोटे खाना पकाने के बरतन, जिससे वे खेल सकें, आदि भी वहां मिले हैं। उस ज़माने में भी कलदार खिलौने बनाने का रिवाज था। एक सींग वाला सांड़ मिला है जिसमें चाबी भर देने से वह सिर हिलाने लगता है। पक्षियों से हाँके जाने वाले रथ भी मिले हैं। जिसमें चाबी भर देने से रथ अपने आप चलने लगता है। छोटे-छोटे बच्चों के इस्तेमाल के लिये मिट्टी के बने हुये चमकदार रंगों की चूसनी पाई गई हैं। हमारे आजकल के खिलौनों से ये खिलौने इतने मिलते-जुलते हैं कि जब तक किसी को यह न बताया जाय कि ये पांच हज़ार वर्ष पुराने हैं, तब तक कोई अपने आप इस बात का विश्वास नहीं कर सकता, क्योंकि बिल्कुल उस तरह के खिलौने अब भी बंगाल के गांवों में बनाये जाते हैं। मोहन-जो-दड़ो में पाये गये खिलौनों में एक सीटी है, जो पांच हज़ार वर्ष बीत जाने पर भी वैसी की वैसी ही बनी हुई है। वह मिट्टी की बनी हुई एक मुर्ग़ी की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शक्ल की है। पांच हज़ार साल बाद जब मैंने उसे बजाया तो उसकी आवाज़ में वही पुराना सुरीलापन मौजूद था।

मोहन-जो-दड़ो में जो बरतन इस्तेमाल किए जाते थे, वे सब कुम्हारों के चाक पर बने होते थे। उनके प्रमुख बरतन मर्तबान, प्याले, सुराहियां, गिलास और घड़े आदि थे। ये एक रंग और बहुधा कई रंगों से रंगे जाते थे और उनके ऊपर तरह-तरह की चित्र-कारी बनाई जाती थी। जिस तरह आज चाक पर मिट्टी के बरतन बनाकर भट्टी में पकाने का रिवाज है ठीक उसी तरीक़े से पांच हज़ार साल पहले भी था। सिन्ध और भारत के दूसरे हिस्सों के कुम्हारों में और मोहन-जो-दड़ो के कुम्हारों में इस दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। वे तांबे के बरतनों का भी इस्तेमाल करते थे जिनमें घड़े, लोटे, प्याले, खाना पकाने के बरतन, गिलास, कटोरे आदि थे। तांबे के दूसरे औज़ारों का भी उपयोग होता था जैसे कुल्हाड़ी, बल्लम, छुरे, हथौड़े, उस्तुरे, चाकू, और हाथियों के चलाने के लिए अंकुश आदि। सुइयां और मछली पकड़ने के कांटे हुबहू इसी तरह के होते थे जिस तरह कि आजकल इस्तेमाल किये जाते हैं। एक कामदार लम्बे मुंह का घड़ा पाया गया है, जो कारीगर की कला और लोगों की सुन्दर रुचि का परिचायक है। शंख की बनी हुई चीज़ें भी बहुधा इस्तेमाल की जाती थीं, जैसे चूड़ियां, अंगूठियां, नाक की कीलें और सजावट के सामान। और भी अनेक चीज़ें शंख की बनाई जाती थीं। ढाका और बंगाल में बहुत से शंख के काम करने वाले ठीक उसी प्रकार से शंख की चीज़ें बनाते हैं और ठीक उसी तरह की शंख की चीज़ें बनती हैं जिस तरह आज से पांच हज़ार वर्ष पहले मोहन-जो-दड़ो के कारीगर बनाते थे।

मोहन-जो-दड़ो से जो पुराने अवशेष खोदकर निकाले गये हैं उनमें बहुत सी चीज़ें देखने में नगण्य और बेकार सी लगती हैं। लेकिन यदि हम उन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें तब हमें उनकी वास्तविक क़ीमत का पता चलता है। इस बात का अनुमान करना और सही तख़मीना लगाना कि पांच हज़ार वर्ष पहले पुराने लोगों की संस्कृति कैसी थी, आसान काम नहीं है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि किस वातावरण और किस परिस्थिति में उन्होंने अपनी भौतिक संस्कृति की उन्नति की। यह आज हमारे लिये बहुत सहज है कि हम कहीं अधिक पैने औज़ारों से तरह तरह की चीज़ें बना लें। लेकिन क्या हम इस बात की कल्पना भी कर सकते हैं कि उस ज़माने में पत्थर के बेडौल हथियारों और तांबे के औज़ारों से कलापूर्ण वस्तुएं बनाने का काम कितना मुश्किल रहा होगा। हमारी देह और प्राणों को एक साथ रखने के लिये जीवन की जो आवश्यक वस्तुएं हैं उनका आविष्कार भी उसी ज़माने में हुआ है और आज हम अपने उन पूर्वजों के आविष्कारों के फल का उपभोग कर रहे हैं। हम यह सोच भी नहीं सकते कि इन आविष्कारों में उन्हें कितनी परेशानी उठानी पड़ी होगी। उनकी संस्कृति की छाप ज्यों की त्यों आज तक चली आती है। हम मुशकिल से समझ सकते हैं कि हमारे ऊपर उनका कितना ऋण है।

मोहन-जो-दड़ो के लोग गाय, बैल, भैंस, भेड़, सुअर, हाथी और ऊँट आदि पालते थे। गेहूं बाजरा और कपास की खेती करते थे। सिन्ध आज भी भारतवर्ष में रुई का प्रमुख केन्द्र है। सिन्ध के बैल, गाय अब तक मशहूर हैं। क्या आजकल के रुई उपजाने वाले किसान और रुई के व्यापारी यह कल्पना कर सकते हैं कि वे अपने रुई के धन्धे के लिये मोहन-जो-दड़ो के लोगों के कितने ऋणी हैं? हम अब तक ठीक उसी तरह की बैलगाड़ी, ठीक वैसे ही कुम्हारों के चाक और मिट्टी के बरतन, उसी तरह की नावें, गहने और कपड़ा इस्तेमाल करते हैं कि जिनका प्रारम्भ उस ज़माने के लोगों ने किया था।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों के भोजन में खास चीज़ गेहूँ, बाजरा, चावल, तरकारियां, फल, मूल तरह तरह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के पशु-पक्षियों के मांस जैसे भेड़, बकरी, गाय, सुअर, कछुआ, और बत्तख आदि होते थे। तरह तरह की मछलियां भी रहती थीं। गाय और भैंस का दूध और दूध की बनी हुई अन्य चीज़ें भी बनाई जाती थीं। स्त्रियां खाना बनाने की कला से ख़ूब परिचित थीं। मसाला आजकल की तरह ही सिल पर पीसा जाता था।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों की आमदनी का प्रमुख ज़रिया खेती तथा जल और थल के रास्ते व्यापार था। दुनियां के विविध देशों के साथ उनका वाणिज्य सम्बन्ध क़ायम था। आजकल के सिन्धी व्यापारी अपनी उसी विशेषता को बनाये हुए हैं। ये लोग आजकल की तरह के व्यापारी जहाज़ बनाते थे। ताम्र पत्र के चित्र मिले है जिनको देखने से पता चलता है कि आजकल सिन्ध नदी में कोटरी और हैदराबाद में जो नावें चलती हैं ठीक उसी तरह की नावें उस ज़माने में भी इस्तेमाल की जाती थीं।

बैलगाड़ी ही यातायात का मुख्य साधन था लेकिन लोग रथ, हाथी, भैंसे, बैल, और नावों को भी आने जाने के लिये काम में लाते थे।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों की सील मुहरें (दस्तख़त की मोहरें) देखकर पता चलता है कि वे पढ़े लिखे थे। चूंकि हर घर में इस तरह की सील मुहरें पायी गयी हैं, इससे पता चलता है कि पढ़े-लिखे लोगों की तादाद बहुत ज़्यादा थी। इन सील महरों में तरह तरह की तस्वीरें बनी हुई हैं, जैसे-ब्राह्मणों के नन्दी, हाथी, गैंडे भैंस और एक सींग के जानवर आदि। मोहन-जो-दड़ो की लिपि चित्र-लिपि थी, जिसे पढ़ने में, दुर्भाग्य से, आज तक सफलता नहीं मिली। इस तरह की मुहरें समकालीन मैसोपोटामियां में भी इस्तेमाल की जाती थीं। समझा जाता है कि ये हुंडियों के काम में आती थीं क्योंकि अब तक उनके निश्चित इस्तेमाल की बात मालूम नहीं हो सकी है।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों का धर्म, जहां तक जाना जा सकता है, शिव और दुर्गा की उपासना था। यह अब तक नहीं मालूम हुआ कि मोहन-जो-दड़ो के लोग मृतक व्यक्ति को गाड़ते थे या जलाते थे। खुदाई से खोपड़े और अस्थिपंजर मिले हैं, लेकिन वे स्मशान या कब्रिस्तान में नहीं मिले। ये सड़कों पर और मकानों में पाये गये हैं। मैंने एक कमरे से स्त्री-पुरुष और बच्चों के एक दर्जन अस्थिपंजर खोदकर निकाले हैं। एक लड़की के हाथ का ढांचा अब तक है। उसमें तांबे की चूड़ियां पड़ी हुई हैं और उसके सिर के पास हाथी दांत की कंघी पड़ी हुई थी। हड्डियां थोड़ी थोड़ी जली हुई थीं, इससे मालूम होता है कि मकान में आग लग गई होगी और पूरा परिवार जलकर नष्ट हो गया होगा। इन लोगों के अस्थिपंजरों को देखकर यह कहा जा सकता है कि मोहन-जो-दड़ो के लोग वर्तमान भारत के लोगो से भिन्न नहीं थे। उनकी आकृति आजकल के सिन्धियों, गुजरातियों, मराठों, और बंगालियों से मिलती जुलती थी।

सवाल उठता है मोहन-जो-दड़ो के लोग आख़िर गये कहां और उन्होंने अपना नगर छोड़ क्यों दिया! कुछ लोगों का ख़्याल है कि आर्यों ने उन्हें लड़ाई में हरा दिया और वे अपना नगर छोड़कर कहीं और रहने चले गये। लेकिन यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। मोहन-जो-दड़ो के निवासियों ने सिन्धु नदी की भयानक बाढ़ से परेशान होकर अपना नगर छोड़ दिया। हमें इस बात के निश्चित सबूत मिले हैं कि कई बार वे इस तरह की भयानक बाढ़ों के बाद मोहन-जो-दड़ो वापस लौट कर आये और उन्होंने पुराने खंडहरों पर नयी इमारतों की नींव डाली। किन्तु जब वह बाढ़ से तङ्ग होकर अन्तिम बार भागकर गये तो उसके बाद फिर कभी नहीं लौटे। मालूम होता है कि उन्होंने कोई दूसरा शहर आबाद कर लिया और फिर धीरे धीरे स्वयं सिन्ध से लेकर बंगाल तक फैल गये और अपनी संस्कृति को भी फैलाया।

आधुनिक इतिहासज्ञों का यह कहना है कि आर्य लोगों की दो जातियां भारत में आकर बसीं। एक तो लम्बे सिर वाले आर्य, जिनके नमूने हमें पंजाबियों,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाटों और अफ़ग़ानों में मिलते हैं और जिस श्रेणी में भारत के ऋषि लोग भी थे। दूसरे वे ऊँचे मस्तक वाले लोग हैं जिनके नमूने हमें सिन्धी; गुजरातियों, मराठों और बंगालियों में मिलते हैं। यही लोग भारतवर्ष में पहले आये और इन्होंने ही सिन्ध की उपत्यका को आबाद किया। सम्भवतः यही लोग मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता के संस्थापक थे।

मोहन-जो-दड़ो की संस्कृति और भारत की आज-कल की संस्कृति पर एक दृष्टि डालते हुए हम इस आश्चर्यजनक नतीजे पर पहुंचते हैं कि न तो मोहन-जो-दड़ो के लोग ही नष्ट हुए हैं और न उनकी संस्कृति ही नष्ट हुई है। मोहन-जो-दड़ो निवासी और उनकी पुरातन संस्कृति हमें आज भी भारत के विविध भागों में दिखाई देती है। आर्यों और पुरातन आर्यों के समन्वय से एक नयी सभ्यता का जन्म हुआ जिसे हम हिन्दू सभ्यता कहते हैं। मोहन-जो-दड़ो की संस्कृति को हम अपने भारतीय संस्कृति के इतिहास की आदि-स्रोत कह सकते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वैदिक-संस्कृति के सात महान सन्देश

डाक्टर ए. सी. दास, एम. ए., पी-एच. डी.

वैदिक संस्कृति को ठीक-ठीक समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसकी अन्तर्निहित भावनाओं को और उसके संदेशों को पहले समझ लें। वेद का सबसे पहला संदेश है कि आर्य संस्कृति शुद्ध भारतीय संस्कृति है। उसने पञ्जाब में जन्म लिया और अन्य भारतीय संस्कृतियों की अपेक्षा वह सबसे पुरानी है। भारत ही प्राचीन देशवासियों की सभ्यता का उत्पत्तिस्थल है। यहीं हमारे पूर्वजों ने जन्म लिया और हज़ारों वर्ष तक इस सभ्यता के निर्माण में उन्होंने अकथनीय प्रयत्न किये। उन्होंने अपनी तपस्या से इस तरह की सभ्यता निर्माण की जो अपने दृष्टिकोण में उदार और सारी मानवता के कल्याण की भावना की द्योतक है। पश्चात्त्य विद्वान् अपनी अनिश्चित खोज के आधार पर वैदिक सभ्यता को दो हज़ार ईसा पूर्व से पहले का नहीं मानते। किन्तु ऋग्वेद का गम्भीर अध्ययन हमें यह विश्वास करा देता है कि उनका यह अन्दाज़ बिल्कुल ग़लत है। ऋग्वेद के अन्दर इस बात के अनेकों प्रमाण मिलते हैं, जो इसे स्पष्ट करते हैं कि वैदिक संस्कृति अति प्राचीन है। वेदों के मंत्रों से हमें पता चलता है कि जिस ज़माने में ऋग्वेद की ऋचाएं लिखी गयीं, उस समय उत्तर भारत की भौगोलिक स्थिति दूसरे तरह की थी। ऋग्वेद के काल में सरस्वती और शतद्रु नदियां सीधे समुद्र में गिरती थीं। उस समय समुद्र पञ्जाब के ठीक दक्षिण में था जहां पर आजकल राजपूताना है।*

ऋग्वेद के अन्दर हमें और भी ऐसी ऐतिहासिक सामग्री मिली है, जिससे हमें प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में अपनी धारणा और अपने विचार बदलने पड़ेंगे। हमें यह मानना पड़ेगा कि हमारे पूर्वज अनन्तकाल से इसी मनोरम भूमि में पैदा हुए, पनपे और यहीं उन्होंने अपनी संस्कृति और सभ्यता का संगठन किया। यह उस ज़माने की बात है जबकि संसार की दूसरी प्रचलित सभ्यताएं जिनका आज नाम और निशान तक मिट गया, उस समय अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थीं। हमारी इस पुण्यभूमि का ज़र्रा ज़र्रा हमारे महान पूर्वजों के चरणों से पवित्र किया हुआ है। यही भूमि हमारे पूर्वजों की मातृभूमि है और यहीं हमारे पूर्वजों ने जन्म लिया और उन्नति की।

वेद का दूसरा महान संदेश

वेद का दूसरा महान सन्देश है कि हमारे पूर्वज एक संगठित जाति थे। आजकल की तरह उनका समाज असंख्य जातियों में बँटा हुआ न था। उनमें आपस के खान-पान में और शादी-ब्याह में कोई प्रतिबंध न था। ऋग्वेद की रचना को हम तीन महाकालों में बांट सकते हैं। इनमें तीसरे काल के अन्त में, दसवें मंडल में, केवल एक मंत्र ऐसा मिलता है, जिसमें चातुर्वर्ण्य का ज़िक्र है।* अनेक भाष्यकारों ने यह कहा है कि यह मंत्र बाद में जोड़ दिया गया। लेकिन मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता। इस मंत्र से यह साबित होता है कि धीरे-धीरे भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का विकास हो रहा था। किन्तु यह वर्ण व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर प्रारम्भ हुई थी। कहीं भी इस बात का कोई सबूत नहीं मिलता कि जाति-पांति का बन्धन वैदिक काल में इतना ही कठोर था जितना आजकल है। उस समय कोई भी

* ऋग्वेद ७,९५,२;३,३३,२

* ऋग्वेद १०,९०;१२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐसा प्रतिबन्ध न था जिसके अनुसार एक वर्ण के व्यक्ति दूसरे वर्ण में शामिल न हो सकें। उस समय भिन्न भिन्न जातियाँ भिन्न-भिन्न कर्म-वर्ग थीं और उनमें आपस में अन्तर्जातीय खान-पान और अन्तर्जातीय विवाहों का कोई बन्धन न था।

वैदिक काल में आर्यों की केवल एक ही जाति थी और बाद में उस एक जाति से गुण कर्म के अनुसार चार वर्ण निकले। प्रारम्भिक वैदिक काल में कोई जाति-पांति न थी। जब पहले पहल वर्ण व्यवस्था बनी तो वह बहुत ही लचीली थी। किसी एक वर्ण के लोग किसी दूसरे वर्ण में शामिल हो सकते थे। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उस ज़माने में आपस के खान-पान में कोई बन्धन था। केवल ऐसे लोग जो गन्दा काम करते थे उनके ऊपर कुछ पाबन्दी लगा दी गयी थीं। किन्तु वह पाबन्दियां ऐसी नहीं थीं कि जिससे गन्दा काम करने वालों को हरिजन कहा जा सके। महाभारत में हमें एक ऐसे व्याध का नाम मिलता है जो धर्म-व्याध कहलाता था और जिससे अनेक धर्म-परायण ब्राह्मणों ने जाकर गुरु-दीक्षा ली थी। वैश्य तुलाधार भी ब्राह्मणों के आध्यात्मिक गुरु थे। इस बात से पता चलता है कि जाति-पांति का भेद-भाव प्राचीन भारत में नहीं था और ऋग्वेद के काल में तो था ही नहीं। आर्य लोग उदार वृत्ति के संगठित और आत्मनिर्भर मनुष्य थे।

वेद का तीसरा महान संदेश

वेद का तीसरा महान संदेश है कि स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार थे। वैदिक काल में आर्य स्त्रियों का पद अत्यन्त उच्च था। बालविवाह का उस समय नाम निशान न था। लड़कियां जवान होने तक अपने पिता के ही घर में रहती थीं और उसके बाद उन्हें अपने लिये पति चुनने का पूरा अधिकार था। गृहिणी की हैसियत से वह अपने घर की स्वामिनी होती थीं। नौकर-चाकरों पर उन्हें पूरा अधिकार होता था। वे अपने पति के साथ नित्य यज्ञ, हवन करती थीं और देवता और पित्रों की पूजा करती थीं। उनके पति, उनकी संतान और उनके आत्मीय उनका आदर करते थे। स्त्रियां भी ऋषियों का पद प्राप्त कर सकती थीं। घोषा, लोप मुद्रा और विश्ववरा इसकी उदाहरण हैं। इन्होंने वैदिक मन्त्रों की रचना की है। विश्ववरा ने यज्ञ में होत्री का पद तक ग्रहण किया था। वैदिककाल की शक्तिदात्री, उदार स्त्रियां शक्तिशाली और उदार सन्तानों की जननी थीं। प्राचीन भारत कमज़ोर और कायरों का देश नहीं था। ऋषि तक ऐसी सन्तानों की कामना करते थे, जो धैर्यवान, वीर्यवान और बलशाली हों, जो युद्ध क्षेत्र में हर्ष के साथ अपने शत्रुओं का मुक़ाबला करें[1]। जननी ही अपनी सन्तानों के दिमाग़ों को ढालती थीं। वे उनमें वीरता, सच्चाई और निर्भयता के भाव भरती थीं[2]। वैदिक काल में स्त्रियां श्रेष्ठ सामाजिक और राजनैतिक विचारों से पूर्ण थीं।

वेद का चौथा महान संदेश

वेद का चौथा महान सन्देश है कि हमारे पूर्वज जनतंत्रात्मक विचारों के थे। स्वेच्छाचारी शासक और महन्तों का उनपर कोई असर नहीं था। वे अपने शासन-विधान को स्वयम् ही निर्मित करते थे। वे अपना राजा स्वयम् ही चुनते थे और इस तरह के राजा और प्रतिनिधि पंचायत द्वारा चलने वाली सरकार को वह खुशी से राज-कर देते थे। जब शासक अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं करते थे तो जनता उन्हें कर देना बन्द कर देती थी। जनता को अत्याचारी राजा को गद्दी से उतार देने तक का पूरा अधिकार था। हमारे अंग्रेज़ शासक यह बात बराबर हमारे कानों में डालते रहते हैं कि भारतीय जनता के अन्दर जनतंत्रात्मक प्रवृत्ति तो कभी थी ही नहीं, और सबसे पहले अंग्रेज़ों ने ही इस तरह का शासन-विधान भारतभूमि में प्रचलित किया। वे हमसे यह कहते रहते हैं कि अभी हम लोगों को युगों तक अपने अंगरेज़ महाप्रभुओं

१—ऋग्वेद ५.२३.१.२;६,३१,१
२—ऋग्वेद ३,४,३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के संरक्षण में जनतन्त्रात्मक शासन की शिक्षा लेनी पड़ेगी। हमारा यह कहना है और यह मैं निःसंकोच भाव से कह रहा हूं कि अंगरेज़ों के इस थोथे दावे को वैदिक इतिहास सम्पूर्णतः ग़लत साबित करता है। वैदिक साहित्य का मनन करने से यह पता चलता है कि भारतीय आर्य जाति के अन्दर जनतन्त्रात्मक प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी थी। यह हो सकता है कि विपरीत अवस्था में उन्होंने कुछ काल के लिये अपनी इस प्रवृत्ति को थोड़ी देर के लिये भले ही दबाया हो।

वेद का पांचवां महान सन्देश

वेद का पांचवां महान सन्देश यह है कि हम स्वयम् अपने नैतिक और आध्यात्मिक बल से उन्नति कर सकते हैं और अपनी इस उन्नति के सन्देश को संसार की अन्य मानव जातियों के निकट पहुंचा सकते हैं। हमारी इसी सन्देश-भावना से भारत के एक वृहत् संस्करण विशाल-भारत का निर्माण हुआ। केवल वैदिक काल में ही नहीं उसके बाद के बौद्ध काल में भी बौद्ध प्रचारकों ने भारत के बाहर जाकर संसार के कोने-कोने में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। ऋग्वैदिक काल में आर्य व्यापारी अपने तिजारती जहाज़ों पर माल लादकर उस समय की दुनिया के सभ्य देशों में जाते थे। ऋग्वेद में इस बात की चर्चा है कि किस तरह हमारे यह प्राचीन व्यापारी बाहर के देशों से धन धान्य लाकर अपने देश को समृद्ध बनाते और भारत से अपनी महान् संस्कृति ले जाकर मैसोपोटामिया, फ़ोनीसिया और मिस्र आदि देशों में उसका प्रचार करते थे। प्रोफ़ैसर निलसन ने नार्वे में पाये गये कुछ अवशेषों के आधार पर इस बात का पता लगाया है कि प्राचीन काल में कुछ भारतीय व्यापारियों ने नार्वे जाकर वहां एक अत्यन्त उन्नत सभ्यता को जन्म दिया। प्रोफ़ेसर निलसन को निश्चय है कि वे व्यापारी भारतीय ही थे।* इस बात के निश्चित सबूत मिलते हैं कि भारतीय व्यापारी चीन, जापान और अमरीका तक जाते थे। भारतीय व्यापारियों ने भिन्न-भिन्न देशों में अपने उपनिवेश क़ायम किये। उन्होंने जगह जगह जाकर महलों, इमारतों और मन्दिरों का निर्माण किया। जावा, सुमात्रा, चंपा और पश्चिम एशिया के कुछ हिस्सों में आर्य सभ्यता के असंख्य प्रमाण बिखरे हुए पड़े हैं। हमारी इस सन्देशवाहकता और प्रचार-भावना को सबसे बड़ा धक्का उस समय लगा जब आर्य जातियों ने अपना जातीय संगठन संकुचित और अनुदार बना लिया। उन्होंने स्वयम् अपना एक बड़ा अंग अंत्यज कहकर काट दिया। सारा देश जाति-पांति के झूठे भेदों से टुकड़े टुकड़े हो गया। हर जाति और हर वर्ग एक दूसरे से अलग और स्वाधीन हो गया। इन सब बातों की वजह से कोई मिलाने वाली दृढ़ कड़ी न रह गयी। हम यहीं पर नहीं रुके। हमने आर्यों की चार जातियों को भी अनेक वर्गों और उपवर्गों में बांट दिया। हर वर्ग एक दूसरे से स्वाधीन और अलग हो गया। अन्तर जातीय विवाह और खान-पान के सारे संबन्ध टूट गये। भेद भाव का यह चक्र निरन्तर उग्रता से घूमता गया और हर एक के कन्धों पर ब्राह्मणों की नैतिक दासता लाद दी गयी। भारतीय सभ्यता एक ग़ुलाम सभ्यता बनकर रह गयी। हमारी इसी जातीय कमज़ोरी ने नैतिक ग़ुलामी का दुर्ग-द्वार खोल दिया। आज परिणाम स्वरूप हमें अपने इस महान् और प्राचीन देश का समस्त ऐश्वर्य और गौरव धूल में पड़ा लोटता दिखायी दे रहा है। आज सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक अधःपतन के बीच में से हम निकल रहे हैं। हम अपने को अशक्त और हतवीर्य पा रहे हैं। सभ्यता की दौड़ में हमारा कर्तव्य क्या है, हम इसे स्वयम् नहीं समझ पा रहे हैं। किन्तु यह निश्चित है कि हम उस समय तक स्वाधीन राष्ट्र नहीं बन सकते, जब तक हम अपने अन्दर के इस जातीय भेद-भाव को सर्वथा नष्ट नहीं कर देते; ऐसे भेद और उपभेद जिन्होंने प्रत्येक वर्गों को और सम्प्रदायों को क्षीण कर दिया है और हमें मानसिक और शारीरिक ग़ुलामी के बन्धनों में जकड़ दिया है।

* Pre Historic Times, PP. 77-71.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेद का छठवां महान सन्देश

वेद का छठवां सन्देश है कि भारत एक किसान देश है। यदि हमें राष्ट्र की हैसियत से उन्नति करना है तो हमें खेती को अमित प्रोत्साहन देना होगा। हमें अपने अर्थशास्त्र की धुरी अब शहरों से हटाकर गावों में बनानी होगी। आर्थिक दृष्टि से हमें अपने गाँवों को प्रोत्साहन देना होगा। हर आवश्यक वस्तु को, यहां तक कि अपने पहनने के कपड़ों को भी, हमें गावों में बनाना पड़ेगा। वैदिक आर्य एक किसान जाति थे। झुण्ड की झुण्ड गायें उनके पास थीं, जो उनकी सबसे बड़ी सम्पत्ति थीं। वे अपनी आवश्यकता की हर वस्तु को स्वयम् तैयार करते थे। यूँ तो कहने के लिए हम गो माता (गभि-माता या गभि-देवता) के परम भक्त हैं, किन्तु वास्तव में वर्तमान सभ्य संसार में गो माता का हमसे अधिक भयानक शत्रु कोई नहीं है। खेती, गो-पालन और ग्रामोन्नति प्राचीन पूर्वजों के प्रमुख धन्धे थे। किन्तु अपनी मानसिक ग़ुलामी के दिनों में हमने अपने यही तीनों धन्धे अपढ़ और निपट मूर्ख मनुष्यों के हवाले कर दिये हैं। और इसका परिणाम यह हुआ कि हम राष्ट्र की हैसियत से नंगे, भूखे और अशक्त हो गये। हमें अपनी इस मानसिक ग़ुलामी से ऊपर उठना होगा और फिर से हलधर बनना होगा। जाति-पांति के झूठे भेदों को भुलाकर हलों को हाथ में उठाना होगा और अपनी गायों की नस्ल को बढ़िया बनाना होगा। हमें अपने उन आर्य पूर्वजों की करुण भावनाओं को ध्यान में रखना होगा कि जिन्होंने अनेक मंत्रों में अपने पशुओं को देवता के सदृश्य माना है।* हमें वेद के महान् मंत्रों को अपने दिल में बैठा लेना चाहिए और बहैसियत एक किसान राष्ट्र के यदि हमें जीवित रहना है और उन्नति करना है तो हमें वेद के इस महान संदेश को हर तरह से व्यवहार में लाना होगा।

वेद का सातवां महान सन्देश

वेद का सातवां महान संदेश यह है कि यदि हमें ब्रह्म से साक्षात्कार करना है तो हमें सबसे पहले आत्मदर्शन करना होगा, अपने आपको जानना होगा। जब हम अपने आप को जान लेंगे उस समय पूरी तौर से यह बात हमारी नज़रों में आजायेगी कि जो ब्रह्म आत्म-घट में है, वही ब्रह्म समस्त मानवता के घट-घट में विराजमान् है। फिर हमारी नज़रों के सामने मानव संसार एक महान कुटुम्ब की तरह दिखाई देगा। हम न केवल बुद्धिवादी दर्शन-शास्त्री ही रहेंगे, बल्कि अपने नैतिक आदर्शों को व्यावहारिक रूप भी दे सकेंगे। सारा मानव समाज हमारे लिए एक वर्ग होगा और हम साम्प्रदायिक नीति और धार्मिक भेद भाव से ऊपर उठकर न केवल मनुष्यों में बल्कि प्राणिमात्र के अन्दर अपने ही रूप को देखेंगे और इस तरह हम अपने उन दिव्य ऋषियों के महान संदेश का, जिसे आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने दुहराया था, फिर से प्रचार करेंगे। यह वह सन्देश है जिसे प्राप्त करने के लिए भारतीय आत्मा आज व्याकुल और बेचैन है। यही भारतीय संस्कृति का मूल-मंत्र है और यही वेदों के समस्त अन्य संदेशों से महान् सन्देश है! आज सारी दुनियां इसी सन्देश को सुनने के लिए लालायित है। क्या हम दुनियां के कोने-कोने तक इस संदेश को पहुंचाकर सन्तप्त मानवता को सुख और आनन्द पहुँचा सकेंगे?

मानव जाति आज अपने स्वार्थों में अनुरक्त होकर ख़ूंख़ार जंगली जानवरों की तरह एक दूसरे को निगलने के घृणित काम में लगी हुई है। यदि हमें फिर से विश्व-गुरु का पद स्वीकार करना है, कि जिस पद पर हमारे पूर्वज हज़ारों वर्ष तक योग्यता पूर्वक आसीन रहे, तो हमें दीर्घ काल तक आत्मत्याग और कठोर अनुशासन के बीच से निकलना पड़ेगा। मानव कल्याण के लिए हमें बड़े से बड़े त्याग के लिए तैयार होना होगा। क्या हम वर्तमान सन्तप्त और पीड़ित संसार में भारतीय संस्कृति के इस महान सन्देश के प्रचार की ज़िम्मेवारी ले सकेंगे?

* ऋग्वेद ६,२८.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन

डाक्टर देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर, एम. ए., पी-एच. डी., डि. लिट्, एफ़. ए. एस. बी.

पच्चीस तीस वर्ष पूर्व स्वर्गीय ए० एम० टी० जेक्सन ने हमारा ध्यान हिन्दू धर्म के आकर्षक तत्वों की ओर दिलाया था कि किस तरह मुसलमानों और यूरोपियनों को छोड़कर हिन्दू धर्म ने प्रत्येक विदेशी आक्रामक को अपनी संहति में शामिल करके उन्हें अपने में घुला मिला लिया। श्री जेक्सन लिखते हैं: "वे भारतीय अपने देश को वास्तव में बहुत थोड़ा जानते हैं, जो इस बात को नहीं समझते कि किस तरह उनकी सभ्यता ने मध्य एशिया की जंगली जातियों को इतना शिक्षित और सभ्य बनाया कि ख़ूंख़ार तुर्कोमन क़बीलों की बहुत सी शाखाएं अनेक प्रख्यात हिन्दू राजपूत कुलों में परिवर्तित होगईं।" श्री जेक्सन की इस राय पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अब हम यह जान गये हैं कि मुसलमानों के आने के पूर्व जितनी भी विदेशी जातियां भारत में आईं उन सबों ने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया। न केवल शक, पह्लव, हूण, गुर्जर और अन्य जंगली जातियों ने ही हिन्दू धर्म को स्वीकार किया, बल्कि सभ्य यवनों और ग्रीकों ने भी हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म के सामने नम्रता से सिर झुकाया। वे न केवल एक या दूसरे हिन्दू सम्प्रदाय में दीक्षित हुए, बल्कि उन्होंने अपने नामों को भी भारतीय नामों में बदल लिया। हालाकि भारतवर्ष अपने आप एक महाद्वीप है फिर भी यह देखकर आश्चर्य होता है कि हिन्दू संस्कृति भारतवर्ष की सीमाओं से बाहर निकलकर अन्य देशों में भी ख़ूब फैली। भारतीय सभ्यता की लहरें सीमा-बन्धनों को तोड़कर पूर्व एशिया में तिब्बत, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, बाली आदि में फैल गयीं। तिब्बत, चीन और जापान ने न सिर्फ़ बौद्ध धर्म को ही स्वीकार किया, बल्कि उन्होंने बौद्ध दर्शन को भी अपने जीवन में उतार लिया। जैसे जैसे हम हिन्दुस्तान से दक्षिण की ओर जाते हैं हम देखते हैं, कि अनेक देशों के नाम तक मूल संस्कृत नाम हैं, जैसे ब्रह्मा—ब्रह्मदेश, कम्बोडिया—कम्बोज और जावा—यव। यही नहीं स्याम की पुरानी राजधानी का नाम अयोध्या था और अनाम देश में चम्पा नामक स्थान था। इन देशों में बहुत से शिलालेख और मूर्त्तियां मिली हैं, जिनसे हम यह निश्चित नतीजा निकाल सकते हैं कि इस देश में जो धर्म, राजनीति और सामाजिक संस्थाएं प्रचलित थीं, वे ख़ास तौर पर भारतीय थीं। जो कैफ़ियत पूर्व-उत्तर और दक्षिण-उत्तर की थी, वही भारत के पश्चिम-उत्तर में भी थी। सर आरेल स्टीन ने चीन के दक्षिण और खोतान में जो खुदाई की है, उसमें इस तरह के, निजी और सरकारी, सैकड़ों उल्लेख मिले हैं। और यह उल्लेख हमें क्या बताते हैं? निस्सन्देह यहां जो धर्म प्रचलित था वह तो बौद्ध धर्म था ही, किन्तु इन अवशेषों को देखकर यह पता चलता है कि इन देशों के लोगों ने और भी अनेक बातें भारत से सीखी हैं। लिखावट में जो लिपि इस्तेमाल की गयी है, वह भारतीय खरोष्टि लिपि है। उन उल्लेखों की भाषा उस प्राकृत की तरह है, जो ईस्वी सदी के शुरू में भारत में प्रचलित थी। इस तरह पता चलता है कि खोतान के लोगों ने हज़ारों वर्ष पूर्व न केवल भाषा और लिपि का ही भारत से क़र्ज़ा लिया, वरन् धर्म और संस्कृति का भी। प्राचीन भारतीय न केवल उपनिवेश बसाते गये, बल्कि उन्होंने भारत के धर्म और उसकी संस्कृति का भी उन देशों में प्रचार किया। भारतवासी एशियाई देशों के शिक्षक और गुरू भी थे।

प्राचीन भारतीय संस्कृति

यदि शुरू-शुरू में भारतवासी एशिया की सभ्यता के निर्माता थे, तो निस्सन्देह उन्होंने अपनी संस्कृति और अपने साहित्य को बहुत ऊंचा उठाया होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यूरोपियन लेखक प्रोफ़ेसर हीरेन प्राचीन भारतीयों को "कवि" कहता है। एक दूसरा यूरोपियन विद्वान मैक्समूलर भारत को 'दर्शन शास्त्र का देश" कहता है। एक तीसरा ब्राउन कहता है कि "भारत संसार के साहित्य और धर्म का आदि-पूर्वज है।" प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अनेक बातों की यूरोपीय विद्वानों ने प्रशंसा की है। भारतीयों की कल्पना-शक्ति की क्षमता ने उन्हें मूक बना दिया है। हम यहां पर प्राचीन भारतीय संस्कृति की थोड़ी सी बातों पर ग़ौर करेंगे, जिनके सम्बन्ध में अंगरेज़ राजनीतिज्ञ और यूरोपियन विद्वानों ने कुछ कहा है और जिनका हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों की कविताओं से सम्बन्ध है। माउण्ट स्टुअर्ट एलफ़िंस्टन कहता है "कि जिन लोगों ने मूल संस्कृत में उन कविताओं का अध्ययन किया है, उनकी प्रशंसा का कोई पार नहीं। इन कविताओं के सौन्दर्य ने हम में से उन लोगों को और भी अधिक आकर्षित किया है, जो स्वयम् कलाकार थे। उनकी प्रशंसा केवल उन टीकाकारों तक ही सीमित नहीं है, जिन्होंने ख़ासतौर पर भारतीय साहित्य का अध्ययन किया है। मिल मेन, विलसन और जोन्स से भी बढ़कर भारतीय साहित्य के प्रसंशक मौजूद हैं।"

डाक्टर अल्फ्रेड रसल चार्ल्स जैसा योग्य वैज्ञानिक, जो डारविन का समकालीन और उसका योग्यतम सहयोगी था, कहता है—"मैंने अभी महाभारत का अध्ययन समाप्त किया है, जो सचमुच बड़ा ही सुन्दर ग्रंथ है और मेरी समझ में तो इलियट से कहीं ज़्यादा सुन्दर है।" अंगरेज़ दार्शनिक हरबर्ट स्पेन्सर इलियट की इसलिये निन्दा करता है कि इलियट के विषय-तत्त्व निरन्तर पाशविक भावनाओं को प्रोत्साहन देते हैं और पढ़नेवाले के मन में ख़ूंखार प्रवृत्तियां जगाते हैं। मानियर विलियम्स कहता है—"भारत का यह महाकाव्य महाभारत मनुष्य को 'होमर' से कहीं अधिक ऊंचे पैराये पर उठाता है। रामायण और महाभारत का युद्ध-क्षेत्र क्रूरताओं और बर्बरता से निकृष्ट नहीं बनाया गया। अयोध्या और लंका के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्पार्टा और ट्राय के मुक़ाबिले में ये जगहें सुरुचि और समृद्धि में कहीं बढ़ी चढ़ी थीं।"

जहां तक संस्कृत का सम्बन्ध है, हममें से बहुत से लोग जानते हैं कि जर्मन कवि गेटे ने जब कालिदास कृत शकुन्तला नाटक का जर्मन अनुवाद पढ़ा, तो वह प्रसन्नता से भर गया और गाने लगा:—

हे नवयुवती सुन्दरी, क्या तुम अपने ही यौवन-भार से जर्जरित हो उठोगी?

क्या तुम उन सब गुणों से प्रभावित होगी जिनसे आत्मा उत्फुल होती है?

क्या तुम पृथ्वी या आकाश के समन्वय से बनी हो?

शकुन्तला का नाम लेते ही ये सारे भाव मेरी कल्पना में छा जाते हैं!

कालिदास की इस अमर रचना ने गेटे के दिमाग़ पर इतना गहरा और ज़बरदस्त असर डाला कि कहा जाता है कि शकुन्तला नाटक ने ही उसे अपने 'फ़ास्ट' की बहुत कुछ कल्पना दी। कालिदास के समस्त नाटक और शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक थोड़े से परिवर्तनों के साथ यूरोपीय रंगमंच पर खेला गया और बेशुमार जनता ने उसकी प्रशंसा की। संस्कृत कविता के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर मेकडोनल का यह वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—"जो लोग संस्कृत से पूरी तरह परिचित हैं वही प्राचीन संस्कृत साहित्य को पूरी तरह समझ सकते हैं। मेरा परिचित एक प्रसिद्ध यूरोपियन विद्वान् है, जिसे संस्कृत को छोड़ कर अन्य किसी भाषा के साहित्य में आनन्द ही नहीं मिलता।" पंचतंत्र और हितोपदेश की ही बात को ले लीजिये जिसका इंग्लिस्तान में काफी अध्ययन किया जाता है; उस इंग्लिस्तान में जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह बहुत गद्यात्मक है। इन संस्कृत ग्रन्थों में अत्यन्त मूल्यवान् और सुभाषित श्लोक हैं। इनमें से एक श्लोक का जिसमें नश्वर जीवन का वर्णन है, अंग्रेज़ी अनुवाद इस प्रकार है—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

"महा सागर की लहरों में तैरते हुए लकड़ी के दो लट्ठे आकर मिले और थोड़ी देर मिलकर हमेशा के लिए अलग होगये। मानव देहधारियों का मिलन भी ऐसा ही क्षणिक है।"

कौन कह सकता था कि ये पंक्तियां एक अंगरेज़ कवि पर बेहद असर डालेंगी ? फिर भी हम देखते हैं कि मैथ्यु अर्नाल्ड ने ठीक इसी तरह के विचार प्रगट किये हैं। अपनी कविता 'दि टीरेस ऐट बर्न' में उसने इसी तरह की मार्मिक पंक्तियां लिखी हैं—

"अनन्त समुद्र की सतह पर जिस तरह दो लकड़ियों के लट्ठे मिलकर अलग हो जाते हैं, उसी तरह इस जीवन समुद्र में मनुष्य मनुष्य से मिलता है—मिलता है, फिर बिछुड़ जाता है।"

हिन्दू दर्शन शास्त्र के सम्बन्ध में प्रोफ़ैसर वेबर कहता है—"इस क्षेत्र में और व्याकरण के क्षेत्र में भारतीय मस्तिष्क ने अपने अनन्त ज्ञान का परिचय दिया है।" हिन्दू दर्शन शास्त्रों का आधार उपनिषद और भगवद्गीता हैं। जर्मन विद्वान् शोपनहायर लिखता है—" उपनिषद मनुष्य के धार्मिक अभिज्ञान का सबसे बहुमूल्य वर्णन है। इन सुन्दर रचनाओं ने मुझे यहूदी कर्मकाण्डों और बन्धनों से मुक्त कर दिया। सारी पृथ्वी में उपनिषदों से बढ़कर सुन्दर और उन्नत बनाने वाला कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। मुझे अपने जीवन में इससे बहुत संतोष मिला है और इसीसे मुझे मृत्यु में भी संतोष मिलेगा।" यह कहना व्यर्थ है कि शोपनहायर वर्तमान समय का एक सौम्य और महान दार्शनिक तत्ववेत्ता था और जब शोपनहायर ऐसा व्यक्ति उपनिषदों के सम्बन्ध में यह कहता है कि "इससे मुझे जीवन में शान्ति मिली है और इसी से मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी" तो यह स्पष्ट है कि वह इन हिन्दू ग्रन्थों को दूसरे ग्रन्थों से, यहां तक कि ईसाई ग्रन्थों से भी ऊपर रखता है। हिन्दू धर्म शास्त्र का दूसरा मूल स्रोत गीता है, जिसे सन् १८७५ ई० में पहले पहल चार्ल्स विल्किन्स ने अँगरेज़ी में अनुवाद किया। अब तो अनेक यूरोपीय भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है और सारा संसार श्रद्धा और आदर के साथ इस ग्रन्थ को देखता है। यही नहीं बल्कि गीता इस समय विश्व-साहित्य का एक अंग बन गयी है। चार्ल्स विल्किन्स के अनुवाद की भूमिका में वारेन हेस्टिंग्ज़ का एक पत्र है। वारेन हेस्टिंग्ज़ अपने पत्र में लिखता है "जब कि भारतवर्ष में ब्रिटिश हुकूमत समाप्त हो जायेगी और भारतीय ब्रिटिश सत्ता केवल एक यादगार की चीज़ रह जायेगी, तब भी श्री मद्-भगवद्गीता सुरक्षित रहेगी और इसी प्रकार कोटि कोटि मनुष्यों को सान्त्वना देती रहेगी।" दर्शन-विज्ञान, उपनिषदों और भगवद्गीता का पूर्ण प्रकाश पाकर भारतवासी वेदान्त के अन्दर अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचते हैं। वेदान्त के सम्बन्ध में मैक्स-मूलर लिखता है "यदि दर्शन मनुष्य की सुखद मृत्यु के लिये एक तैयारी है, तो मैं वेदान्त से उपयुक्त कोई दूसरी तैयारी नहीं जानता।" न केवल भारतीय दर्शन और महाकाव्य ही यूरोपीय मस्तिष्क पर व्यापक प्रभाव डाल रहे हैं, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति भी हर पहलू से वर्तमान यूरोपीय दुनिया पर अपना नैतिक प्रभाव डालकर उसे दूसरे सांचे में ढालने में मदद दे रही है। प्रोफ़ैसर मेकडोनल ठीक ही कहते हैं "भारतीय संस्कृति और संस्कृत साहित्य के प्रति यूरोप का नैतिक क़र्ज़ा सचमुच बहुत अधिक है।" सन् १८८० में जब मैक्समूलर कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय में भारत के सम्बन्ध में व्याख्यान दे रहे थे, तो उन्होंने कहा था—"अपने विशेष अध्ययन के लिये हम ज्ञान के चाहे जिस अंग को लें, चाहे वह साहित्य हो या धर्म, व्याकरण हो या दर्शन व्यवस्था हो या कर्मकाण्ड, हर बात के योग्यतम ज्ञान के लिये हमें भारत की ही शरण में जाना पड़ेगा। चाहे हम इसे पसन्द करें, या न करें लेकिन मानव ज्ञान की सब में बहुमूल्य सामग्री केवल भारतवर्ष में प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अन्दर ही ख़ज़ाने की तरह भरी हुई है।"

भाषा की ही बात लीजिये। भाषा-विज्ञान के वर्तमान जन्म-दाता प्रोफ़ैसर बॉफ़ संस्कृत के सम्बन्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में कहते हैं, "संस्कृत, ग्रीक और लैटिन से कहीं ज़्यादा अधिक समृद्ध और सम्पूर्ण है और दोनों से कहीं अधिक उत्कृष्ट और वागीश है।" व्याकरण के सम्बन्ध में मैक्समूलर कहता है, "मैं चुनौती देता हूं कि कोई भी व्यक्ति मुझे कहीं भी भाषा के इतने व्यापक समुच्चय और शब्दों का इतना स्पष्ट वर्गीकरण निकाल कर दिखादे जितना कि पाणिनि के सूत्र में है।" इसीलिये इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा-विज्ञान के समुचित अध्ययन के लिये संस्कृत भाषा का ज्ञान कितना जरूरी है, और इस दृष्टि से भाषा शास्त्री पाणिनि के सब से अधिक ऋणी हैं। मैक्समूलर यही कहता है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिये संस्कृत उतनी ही जरूरी है जितनी ज्योतिष के अध्ययन के लिये गणित।" एक दूसरा जर्मन विद्वान् कहता है—"मेरे इस कथन का हेल्म हाज या एलिस खंडन नहीं करेंगे कि संस्कृत ही दुनियां के भाषा-विज्ञान की सर्वोच्च प्रतिनिधि है।" भारत में पांचवीं सदी ईसा पूर्व में वैज्ञानिकों ने भाषा-तत्त्व की जो व्याख्या की है, उससे अधिक व्यापक व्याख्या आज तक किसी ने नहीं की। यही बात पौराणिक इतिहास और धर्म के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। एक दूसरा यूरोपीय विद्वान् लिखता है कि—"होमर की कविता का आधार वैदिक उपाख्यान हैं।" धर्म के सम्बन्ध में यही विद्वान कहता है—"भारत की धर्म पुस्तकें धर्म के मूल भूत सिद्धान्तों के अध्ययन के लिये प्रोत्साहन देती हैं।"

भारत की आदि-संस्कृति का केन्द्रः मोहन-जो-दड़ो

भारतीय संस्कृति के दूसरे युग की बात छेड़ने के पूर्व संक्षेप में मैं सिन्धु की सभ्यता के सम्बन्ध में भी थोड़ी सी बात कहूंगा। स्वर्गीय राखाल दास बैनर्जी के प्रयत्नों से मोहन-जो-दड़ो में जो कुछ खोजें की गई हैं वे न केवल यही स्पष्ट करती हैं कि भारतीय सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है, बल्कि यह भी बताती हैं कि विश्व-संस्कृति को गौरवमय शिखर तक पहुँचाने में भारत ने कितना महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है। मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता की एक जो सब में महत्व-पूर्ण और आश्चर्यजनक खोज है, वह यह है कि भारत की सभ्यता आर्यों के भारत आगमन के बाद से ही नहीं शुरू हुई। विद्वानों में यह ग़लतफ़हमी थी कि आर्यों के आक्रमण के बाद ही भारतीय सभ्यता की नींव रखी गई। इस का सप्रमाण खण्डन सर जान मार्शल, राय बहादुर चन्द्रा, डाक्टर स्टेला क्रैमरिश और श्री अतुलकुमार सूर ने किया है। यह बात पूरी तरह साबित हो गयी है कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में आर्यों ने जितना हिस्सा लिया है, मोहन-जो-दड़ो के निवासियों ने उससे किसी तरह कम हिस्सा नहीं लिया। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि बाद के हिन्दुओं के धार्मिक रस्म रिवाज और ऋग्वेद के आर्यों के धार्मिक रस्म-रिवाज में बहुत अधिक अन्तर पड़ गया है। लेकिन मोहन-जो-दड़ो के धार्मिक विश्वासों और बाद के हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों में बेहद समता और सादृश्यता पाई जाती है। भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत यही मोहन-जो-दड़ो है, जिसे सारी दुनिया आज विस्मय से देख रही है।

मध्यकालीन भारत का इतिहास

भारतीय इतिहास का दूसरा दौर उस समय शुरू होता है, जब इसलाम धर्मावलम्बियों के हमले प्रारम्भ हुये। यह दौर निश्चित रूप से सन् ११९१ से शुरू होता है, जब तराइन की दूसरी लड़ाई में शहाबुद्दीन ग़ोरी से हार कर पृथ्वीराज मारा गया। इसके पहले अनेक विदेशी जातियां भारत में आईं; लेकिन उन्होंने यहां आकर हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया। किन्तु मुसलमानों के भारत आने के समय हिन्दू धर्म एक पतित अवस्था से गुज़र रहा था। वह सैकड़ों कर्मकाण्डों और रूढ़ियों से भरा हुआ एक निर्जीव धर्म रह गया था। असंख्य अनार्य देवी, देवताओं की पूजा और उपासना ही उस समय के हिन्दू धर्म का मुख्य आधार था। ईसाई धर्म की तरह इसलाम भी अपने स्वर्ण-युग में प्राचीन हिन्दू धर्म की ही तरह निर्मल और उदार था। इसलिये ये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मुसलमान अथवा बाद के ईसाई आक्रामक उस समय के हिन्दू धर्म की ओर उस तरह से आकर्षित न हुये, जिस तरह कि यवन ईस्वी सदी के पहले बौद्ध धर्म और वैष्णव धर्म की ओर आकर्षित हुए थे। जब भारतीय इतिहास का यह दूसरा युग शुरू हुआ उस समय भारत का सारा वातावरण युद्ध और घेरों, गुप्त मंत्रणाओं और षड्यंत्रों, घृणा और धर्मान्धता, क्रूरता और रक्तपात से भरा हुआ था। किन्तु हमारी क्षमता और कार्यशीलता ने हमें इन्हीं पतित बातों में पड़ा न रहने दिया। धीरे धीरे प्रेम-बन्धन, भ्रातृ-भाव, विश्वास, मित्रता और स्नेह की भावनाएं जाग्रत हुई; उन्होंने जड़ पकड़ी और सभ्यता की निर्मल धारा पूर्व वेग के साथ फिर से बहनी शुरू हुई। हमारे इतिहासज्ञ न तो इस पृष्ठ-भूमि पर ही विचार करते हैं, न सांस्कृतिक समन्वय के इस सुन्दर रूप को ही महत्त्व देते हैं। इसलिये भारतीय इतिहास का यह मध्य काल ग़लत बयानियों और ग़लत नतीजों से भरा हुआ है। इस सम्बन्ध में इतिहास की चर्चा करते हुए जब हम वर्त्तमान इतिहासज्ञों को देखते हैं, तो हमें उनके ग्रन्थों में यही मिलता है कि अमुक मुसलमान शासक ने लोगों पर हर तरह की क्रूरता और बर्बरता की। वे हमें बताते हैं कि उस समय के मुसलमान शासक मूर्तिध्वंसक थे, मूर्तिपूजक नहीं। मेरी नज़रों से जो विद्वान् गुज़रे हैं, उनमें बहुत थोड़ों ने इस विषय में पक्षपात से ऊपर उठकर घटनाओं का निष्पक्ष प्रतिपादन किया है। श्री अतुलानन्द चक्रवर्ती ने "कलचरल फ़ेलोशिप इन इण्डिया" में सुन्दरता के साथ हिन्दू-मुसलिम मेल की भावना का दिग्दर्शन कराया है और साबित किया है कि भारतीय जनता की इस असीम अनैक्यता के पीछे किस तरह एक मौलिक एकता काम कर रही थी, जिस पर किसी तरह के राजनैतिक मतभेद कोई स्थायी असर नहीं डाल सके। इन मुसलमान आक्रामकों को हमने हिन्दू धर्म का शत्रु कहकर उनके साथ बेहद अन्याय किया गया है। हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म को न तो वे मिटा सकते थे और न उसके मिटाने की वे बात ही सोच सकते थे। मैंने यही बात बहुत पहले अपनी पुस्तक "स्लो प्रोग्रेस आफ़ इसलाम" में विस्तार से कही है। मेरी इस युक्ति का प्रतिपादन एक अनपेक्षित क्षेत्र से भी हुआ है, यानी "केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इण्डिया", भाग ३; पृष्ठ ८८-८९ में भी हमें नीचे लिखी बातें पढ़ने को मिलती हैं—

"मुसलिम इतिहासकारों ने अपनी मध्यकालीन विजयों के सम्बन्ध में, बग़ावतों को दबाने, क़िलों को फ़तह करने, गांव और शहरों को जलाने, ज़िलों के ज़िले मिटाने, मन्दिरों को तोड़ने और मूर्तियों को बर्बाद करने, काफ़िरों को जहन्नुम भेजने, और हज़ारों स्त्रियों और बच्चों को ग़ुलाम बनाने के जो बेतुके गीत गाये हैं, उनसे हमें यह धोखा हो सकता है कि उत्तर भारत का शुरू का मुसलिम आक्रमण इसलाम के प्रचार और मूर्तिपूजा के नष्ट करने के लिये एक धर्म-युद्ध था। और हम इस बात पर विश्वास भी कर लेते यदि हमारे पास इन लनतरानियों के विरुद्ध गम्भीर सुबूत न होते। मूर्तिध्वंसक महमूद ग़ज़नवी की सेना में हिन्दू घुड़सवारों की एक ज़बर्दस्त पल्टन थी। महमूद के लड़के मसूद ने अपने मुसलमान अफ़सरों को ख़ास तौर पर ताक़ीद की थी कि वे उसकी हिन्दू प्रजा की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँचाने की कोई छोटी सी बात भी न करें। यही नहीं उसने अहमद नियल्तगीन की बग़ावत दबाने का भार हिन्दू सेनापति तिलक के सुपुर्द किया। तिलक ने मुसलमान विद्रोहियों को जो अङ्ग-भङ्ग की सज़ा दी थी उसका भी मसूद ने समर्थन किया। उसने तिलक को अपने ऊंचे से ऊंचे मुसलमान उमराओं के बराबर रुतबा और ओहदा दिया। मुइज़्ज़ुद्दीन मुहम्मद ने लाहौर के मुसलमान शासक ख़ुसरो मलिक के ख़िलाफ़ जम्मू के हिन्दू राजा का साथ दिया और अपने सिक्कों पर उसने संस्कृत श्लोक ढलवाये। महमूद से लगाकर हिन्दुस्तान के हर मुसलमान शासक ने अपने स्वार्थ के लिये यही किया है। उन्होंने हिन्दू राजाओं और ज़मींदारों से संधि करके उन्हें अपना मनसबदार बनाया है और उनके पूर्वजों की रियासत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर उन्हें क़ाबिज़ रहने दिया है। कहा जाता है कि १४ वीं सदी के आख़ीर में तैमूर के भारत आक्रमण का एक बहाना यह भी था कि यहां के मुसलमान शासक हिन्दू धर्म के प्रति प्रेम और उदारता बरतते थे। मुसलमानों की संख्या को देखते हुए उनका हित भी इसी में था कि वे इसके अतिरिक्त कोई दूसरी बात न करते।"

इसी तरह का धार्मिक विद्वेष समकालीन और वर्तमान भारतीय लेखकों में भी पाया जाता है।

हिन्दू मुसलिम विचार-धारा का सांस्कृतिक समन्वय

हिन्दू मुसलमानों के सांस्कृतिक समन्वय के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। यहां मैं इसके विस्तार में नहीं जाना चाहता। इस बात का इशारा कर देना ही काफ़ी है कि आपस के मेल जोल और सम्बन्ध से एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को मानने वाले अनेक पन्थ और सम्प्रदाय पैदा हुए, जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे। ये सम्प्रदाय हिन्दू धर्म और इसलाम के सर्वोत्तम सिद्धान्तों के आधार पर क़ायम हुए। गुरु नानक ने अपना प्रचार इसी वाक्य के साथ शुरू किया—

"ना हम हिन्दू ना मूसलमान"

दूसरे सन्त प्रचारक दादू थे जो एक हिन्दू धुनिये थे। दादू के प्रमुख शिष्य रजब नामक एक मुसलमान थे। रजब ने कहा है—"सृष्टि वेद है और सृष्टि-रचना क़ुरान है।" वास्तव में मध्य-युग के सन्तों का यह आन्दोलन जनता का आन्दोलन था। जनता ने देख लिया था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के मौलिक सिद्धान्त एक ही हैं और जनता ने बग़ैर मुल्लाओं और पंडितों की परवाह किये अपने लिये मुक्ति का समन्वयात्मक मार्ग निकाल लिया। जनता में एक दूसरे के धर्म की अच्छी बातों को स्वीकार करने की उदार भावना थी। इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिणाम सारे भारत पर बहुत सुन्दर पड़ा। सबसे पहले बङ्गाल को ही लीजिये कि वहां किस तरह हिन्दू और मुसलमानों में सांस्कृतिक समन्वय हुआ। "बेशुमार मुसलमान हिन्दू मन्दिरों में पूजा करते थे और हिन्दू मुसलमानों की मसजिदों में सिन्नी चढ़ाते थे। सौ वर्ष पूर्व टिपरा ज़िले के रहने वाले मिरज़ा हुसेन अली ने माँ काली की प्रशंसा में अनेक गीत रचे। यही नहीं वह अपने घर में बड़ी धूम धाम से काली की पूजा करते थे। ढाका के रहने वाले एक दूसरे मुसलमान उमरा ग़रीब हुसेन चौधरी सीतला देवी के परम भक्त थे। हिन्दू मुसलमान पीरों और औलियों के नाम पर अपने नाम रखते थे और उसी तरह मुसलमान हिन्दू देवी देवताओं के नाम से पुकारे जाते थे।" स्वर्गीय मौलाना मज़हरुल हक़ ने एक बार कहा था—

"जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन के हर क्षेत्र में मुसलमान जितने कर्मकाण्ड और रीति रिवाज बरतते हैं वे सब मौलिक रूप से हिन्दू हैं। मुसलिम घरों में बच्चों के जन्म के समय जो गीत गाये जाते हैं, उनमें श्रीकृष्ण का नाम काफ़ी आता है। मुसलमानों के शादी ब्याह के रीति रिवाज अधिकांश में हिन्दू हैं और मुसलमान औरतें ख़ास तौर पर इन रिवाजों के मानने पर ज़ोर देती हैं। मांग का सिन्दूर और भाल का टीका ये दोनों हिन्दू चीज़ें मुसलमान औरतों ने अपना ली हैं।"

मौलाना मज़हरुलहक़ ने आगे लिखा है कि उन्होंने अपने बचपन में मोहर्रम के दिनों में करबला की शहादत के मरसिये सुनकर हिन्दुओं को ज़ार ज़ार रोते देखा है। हिन्दुओं को हुसेन की शहादत की घटना सुनकर किसी भी शिया से कम दुःख न होता था। बङ्गाल के हिन्दू और मुसलमानों ने एक दूसरे पर इतना ज़बर्दस्त असर डाला कि दोनों ने परम पिता परमात्मा को एक नये नाम से याद करना शुरू किया। परमात्मा का यह नया नाम था—'सत्यपीर'। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि गौड़ का सम्राट हुसेन शाह इस 'सत्यपीर' पन्थ का जन्मदाता था और उसी के उदाहरण को लेकर हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर सत्यपीर की पूजा करने लगे थे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सांस्कृतिक समन्वय की वर्तमान लहर

अब हम भारत के इतिहास के तीसरे दौर यानी वर्तमान युग पर ज़रा गौर करें। यह दौर यूरोपीय और भारतीय सत्ता के संघर्ष के साथ शुरू हुआ। भारतीय सर ज़मीन पर विविध यूरोपीय राष्ट्रों ने अपने अपने लोभ का भयंकर प्रदर्शन शुरू किया। इस काल के प्रारम्भ में भारत ईर्षा, लोभ, लूट, अत्याचार और क्रूरता का अखाड़ा बन गया। यूरोपीय देशों की यह आपसी स्पर्धा अंगरेज़ी हुकूमत क़ायम होने के साथ समाप्त हुई। अंगरेज़ों के सम्पर्क से भारतवासियों को यह चिन्ता हो गई कि भारतीय संस्कृति के अंगरेज़ों के सम्पर्क में आकर नष्ट हो जाने की ही सम्भावना है। अंगरेज़ों की लाई हुई पाश्चात्य संस्कृति के आवेग से भारतीय संस्कृति के हर क्षेत्र पर असर पड़ना स्वाभाविक था। किन्तु भारतीय संस्कृति को पूरा अवसर नहीं दिया गया। भारतीय संस्कृति तो गंगा की सदा बहने वाली धारा के समान है। १३,८०० फुट ऊंची गंगोत्री से निकलकर और अपने मूल स्रोत से १५५७ मील बहकर गंगा समुद्र में गिरती हैं। बीच में असंख्य नदियां उसमें आकर मिलती हैं; किन्तु फिर भी गंगा का व्यक्तित्व और अस्तित्व ज्यों का त्यों क़ायम रहता है। यही हाल भारतीय संस्कृति की अक्षय धारा का है। युगों के दौर में उसमें अनेक संस्कृतियां आकर मिलीं। किन्तु भारतीय संस्कृति ने उन सब संस्कृतियों को अपने अन्दर खपाकर एक देह में लीन कर लिया और अपना भारतीय स्वरूप ज्यों का त्यों क़ायम रखा। भारत के प्रत्येक विश्वविद्यालय को इस भारतीय संस्कृति का अध्ययन आवश्यक कर देना चाहिये। इम्तहानों में इसके क्रमानुसार परचे होने चाहियें। इसके लिये यह आवश्यक है कि शान्त और निष्पक्ष भाव से कोर्स की पुस्तकें लिखी जांय। जब भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण रूप को विश्वविद्यालय के प्रत्येक विद्यार्थियों के सामने प्रकाश में लाया जायगा, तब वह पाश्चात्य संस्कृति के साथ उसकी तुलना कर सकेगा। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार से भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक भावना पाश्चात्य संस्कृति की अच्छी अच्छी बातें लेकर उन्हें अपनी संस्कृति में घुला मिला लेगी।

भारत की समाज-व्यवस्था एक क्रान्ति के बीच से गुज़र रही है। अछूतों की ही समस्या को ले लीजिये। मैं भारतीय संस्कृति और सभ्यता का बड़ा ज़बर्दस्त भक्त हूं। किन्तु मैं यह कहने से नहीं रुक सकता कि हिन्दू धर्म के ऊपर दो बातें भयंकर कलंक की तरह हैं—(१) अस्पृश्यता और (२) जाति-भेद। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आने के बाद भी बहुत कम हिन्दू ऐसे हैं, जिनके दिल में इन दोनों कलंकों के धोने की बात उठती हो। पश्चिम के संसर्ग में आकर हम राजनैतिक क्षेत्र में जनतन्त्रवाद की बात कहने लगे हैं। किन्तु भारत एक देश नहीं है बल्कि यूरोप की तरह विविध जातियों में बंटा हुआ, विविध धर्मों, के मानने वालों और विविध भाषाओं के बोलनेवालों का एक सामूहिक राष्ट्र है, जहां विविध वर्गों के एक दूसरे से विरोधी हित हैं। इन सब को एक राष्ट्र बनाने की चेष्टा तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक हम समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति के महत्व को पूरी तरह न समझ लें।

—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आर्य संस्कृति के मौलिक सिद्धान्त

श्री कन्हैयालाल एम. मुन्शी एम. ए., बी. एल., भू. पू. गृहमंत्री, बम्बई

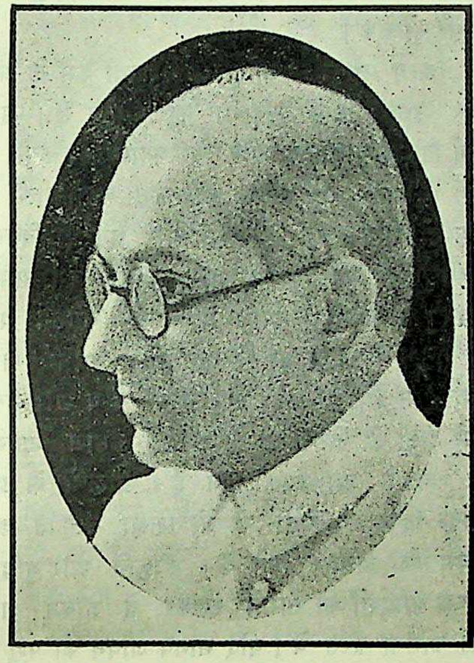

श्री कन्हैयालाल एम. मुन्शी

वर्षों से मैंने इस बात की कोशिश की है कि मैं समझ सकूं कि आर्य संस्कृति का वास्तविक अर्थ क्या है ? प्राचीन आर्य अपनी संस्कृति को 'धर्म' कहकर पुकारते थे। उनके इस धर्म शब्द के अन्दर उनका विश्वास, जीवन का मूल्याङ्कन, उनके आदर्श और कर्म आदि सब का निचोड़ शामिल था। इसी धर्म के अन्दर उनका साहित्य, और उनका काव्य भी था। ग़रज़ यह कि ज़िन्दगी में जो कुछ सर्वोत्तम है, इस धर्म शब्द के अन्दर आ जाता था।

जहां तक आर्य सभ्यता का सम्बन्ध है वहां तक उसका ताल्लुक़ एक जाति विशेष से है, किन्तु जब हम आर्य संस्कृति की बात करते हैं, तो उसका किसी ख़ास जाति से या ब्राह्मणों के किसी ख़ास वर्ग से सम्बन्ध न था। हम कह सकते हैं कि आज भारतवर्ष के ब्राह्मणों के रक्त में कितना ही द्रविड़ रक्त बह रहा है। भारतीय ऋषियों में हमें अनेक अनार्यों के नाम भी मिलते हैं। आर्य धर्म का संस्थापन और उसका प्रचार जिन लोगों ने किया है, उनमें अनेक ऐसे व्यक्ति भी थे, जो सांस्कृतिक दृष्टि से महान थे किन्तु अपने मिश्रित रक्त के कारण वे आर्य नहीं कहे जा सकते।

आज संस्कृति शब्द के सम्बन्ध में अनेक ग़लत धारणाएं प्रचलित हैं। बहुत से लोग संस्कृति को सामाजिक व्यवस्था के साथ मिलाकर देखते हैं। सामाजिक संस्थायें समय पाकर प्राणहीन हो जाती हैं, किन्तु वह संस्कृति ही है जो संस्थाओं को विकसित और उन्नति करने में मदद देती है। संस्कृति जीवन के उन समतोलों का नाम है, जो मनुष्य के अन्दर व्यवहार, ज्ञान और विवेक पैदा करते हैं। वह उनके सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती है और उनकी संस्थाओं को चलाती है; वह उनके साहित्य और उनकी भाषा को बनाती है; वह उनके जीवन के आदर्श उनके जीवन के सिद्धान्तों को प्रकाश देती है। वह समाज के भावनात्मक और आदर्श विचारों के बीच में निहित होती है, जो समाज और व्यक्ति को महत्त्व देते हैं। समतोलों को स्वीकार कर जब समाज सहस्रों वर्ष तक चलता है, तब संस्कृति महान रूप लेती है ! वह साध्य नहीं साधन है। वह जीवन का उद्देश्य और जीवन का लक्ष्य है।

आर्य संस्कृति का सब में आवश्यक सिद्धान्त है—उसकी सामाजिक जीवन प्रणाली। आर्यों में कुलपति का बेहद महत्व था। आर्य लोग स्त्रियों के पद को भी इसलिये बेहद महत्व देते थे, ताकि उनके रक्त और उनकी संस्कृति की पवित्रता क़ायम रहे।

आर्यों की सामाजिक व्यवस्था की उन्नति में आर्य संस्कृति की कुछ ख़ास बातें महत्व रखती हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वे ये हैं—(अ) कुटुम्ब में पिता की महत्ता को न केवल आदर दिखाकर ही स्वीकार किया जाता है, बल्कि वैदिक या पौराणिक काल से लेकर कुटुम्ब के समस्त पूर्वजों की पूजा की जाती है। हर धार्मिक कर्म-काण्ड में तीन पीढ़ियों तक के पूर्वजों को शामिल किया जाता है (ब) मां (पत्नी) और पिता (पति) में कोई भेद भाव नहीं किया जाता। उनकी सत्ता पूर्ण और अविच्छिन्न मानी जाती है।

बहुत से प्राचीन देशों में, यानी रोम और यूनान में भी इनमें से बहुत सी बातें स्वीकार कर ली गयी थीं, किन्तु भारत में इन उपरोक्त विचारों का धार्मिक कर्मकाण्ड, रूढ़ियों और धार्मिक विश्वासों के ऊपर भी प्रभाव पड़ा। इन्हीं दो विश्वासों का मेल करके प्रत्येक आर्य अपने पूर्वजों और अपने उत्तराधिकारियों के प्रति जीवन्त एकता स्थापित कर लेता है। जैसे ही लड़का पैदा हुआ वह कुल और गोत्र के समूह में शामिल हो जाता है। हर स्त्री अपने पति के साथ अविच्छिन्न एकता में बंध जाती है। वह न केवल वीर प्रसविनी ही थी, वरन् अपने स्वसुर-गृह की लक्ष्मी थी। पाराक्षर सूत्र के अनुसार वह अपने पति की सांस के साथ अपनी सांस, उसकी हड्डी के साथ अपनी हड्डी और उसके मांस के साथ अपने मांस को एक करती है।

इस तरह आर्य संस्कृति ने कुलों का निर्माण किया, गृहस्थ जीवन को सांचे में ढाला और व्यक्ति का एक सामूहिक रूप दिया। मनुष्य केवल एक व्यक्ति है। अपनी इच्छाशक्ति से उसने अपने को उस कुल का एक अङ्ग बना लिया है, जिसका संस्थापक अनादिकाल का कोई पूर्वज था। स्त्रियों का भी अलग व्यक्तित्व है किन्तु कुल में पदार्पण करते ही वे अपने पति की अर्द्धांगिनी बन जाती हैं। सीता और सावित्री केवल पौराणिक उपाख्यान नहीं हैं, वह जीवित सिद्धान्त हैं, जिनके सम्बन्ध में करोड़ों स्त्रियां दिन में सोचती हैं, रात में उन्हीं का सपना देखती हैं और जीवन में उनके आदर्श की चिन्तना करती हैं कि कब वह उनकी तरह अपने पतियों में व्यापक रूप से मिलकर एक हो जायेंगी ? इस तरह वेदों की शिक्षा के आधार पर अनन्त पीढ़ियों तक उनका सांस्कृतिक सम्बन्ध क़ायम रहता है। समाज के प्रति व्यक्तियों के इस अटूट सम्बन्ध के कारण समय के घातक हमले भारत की समाज-व्यवस्था को कोई नुक़सान न पहुंचा सके।

आर्य संस्कृति की दूसरी विशेषता कर्म के अनुसार उसकी वर्ण व्यवस्था का संगठन है। पहला वर्ग विद्वान् बुद्धिमान और चरित्रवान व्यक्तियों का वर्ग है। दूसरा वर्ग संगठन, और रक्षा करने वालों का वर्ग है। तीसरा वर्ग उत्पादन और धन के वितरण करने वालों का वर्ग है और चौथा वर्ग समाज सेवकों का वर्ग है। समाज में सम्पूर्ण संगठन था। हर मनुष्य समझता था कि वह अपना 'स्वधर्म' लेकर पैदा हुआ है। 'स्वधर्म' से उसकी रुचि और उसके कर्म दोनों का बोध होता है। यह समाज व्यवस्था का सब में आवश्यक अंग है। ब्राह्मणों के प्रति आदर दिखाया जाता था जो शिक्षा, संस्कृति और संयम के आगार होते थे। संस्कृति और बुद्धि के उच्च आदर्शों को सामने रखकर वे जीवन यापन की कामना करते थे। यदि मानव जीवन को पशु की स्थिति में नहीं पहुंचाना है, तो समाज में इस तरह के मानवों के वर्ग को प्रधानता मिलनी ही चाहिए। हमारी वर्ण-व्यवस्था में प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्ग पर निर्भर था। एक वर्ग दूसरे वर्ग से लाभ उठाता था। एक वर्ग दूसरे वर्ग को नष्ट करने की बात न सोचता था। इस वर्ण व्यवस्था के सभी वर्गों को स्वतन्त्र उन्नति का मौक़ा दिया गया, किन्तु यह अधिकार नहीं दिया गया कि वह वर्ण व्यवस्था को ही नुक़सान पहुँचा सकें।

यही वर्णाश्रम का ज़ाहिरा अर्थ था। किन्तु इस अर्थ के पीछे कुछ दूसरा गहरा अर्थ भी था। चारों जातियां एक दूसरे के ऊपर निर्भर और एक समान समाज की विविध अंग थीं। इन्हीं चारों जातियों के सहयोग से समाज की कल्पना की गयी थी, ऐसा समाज जो धर्म से प्रोत्साहन लेता था और धर्म

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही जिसका स्वयम् नियंत्रण करता था। आर्य संस्कृति का दूसरा मुख्य सिद्धान्त था आर्यावर्त के प्रति अडिग विश्वास। आर्यों ने सदा अपने देश को श्रद्धा और आदर से देखा है। उन्होंने उन लोगों का सम्मान किया है, जिन्होंने अपने देश की अखंडता बनाये रखने के लिये अपने को बलिदान किया। वेद ही आर्य जाति के ज्ञान और बुद्धि का आदि स्रोत है, इस विश्वास ने आर्यों के इतिहास को पुरातन की भावना दी है।

आर्य संस्कृति की दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु है संस्कृत साहित्य। संस्कृत न केवल शब्दविन्यास और साहित्य-सौन्दर्य की दृष्टि से ही एक उच्चतम भाषा है, बल्कि वह आर्य जाति के सांस्कृतिक आदर्शों का साकार रूप है। वह प्रत्येक सांस्कृतिक आर्य के हृदय और मस्तिष्क में 'आर्यावर्त' को गद्य और पद्य में अंकित कर देती है।

आर्य संस्कृति के इन समस्त आवश्यक तत्त्वों में मुख्य बात यह नहीं है कि व्यक्ति जिस कुल, जिस वर्ग जिस देश और जिस भाषा के बीच में पैदा हुआ उसको केवल स्वीकार कर ले, बल्कि वह अपने प्रयत्नों और अपनी कल्पना शक्ति से अपना कुल, अपना वर्ण और अपने आर्यावर्त्त को अपने जीवन में उतारे। आर्य धर्म के अन्दर जितने भी विविध विश्वासों, विविध सम्प्रदायों और विविध मतों का समावेश है, उन सब के अन्दर एक मौलिक सत्य दिखाई देता है। वह सत्य यह है कि जीवन 'जो कुछ है' वही नहीं है, बल्कि 'जो कुछ बनाया जा सकता है' वह है, और बनाया जा सकता है कुछ परिस्थितियों के कारण नहीं बल्कि अपने प्रयत्न और अपनी इच्छा शक्ति से। यही भावना आर्य संस्कृति के अन्दर व्यक्ति को मौलिक महत्त्व देती है। व्यक्ति समाज, देश और समाज व्यवस्था से भी कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण और वास्तविक बन जाता है। समाज व्यवस्था और राष्ट्र तो व्यक्ति की ही दृढ़ इच्छा शक्ति के मूर्तमान परिणाम हैं। व्यक्ति से ही उन्हें जीवन-शक्ति और प्रेरणा मिलती है।

यह 'कुछ होने की इच्छा' आर्य संस्कृति का प्रमुख विश्वास है। व्यक्ति अपनी सतत चेष्टा से अपनी कल्पना और भावना को मूर्त्त रूप देता है। वह अपने दृढ़ संकल्प से 'कुछ अधिक बनने' की इच्छा को पूरा करता है।

चूंकि विचार ही सृष्टि के जनक हैं, इसीलिये उपरोक्त भावना का मूल आधार विचार-शक्ति ही है। जब व्यक्ति की कल्पना और इच्छा में संघर्ष होता है, तो कल्पना विजयी होती है। कल्पना ही के सहारे मनुष्य जो कुछ चाहता है उसका करना सहज होता है। कल्पना ही मनुष्य को शक्ति और उत्पादक प्रेरणा देती है। जब मनुष्य किसी वस्तु की ठीक-ठीक कल्पना कर लेता है, तभी वह उसको मूर्त्त रूप दे सकता है, क्योंकि उस समय उसकी कल्पना और इच्छा-शक्ति एक रूप होती हैं। जब इच्छा-शक्ति प्रोत्साहित-कल्पना के सामने समर्पण करती है, तब कल्पना निरंतर रूप से किसी विशेष उद्देश्य की ओर प्रेरित होती है। उस समय वह इतनी मूर्त्तरूप हो उठती है कि उद्देश्य की प्राप्ति बहुत सहज हो जाती है।

किन्तु आर्य-संस्कृति जहां एक ओर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए निरन्तर कर्म करने का आदेश देती है, वहां वह मनुष्य के सामने एक दूसरा आदर्श भी रखती है। वे आदर्श नैतिक आदर्श हैं।

ये नैतिक आदर्श हमारे सांस्कृतिक जीवन के महाव्रत हैं। सामान्यतया वे ये हैं—अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, आवश्यकता से अधिक अपने ऊपर व्यय न करना और अपरिग्रही रहना। यदि एक व्यक्ति अपने मन-क्रम-वचन से अहिंसात्मक है, तब वह अपने चारों ओर प्रेम का वातावरण पैदा कर देता है और इस प्रेम से वह मनुष्य और पशु सब को प्रभावित कर लेता है।

यदि कोई व्यक्ति सत्य का पालन करता है तो उसके कर्म उसको तुरन्त फल देते हैं। सत्य केवल घटनाओं की वास्तविकता का नाम नहीं है, वह तो मन-क्रम-वचन में सामंजस्य पैदा करना है। केवल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्य ही हमें सुन्दर ध्येय तक पहुँचा सकता है। सत्य के पालन से मनुष्य अपनी आत्मा की पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

यही हाल चोरी न करने के महाव्रत का है। यह एक सच्चाई है कि जब मनुष्य धन की परवाह नहीं करता, तो धन उसके क़दमों पर लोटता है। जब मनुष्य अपने ऊपर कम से कम व्यय करता है, तो अपने अन्दर एक अमित शक्ति को अनुभव करता है। जब वह चीज़ों से मोह छोड़ देता है, तभी वह अपने जीवन का सचा मूल्य आँक सकता है तभी वह अपने जीवन का महत्व समझ सकता है; और जीवन के उद्देश्य को भी देख सकता है। यही आर्य संस्कृति का नैतिक आदर्श है। जब तक व्यक्ति इस नैतिक आदर्श का पूरा पूरा पालन नहीं करता, तब तक उसकी आत्मा पूर्णत्व प्राप्त नहीं कर सकती।

प्रश्न उठता है कि आख़िर जीवन है क्या? उसका उद्देश्य और उसका अन्त है क्या? आर्य-संस्कृति जीवन को अनन्त समझती है। इन्ही महाव्रतों के सहारे व्यक्ति अनन्त पथ पर चल सकता है, तभी जीवन को कष्ट और दुःख के बन्धनों से छुटकारा दिला सकता है और तभी वह परमानन्द को पा सकता है। इन्हीं महाव्रतों के सहारे वह अपनी भौतिक अवस्था से ऊपर उठकर जीवन के उस पार की वस्तुओं को देख सकता है। आर्य संस्कृति भौतिक शक्तियों को जीवन के महान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग करती है। यही भारत के अनन्त जीवन का महान रहस्य है। यही भौतिक शक्ति के ऊपर आत्मा की विजय है और यही मानवता के कल्याण की एक मात्र आशा है।

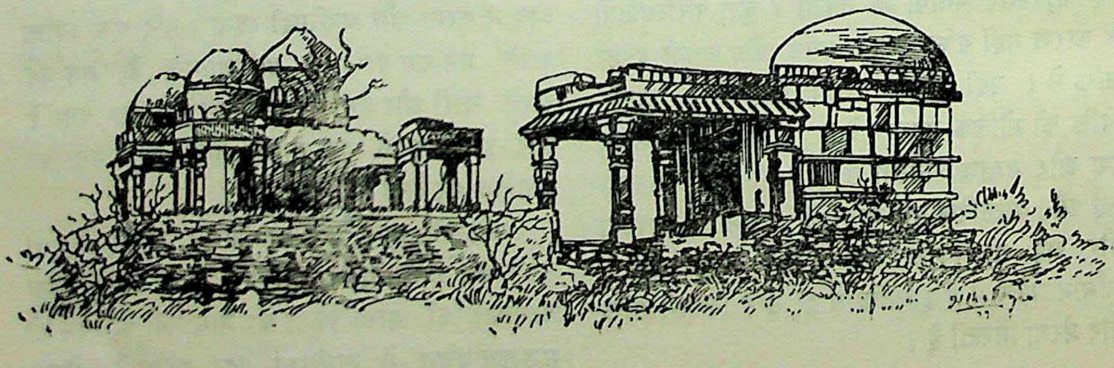

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेदों के यूरोपीय भाष्यकार

डाक्टर मणिलाल पटेल, एम. ए., पी-एच. डी.

डाक्टर मणिलाल पटेल

पश्चिम में संस्कृत भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन ज़ाब्ते से सन् १८०५ ई० में शुरू हुआ। सबसे पहले कोलब्रुक ने वेदों के सम्बन्ध में यह घोषणा की कि उनके पूरे अनुवाद के लिये बहुत समय चाहिए और जो कुछ वेदों के अन्दर है, उसे पढ़कर पाठकों का कोई विशेष लाभ न होगा और अनुवादक की मेहनत भी व्यर्थ जायगी। किन्तु कोलब्रुक के इस निराशा से भरे वक्तव्य का वेदों की खोज पर कोई असर नहीं पड़ा। आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय ने मैक्समूलर द्वारा सायण भाष्य सहित ऋग्वेद के अनुवाद को सन् १८४९ ई० में प्रकाशित किया। प्रसिद्ध फ़्रान्सीसी विद्वान लैङ्गलॉइ ने सन् १८४८ ई० में ऋग्वेद का फ़्रान्सीसी भाषा में सम्पूर्ण अनुवाद किया। मैक्समूलर के अनुवाद, के प्रकाशन के बाद एच० एच० विलसन ने ऋग्वेद का अंगरेज़ी अनुवाद सायण भाष्य को सामने रखकर शुरू किया। विलसन के अनुसार सायण का भाष्य, ऋग्वेद की पेचीदगियों और गहन बातों को पाठकों के सामने स्पष्ट कर देता है। पश्चिम में विलसन के मत वालों को कुछ लोग ट्रेडीशनल विचारों का कहते हैं; और वे स्वयम् अपने को अनुदार संस्कृत भाषा वादी कहते हैं।

किन्तु शीघ्र ही यूरोपीय विद्वानों को यह मालूम हो गया कि महज़ सायण पर निर्भर होकर ऋग्वेद की पेचीदा समस्याओं को नहीं समझा जा सकता। रुडल्फ़ ह्वान राथ ने इसीलिये ऋग्वेद की ही ऋचाओं की बारीक छान बीन शुरू की। उन्होंने विविध मण्डलों के भाषा-विषय, व्याकरण और शब्दों की पारस्परिक तुलना की और एक से भावों और एक से मंत्रों को क्रमबद्ध किया। वेद के भारतीय भाष्यकारों की राय की परवाह न करते हुए राथ ने अपना महान भाष्य लिख डाला। उसकी भूमिका के पांचवें पृष्ठ में वह लिखता है कि सायण कई कारणों से ऋग्वेद का उपयुक्त टीकाकार नहीं है। राथ की इस राय को लगभग समस्त यूरोपीय टीकाकारों ने मान लिया था। उन लोगों ने केवल भाषा को ही वैदिक भाष्य का आधार बनाया। उनकी राय में व्याकरण और शब्दों के वर्गीकरण के स्पष्ट हो जाने के बाद वैदिक ऋचाओं का गहन अर्थ निकाला जा सकता था।

वेदों के इस तरह के भाष्यकारों को भाषावादी कहा जाता है। इस मत के लोगों के परिश्रम के परिणाम स्वरूप शीघ्र ही वेदों के कुछ भाष्य प्रकाशित हुए। उनमें से दो प्रमुख हैं—एच० ग्रासमैन का ऋग्वेद का शब्दकोष और ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद जो सन् १८७६ ई० में प्रकाशित हुआ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यूरोपीय विद्वानों में कुछ लोगों ने ऋग्वेद के भारतीय भाष्यकारों के विरुद्ध राथ के जेहाद को स्वीकार नहीं किया। उनकी राय में सायण और यास्क के भाष्य और यूरोपीय विद्वानों की भाषा-विज्ञान सम्बन्धी खोजों को मिलाकर ही ऋग्वेद के महत्त्व को पूरी तरह समझा जा सकता है। ए० लडविन ने इस राय से सहमत होकर ऋग्वेद का सम्पूर्ण जर्मन अनुवाद सन् १८८८ ई० में प्रकाशित किया। उसने प्रत्येक मन्त्र की विस्तृत टीकाएं कीं। हालांकि लडविन का यह अनुवाद ग्रासमैन की अपेक्षा कहीं ज़्यादा अच्छा है, किन्तु फिर भी इसमें स्पष्टता और पूर्णता नहीं है।

फ्ऱान्सीसी विद्वान ए० बर्गेन का विश्वास था कि ऋग्वेद उपाख्यानों द्वारा ही समझाया जा सकता है। इस बात को उन्होंने सन् १८८३ ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'रिलीजन वैदीक' में विस्तार के साथ लिखा है। उनके प्रमुख शिष्य पी० रेगनों की राय थी कि पूरा का पूरा ऋग्वेद केवल यज्ञ और बलिदान के कर्मकाण्डों को व्यापक रूप देने के लिये ही लिखा गया है।

किन्तु इन समस्त पश्चिमीय प्रयत्नों में सब में महत्त्वपूर्ण प्रयत्न श्री पिश्लेल और गेल्डनर नामक दो मित्रों का है जिन्होंने 'वैदिश्च स्टडीं' नामक ग्रन्थ (तीन भागों में) सन् १९०५ ई० में प्रकाशित किया। हालांकि ये राथ के ग्रन्थ को पढ़कर ही वेदों के अध्ययन की ओर प्रेरित हुए थे, मगर फिर भी उन्होंने अपनी पुस्तक में राथ के एकतरफ़ा भाषा-विज्ञान की कसौटी की काफ़ी खिल्ली उड़ाई। अपने इस ग्रन्थ में पिश्लेल और गेल्डनर ने ऋग्वेद के विविध मंडलों की ऋचाओं एक-एक मन्त्रों, शब्दों और वाक्यों की बारीक छान बीन की। दोनों की राय में ऋग्वेद शुद्ध भारतीय ग्रन्थ है। वे यूरोपीय विद्वानों से सहमत न थे कि ऋग्वेद एक इंडो-जर्मेनिक (भारतीय-जर्मन) ग्रन्थ है। इसलिये शुद्ध भारतीय ग्रन्थ के रूप में वह तभी पूरी तरह समझ में आ सकता है, जब कि भारतीय भाष्यकारों का अध्ययन किया जाय और बाद के ब्राह्मण साहित्य से पूरी तरह परिचित हुआ जाय। ब्राह्मण साहित्य का जानना वैदिक भाष्यकारों के लिये बहुत ज़रूरी है। गेल्डनर और पिश्लेल की इस राय को भाषावादियों ने मूर्खतापूर्ण और व्यर्थ बताया; इस पर काफी तूफ़ान उठा, लेकिन वह क्षणस्थायी रहा। इन दोनों विद्वानों ने ऋग्वेद के विचारों और ब्राह्मण शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए दोनों का विचार-साम्य दिखाया है। उसके बाद यह स्पष्ट हो गया कि ऋग्वेद शुद्ध भारतीय ग्रन्थ है तथा वह भारतीय संस्कृति का सबमें पुराना लेखा है और वैदिक आर्यों और यूरोपीय आर्यों के बीच में इतनी बड़ी खाई है, जिसको भाषा-विज्ञान पूरी तरह भरने में असमर्थ है। यही गेल्डनर और पिश्लेल के वैदिक भाष्य के मूल सिद्धान्त हैं!

यहां पर हमें ओल्डनबर्ग और एल० वान स्क्रोडर के प्रयत्नों को भी नहीं भूलना चाहिए। ओल्डनबर्ग की पुस्तक 'रिलिजन डेस वेद' बर्लिन से सन् १८९४ ई० में प्रकाशित हुई थी और स्क्रोडर की पुस्तक सन् १९०८ ई० में प्रकाशित हुई। इन दोनों विद्वानों ने सबसे पहले हमारा ध्यान इस बात की ओर दिलाया कि हमें वेद के कुछ हिस्सों को पूरी तरह समझने के लिए उस समय के दूसरे धर्मों का अध्ययन करना चाहिए। यही बात दूसरे जर्मन विद्वान हिले ब्राण्ड्ट ने भी कही है। किन्तु उसकी पुस्तक 'वैदिश्च माइथालाजी' की बहुत सी बातों में संशोधन की ज़रूरत है। इन विद्वानों के अतिरिक्त एक महान वैदिक विद्वान प्रोफ़ैसर ए० ए० मैकडोनल को भी नहीं भूलना चाहिये, जिसकी वैदिक खोजों और वेदों के अध्ययन का महत्त्व संसार के समस्त वैदिक विद्वान मानते हैं। प्रोफ़ैसर मैकडोनल ने इस सम्बन्ध में अनेक लेखों के अतिरिक्त 'वैदिक रीडर' और 'वैदिक माइथालाजी' नामक दो व्याकरण ग्रन्थ लिखे। उनका सब में महत्त्वपूर्ण लेख वह है, जो उन्होंने सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के अभिनन्दन ग्रन्थ में लिखा है। अपने इस लेख में मैकडोनल ने यास्क और सायण की तीव्र आलोचना की है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अच्छा होता कि प्रोफ़ैसर मेकडोनल ने वेदों के इन महान भाष्यकारों की केवल त्रुटियां ही न दिखाई होतीं, बल्कि वेदों को सुलभ बनाने में इनका जो महत्त्व-पूर्ण हिस्सा रहा है, उसकी भी दाद दी होती। किन्तु फिर भी प्रोफ़ैसर मैकडोनल बहुत ही उचित कहते हैं, "ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र शुद्ध और स्पष्ट हैं, इसलिये ऋग्वेद के ऐसे नये वैज्ञानिक अनुवाद को भी पढ़ना चाहिए, जो पुराने भारतीय अनुवाद के साथ मेल खाते हों। किन्तु चूंकि ऋग्वेद भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है, इसीलिये इसका बहुत सा हिस्सा स्वयम् भाष्यकारों की ही समझ में नहीं आया और इन हिस्सों को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें ऋग्वेद का पूरा पूरा अध्ययन करना होगा। उसका व्याकरण, उसकी शब्दावलि, उसकी शब्द-ध्वनि और उसके छन्दों में इन अज्ञेय हिस्सों को समझने की कोशिश करनी होगी।"

अपने प्रतिपादित नियमों के अनुसार वेदों के सम्पूर्ण अनुवाद की अपनी शुभ इच्छा को पूरा करने के लिए प्रोफ़ैसर मेकडोनल जीवित न रह सके। वैदिक साहित्य का कितना बड़ा कल्याण होता, यदि प्रोफ़ैसर मेकडोनल अपनी इच्छा के अनुसार वेदों का पूरा अनुवाद कर पाते।

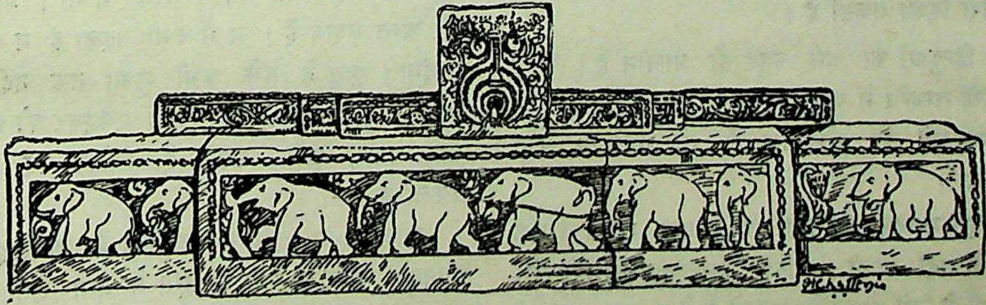

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हिन्दू संस्कृति के व्यापक सिद्धान्त

डाक्टर सैयद महमूद एम ए., पी-एच. डी., बार-एट-ला., भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, बिहार

डाक्टर सैयद महमूद

आर्य जाति ने इस मुल्क में आकर एक नई, स्थायी और निहायत रौशन संस्कृति और सभ्यता की बुनियाद डाली। इस सभ्यता में इतना स्थायित्व है कि बावजूद हज़ारों वर्ष बीत जाने पर भी इसकी सांस्कृतिक दीवारें इतनी ठोस हैं कि लगातार तूफ़ान के झोंके, जो मुख़्तलिफ़ सूरतों में इस देश में उठते रहे, इसकी दीवारों को हिला न सके। ज़माने के पलटने और अनेक दुर्घटनाओं के कारण उसके चमकदार और रौशन सिक्के पर भले ही ज़ंग आ गया हो; लेकिन थोड़ा सा घिस कर चमकाने पर वह संस्कृति आज भी दुनिया को सभ्यता और शाइस्तगी का प्रकाश दिखा सकती है।

हिन्दुओं का धर्म बहुत ही प्राचीन है। हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि यह बहुत से मज़हबों का सम्मिश्रण है, तो ग़ालिबन बेजा न होगा।

इस मज़हब की नीव किसी एक शख़्स ने एक वक़्त में नहीं डाली। बल्कि मुख़्तलिफ़ ऋषियों और मुनियों ने, जो मुख़्तलिफ़ ज़माने में पैदा हुए, हज़ारों साल के अरसे में इसे बनाया है। अगर इस मज़हब के सूक्ष्म सिद्धान्तों और इसकी महानता को जानने के लिये हम दिव्य ऋषियों और देवताओं के इल्म और अमल के तरीक़ों पर ग़ौर करें, तो उनमें हमें ईश्वरोपासना की पूरी शान और एकेश्वरवाद की पूरी तसवीर नज़र आयगी। गो यह सही है कि आजकल बहुत से हिन्दू मूर्ति पूजते हैं और मूढ़ जन देहधारी आदमियों को ईश्वर मानने लगे हैं, लेकिन दर असल हिन्दू धर्म में शुद्ध एकेश्वरवाद है। हिन्दू धर्म के अनुसार एक ईश्वर के अलावा दूसरे को मानना गुनाह है। वेदों की असली तालीम ईश्वर की एकता को ज़ाहिर करती है। जगह जगह उसमें लिखा है—"नहीं है वास्तव में कोई उपासना योग्य सिवाय एक ईश्वर के।" वेद की एक और ऋचा यह है—"मैं उस वास्तविक उपास्य देव को ख़ूब पहचानता हूं, जो सृष्टि पर छाया हुआ है, जो सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान है और अन्धकार से दूर है। सिर्फ़ इस उपास्य देव को जानने से मुझे मृत्यु पर विजय मिल सकती है। सिवाय इसके मुक्ति का कोई दूसरा रास्ता नहीं है।" भगवद्गीता का एक श्लोक यह है--'मैं वह आत्मा हूं जो हर चेतन के अन्दर है और हर जड़ पदार्थ की गहराई के अन्दर है। मैं न कभी पैदा हुआ और न मरूंगा। कोई ऐसा वक्त न था जब मैं मौजूद न था। प्रारम्भ और अन्त ख़्वाब हैं। न मैं कभी बदला हूं न कभी बदलूंगा। मृत्यु ने मुझे कभी छुआ तक नहीं।" एक दूसरा श्लोक है—"लोग उस एकेश्वर को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं; लेकिन वह सिर्फ़ अकेला है।"

आमतौर पर लोग यह समझते हैं कि हिन्दुओं के निकट ख़ुदा इनसान की सूरत में जन्म लेता है। और इसी को अवतार कहते हैं। अवतार से मतलब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है जिस्मवाला और ख़ास व्यक्ति। सब प्राणियों में ईश्वर का अंश है। लेकिन सबको तो हम अवतार नहीं कहते। जो व्यक्ति अपने समय में सबसे बड़ा धर्मवान होता है, उसी को भविष्य में लोग अवतार मानकर पूजते हैं। जिसमें अपने समय में सबसे अधिक धार्मिकता हो वही अवतार है। चुनांचे आज भी महात्मा गान्धी को बहुत से हिन्दू अवतार मानने लगे हैं और कुछ ज़माने के बाद तो आमतौर पर वह अवतार माने जायेंगे। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि महात्मा गान्धी ईश्वर हैं और ईश्वर ने उनमें जन्म लिया है। बल्कि इसका सिर्फ़ यह अर्थ है कि वह अपने ज़माने के परम धार्मिक व्यक्ति हैं। इस विषय को एक हिन्दू निम्नलिखित पद्य के अन्दर बहुत ख़ूबसूरती से समझा सकता है—

आदम को ख़ुदा मत कहो आदम ख़ुदा नहीं,
लेकिन ख़ुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।

मरदाने ख़ुदा ख़ुदा न बाशन्द,
*लेकिन ज़ख़ुदा जुदा न बाशन्द !**

अल्लामा अलबेरूनी नामक एक मशहूर मुसलमान विद्वान और ज्योतिषी महमूद ग़ज़नवी के समय में हिन्दुस्तान आया और वर्षों तक हिन्दुस्तान में रहकर उसने संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की और हिन्दुओं की विद्यायें सीखीं। बड़े बड़े पण्डित उसका लोहा मानते थे। अलबेरूनी लिखता है—"हिन्दू मूर्तिपूजक कहे जाते हैं, मगर मूर्तिपूजा आम जनता में है; विद्वानों में मूर्तिपूजा नहीं है। वे तो एक ईश्वर को, जिसका आदि अन्त नहीं है, जो अन्तर्यामी है, पवित्र है, जो अपनी मरज़ी से जो चाहता है करता है, जो सर्व शक्तिवान है, सर्वज्ञ है, जो जीवन देता है, हुकूमत करता है, जो अपनी बादशाही में निराला है, जिसकी किसी से तुलना नहीं हो सकती, ऐसे ईश्वर को मानते हैं।"

अल्लामा अबुलफ़ज़्ल, अकबर का विख्यात वज़ीर और सलाहकार था, जिसने हिन्दुओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ बातें मालूम कीं; लिखता है—"मैंने हिन्दू विद्वानों का बहुत संगति की और हर पन्थ और धर्म के उसूलों को मालूम करके इस किताब (आईने अकबरी) में इस ग़रज़ से लिखा है कि भविष्य में विद्वान लोग अफ़लातून, अरस्तू और सूफ़ियों के बताए हुए सिद्धान्तों से इनकी तुलना करके बिना किसी पक्षपात के यह मालूम कर सकेंगे कि वास्तविकता क्या है। हिन्दुओं की पुस्तकों में अमूल्य और उच्चतम शिक्षाएं हैं।" फिर आम हिन्दुओं के सम्बन्ध में अबुलफ़ज़्ल लिखता है—"इस ज़मीन के बाशिन्दे (हिन्दू) ख़ुदापरस्त (ईश्वरोपासक), दयावान, परोपकारी, हंसमुख, मिलनसार, अक़्लमन्द, मेहनती, न्यायवान, धैर्यवान, सहनशील, कार्यशील, नमकहलाल, दानी और वफ़ादार हैं। विपत्ति के समय उनकी असलीयत ज़ाहिर होती है। सब लोग ख़ुदा को एक मानते हैं और अगर ये लोग पत्थर और लकड़ी की मूर्ति या किसी और वस्तु की पूजा करते हैं, तो उसको मूर्ख मनुष्य मूर्ति पूजा समझते हैं। मगर मैंने बहुत से विद्वानों से मालूम किया है कि मूर्ति को बाज़ ईश्वरोपासकों ने अपनी दिलजमई का आधार बनाया है, ताकि इनका दिल दूसरी तरफ़ न भटके। वह एक ईश्वर की उपासना ज़रूरी समझते हैं। अपनी समस्त उपासना और आदतों में उसी से मदद चाहते हैं और उसी को सबसे ऊपर समझते हैं।" वेद हिन्दुओं के सबसे पवित्र ग्रन्थ हैं, जो मुख़्तलिफ़ वक़्तों में लिखे गये हैं। इनमें सबसे मुख्य ऋग्वेद है, जिसका बड़ा हिस्सा उपासना और ईश्वर की प्रशंसा और विशेषताओं से भरा हुआ है। लेकिन इसकी बहुत सी ऋचाएं ऐसी भी हैं, जिनसे प्राचीन हिन्दुओं के धर्म, उनकी भाषा, उनकी विद्या, उनके ज्ञान, उनके रहन-सहन और उनकी सभ्यता आदि ज़ाहिर होती है। ऋग्वेद और दूसरे वेदों से मालूम होता है कि हिन्दू जाति एक अत्यन्त सभ्य जाति थी, जिनका सम्पूर्ण

* मनुष्य ख़ुदा नहीं है, लेकिन ख़ुदा से वह जुदा भी नहीं है।

६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जीवन सुसंस्कृत था। उनके दिलों में ईश्वर का डर और भलाई की इच्छा थी। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बड़े-बड़े चमत्कार किये थे। हिन्दुओं का अध्यात्म, जो हमेशा इस मुल्क की प्रतिष्ठा और शान को बढ़ाता रहेगा, अब भी सभ्य मुल्कों के लिये मार्ग प्रदर्शन का काम करता है। प्राचीन ईरानियों और फिर अरबों के सम्पर्क से यूरोप निवासी हिन्दुओं की विशेषताओं से सदा लाभ उठाते रहे और अब तक उठा रहे हैं। दानशीलता, मुरव्वत, शराफ़त और रवादारी हिन्दुओं के खास गुण हैं। इनकी वीरता, मुरव्वत और शराफ़त की यहां एक मिसाल दी जाती है। इसको ग़ौर से सुनो और देखो कि प्राचीन हिन्दू अपने दुशमनों के साथ कैसा बर्ताव करते थे—

महाभारत की लड़ाई में जब दोनों तरफ़ के सैन्य दल सज धज कर बाहर आये और व्यूह रचना हो चुकी, तो यकायक युधिष्ठिर और अर्जुन व्यूह के बाहर निकले और अपने अपने हथियार फेंककर शत्रु की फ़ौज की तरफ बढ़े। सब लोग हैरत में थे और इनकी फ़ौज यह समझी कि शायद यह लड़ना नहीं चाहते। शत्रु यह समझे कि ये लोग हमारी विशाल सेना देख कर डर गये और सुलह के लिये आरहे हैं। दोनों तरफ के लोग निस्तब्ध थे। दोनों पांडव भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के शिविर में गये और उनके चरणों में सर रखकर बोले "पूज्य गुरुओं ! हम आप के तुच्छ शिष्य हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमें आपके सामने अस्त्र लेकर खड़ा होना पड़ा और आपको भी विवश होकर हम छोटों के विरुद्ध अस्त्र उठाने पड़े। हमको इसकी शिकायत नहीं है कि आप जैसे गुरू, हमारे शिक्षक हमारे मुक़ाबले में लड़ने पर कटिबद्ध हैं, क्यों कि हमारे विरोधी दुर्योधन से आप वचन बद्ध हैं। मगर हम भी विवश हैं। हमने सुलह के प्रयत्नों में कोई उपाय उठा नहीं रखा और न कोई कसर छोड़ी। अब जबकि लड़ाई सिर पर आ गई है, तो हमारा कर्तव्य है कि पहले आपको प्रणाम करें और आप से लड़ाई शुरू करने की इजाज़त मांगें। अगर दूसरे शत्रु का मुक़ाबला होता, तब भी हम गुरू की हैसियत से बिना आपकी आज्ञा के बाहर न निकलते और अब अगरचे आप ही से युद्ध करना है, तब भी हम आप की इजाज़त मांगने आये हैं। जब तक आप इजाज़त न देंगे हमारे तीर तरकश से बाहर न निकलेंगे।

भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य पर इस नम्रता का बड़ा असर हुआ और आंखों में आंसू भरकर उन्होंने बहुत सी दुआएं दीं और कहा कि—"जाओ हम तुम को दिल से इजाज़त देते हैं। तुम्हारी विजय तो उसी वक्त हो गई, जबकि तुम ऐसे शुद्ध विचार, ऐसी शराफ़त ऐसी वीरता और ऐसी नम्रता से अपने दुशमनों में निःशस्त्र चले आये।" आज युधिष्ठिर और अर्जुन नहीं हैं। आज दुर्योधन की ख़ाक भी दुनियां में नहीं है। लेकिन पाण्डवों के इस कार्य की प्रलय तक प्रशंसा होगी और यह घटना पीढ़ी दर पीढ़ी हिन्दू जाति के उच्चतम गुणों की गवाही देती रहेगी कि इस जाति के शासक विरोध और शत्रुता में भी उच्चादर्शों और व्यवहारों के कितने पाबन्द थे। इसके बाद महाभारत का युद्ध शुरू हुआ, जिसका परिणाम सब जानते हैं।

उपनिषद में है कि—"ईश्वर सत्य का नाम है, ईश्वर बुद्धि का नाम है, ईश्वर पुण्य का नाम है, ईश्वर असीम का नाम है और ईश्वर प्रेम का नाम है।" "प्रेम का शब्द आख़ीर में आया है और इससे उद्देश्य है इस बात पर ज़ोर देना कि "प्रेम ही अस्तित्व का आधार है। प्रेम से ही हमारा अस्तित्व है। प्रेम ही की ओर हम बढ़ रहे हैं और फिर प्रेम ही में हम समा जाते हैं।

भक्ति का यही मार्ग बताया गया है। हिन्दुओं का धर्म है नफ़रत को मिटाने का रास्ता नफ़रत नहीं है, बल्कि नफ़रत मुहब्बत से मिटती है। हिन्दू धर्म की कोई परिभाषा नहीं है। उसके ईश्वर के हज़ारों नाम हैं। वह ईश्वर के अनन्त गुणों को हज़ारों नामों से याद करता है। ईश्वर की प्रेमपूर्ण विशेषताएं उसके दिल पर छा जाती हैं। वह ईश्वर के प्रेम में संलग्न हो जाता है। यहां तक कि ईश्वर का कोई भय उसके दिल में बाक़ी नहीं रहता और वह यूं चिल्ला

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उठता है—"जिस तरह ज़मीन और आसमान भय नहीं खाते और इससे उनको कोई नुक़सान नहीं पहुंचता, उसी तरह मेरी आत्मा तुझसे भय नहीं खाती। जिस तरह सूरज और चांद निर्भय हैं और इससे उन्हें कोइ हानि नहीं, उसी तरह मेरी आत्मा (हे परमात्मा) तुझमे निर्भय है।" हज़ारों रीतियों मे ईश्वर उसके पास आता है। जब वह मुसीबत और कष्ट को मिटाकर आता है, तो वह उसे 'माँ दुर्गा' के नाम से पुकारता है, जब वह उसके अपराधों को क्षमा करता है, तब वह उसे 'हरि' कहता है और जब वह विद्या के रूप में आता है, तब वह उसे सरस्वती कहता है। हिन्दू किसी एक पुस्तक विशेष को अपने लिये मुक्ति दाता नहीं समझता। बहुत सी पुस्तकें हैं, जिनमें उसका आदर्श निहित है। लेकिन सिर्फ़ धर्म-पुस्तकों से ही हिन्दू के दिल को सन्तोष नहीं होता। उसका मज़हब उसे सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति बनाना चाहता है। उसका मज़हब उसे सिखाता है कि वह इसकी परवाह न करे कि कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान, कौन ईसाई है और कौन पारसी, कौन यहूदी है और कौन बौद्ध ? सब ईश्वर की रचना हैं। और हर धर्म वाले की मुक्ति उसी के स्वधर्म पालन से होती है। एक सच्चा हिन्दू किसी मज़हब को बुरा नहीं कहता और न वह अपने मज़हब को सबसे अच्छा बताता है। एक बार विष्णु के एक पुजारी के दिल में शिव के पुजारी की ओर नफ़रत के भाव पैदा हुए। फिर जब वह विष्णु की पूजा में प्रवृत्त हुआ, तो देखता है मूर्ति का चेहरा दो हिस्सों में बंट गया है। एक तरफ़ विष्णु का चेहरा है और दूसरी तरफ शिव का। दोनों चेहरे धर्मान्ध पुजारी की ओर देखकर हंस रहे हैं। इस क़िस्से से यही निष्कर्ष निकलता है कि मुक्ति के अनेक रास्ते हैं और किसी रास्ते को बुरा न कहो।

एक हिन्दू अपनी आत्मा को ज्ञान के प्रकाश में साधना के द्वारा मुक्ति दिलाना चाहता है। हिन्दू धर्म सत्य को सबसे महत्वपूर्ण और सबसे श्रेष्ठ गुण समझता है। उसके निकट सूर्य का प्रकाश, हवा का झोंका वर्षा की बूंदें और ईश्वर सबके लिये हैं और सबके हैं। भगवद्गीता दुनिया को यही शिक्षा देती है—"जो कोई भी मेरे पास किसी रास्ते से चलकर आता है, मैं उसके पास उसी रास्ते से पहुंचता हूं। बहुत से लोग भिन्न भिन्न रास्ते से मेरे पास पहुंचने की कोशिश में हैं और वे सब रास्ते मेरे हैं।" गीता के इस इशारे के बाद कौन सच्चा हिन्दू किसी दूसरे धर्म को बुरा कह सकता है ? यह श्लोक गीता का सार है और गीता का मौलिक सिद्धान्त ज़ाहिर करता है। हिन्दू अपने ईश्वर को जगन्नाथ कहकर पुकारता है। उसे दुनिया भर की भलाई करने वाला समझता है। वह ईश्वर को सिर्फ़ अपना चाहने वाला नहीं समझता। हिन्दू के समस्त धार्मिक कर्तव्यों का सार यह है—

ईश्वर की उपासना, देवताओं और ऋषियों की प्रतिष्ठा और श्रद्धा, मां बाप की क़द्र और इज़्ज़त, दूसरे मनुष्यों के साथ रोज़ कोई न कोई नेकी करना, भूखों को खाना खिलाना, प्यासों को पानी पिलाना, जानवरों के साथ मेहरबानी का बर्ताव करना—ये बातें ईश्वर और मनुष्य के प्रेम बल्कि हर प्राणी के प्रति प्रेम को साबित करती हैं। "अपने ईश्वर और अपने पड़ोसियों से जिनमें पशु भी शामिल हैं प्रेम करो।"

वेद, जिनके सम्बन्ध में हिन्दुओं का विश्वास है कि वे अनादि हैं। गो संख्या में चार हैं मगर अकसर हिन्दू विद्वान चौथे वेद को नहीं मानते और कहते हैं इसकी अधिकतर ऋचाएं वही हैं जो ऋग्वेद में हैं। हर एक वेद कई मण्डलों में बंटा है। इनमें पहले हिस्से में ईश्वर की प्रार्थनाएं और दुआएं हैं। दूसरे हिस्से में नसीहतें हैं, जो धार्मिक कर्तव्यों का आदेश देती हैं। इसके अलावा इनमें ईश्वर और अध्यात्म के सम्बन्ध में भी चर्चा है। वेदों की मूल शिक्षा एकेश्वर के विश्वास को प्रकट करती है और बार बार वेदों में इसका ज़िक्र आता है, "कोई सच्चा नहीं है सिवाय उस ईश्वर के जो सब पर छाया है, कुल सृष्टि का स्वामी है, जिसने सृष्टि का निर्माण किया है।" हिन्दुओं का धर्म वास्तव में एक ईश्वर की भावना पर निर्भर है। इनके तमाम पन्थों के विद्वानों की इस सम्बन्ध में एक राय है—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) ईश्वर एक है (एकमेवाद्वितीयम्) जो वादहूलाशरीक का बिल्कुल शब्दार्थ है।

(२) उसकी विशेषताएं असंख्य हैं। अनेक ऋषियों ने उसके विशेष गुणों की तादाद तीस लाख बताई है।

(३) लेकिन इनमें तीन विशेषताएं मुख्य हैं, जिनसे सृष्टि स्थिर है और उसका दैनिक कार्य चलता है—

(अ) ब्रह्मा (उत्पत्ति करने वाला),

(ब) विष्णु (रक्षा करने वाला)

(स) शिव (मारने-जिलाने वाला, सज़ा और जज़ा देने वाला)।

(४) इन तीनों का प्रकाश एक एक ख़ास शक्ति के द्वारा हुआ है और होता है—

(अ) ब्रह्मा ने अपनी बुद्धि (सरस्वती) से दुनियां को पैदा किया, यानी कर्ता में बुद्धि निहित है।

(ब) विष्णु अपनी दया (लक्ष्मी) से दुनियां की रक्षा करने वाला है, यानी रक्षक में दया निहित है।

(स) शिव अपनी प्रकृति (पार्वती) से दुनियां को सज़ा-जज़ा देता है। यानी सज़ा-जज़ा देने वाले में न्याय की भावना निहित है।

अर्थात् परमेश्वर में बुद्धि + दया + न्याय का समावेश है। अथवा ब्रह्मा + सरस्वती, विष्णु + लक्ष्मी और शिव + पार्वती मिलकर परमेश्वर के रूप हैं। यानी ईश्वर के तीनों विशेष गुणों का प्रकाश एक एक ख़ास शक्ति के द्वारा हुआ है। इसको ठीक से न समझ सकने के कारण लोगों में यह ग़लतफ़हमी फैल गई है कि हिन्दू तीन ईश्वरों के क़ायल हैं और ईश्वर के लिये उन्होंने एक स्त्री संगनी मुक़र्रर कर दी है। जिस तरह हिन्दू विद्वानों ने ईश्वर के भिन्न भिन्न गुणों को एक दूसरे से नुमायां करके उनके अलग अलग नाम दिये हैं, इससे भी यह ग़लतफ़हमी पैदा हो गई है कि हिन्दू ३३ कोटि ईश्वरों को मानते हैं। लेकिन यह ग़लतफ़हमी किसी तरह भी उचित नहीं; क्योंकि असली सिद्धान्त जिसकी निस्बत सब हिन्दू विद्वान और बुद्धिमान एकमत हैं, वह यह है कि ईश्वर एक है और उसमें कोई शामिल नहीं है। उसकी तीन व्यापक विशेषताएं हैं, जो सृष्टि की उत्पत्ति, प्रबन्ध और नाश की कारण हैं। हर विशेषता के प्रकाश का तरीक़ा, जो इस दुनियां में इन्सान को अनुभव होता है, इसमें निहित है कि ईश्वर बुद्धिमान कर्ता, दयावान रक्षक और न्यायवान शासक है।

यहां तक तो समस्त हिन्दू विद्वान एक मत हैं; मगर इसके अतिरिक्त ईश्वर के सम्बन्ध में अनेक बातों में काफ़ी मतभेद है, जिससे हिन्दुओं के अन्दर अनेक पन्थ पैदा हो गये। हर पन्थ हर सिद्धान्त को अपने तरीक़े पर मानता है और दूसरे तरीक़ों को स्वीकार नहीं करता। ये सिद्धान्त कब और क्यों बहस के विषय बने, यह हिन्दुओं की संस्कृति और सभ्यता पर नज़र डालने से मालूम हो सकता है। हिन्दू विद्वानों ने एकमेवाद्वितीयम् का शब्दशः अनुवाद करके ईश्वर और दुनियां के बाहरी सम्बन्ध को तीन तरह से निश्चित किया है—

(१) श्री शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर एक है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं। सिवाय ईश्वर के और कोई मौजूद नहीं। इसलिये जो मौजूद है वह ईश्वर ही है। इसके सिवाय और कोई मौजूद नहीं। सृष्टि यदि मौजूद है तो वह ईश्वर का ही रूप है और कोई नहीं। ईश्वर ही सृष्टि है। ईश्वर से सृष्टि जुदा नहीं और सृष्टि से ईश्वर जुदा नहीं।

श्री शंकराचार्य और उनके शिष्य एकेश्वरवाद के क़ायल हैं। यानी ईश्वर को सृष्टि से भिन्न नहीं समझते। ये लोग न सिर्फ़ यही मानते हैं कि "सब वही है और सब उससे है", बल्कि कहते हैं "जो चीज़ भी है वह उससे है"।

(२) श्री रामानुजाचार्य ने 'एकमेवाद्वितीयम्' का भाष्य दूसरी तरह से किया है। ईश्वर अलग बग़ैर दूसरे के है। ईश्वर के सिवाय यदि कोई दूसरा मौजूद है, तो वह सिर्फ़ उसी का ज़हूर है। और कोई नहीं। इसलिये जो मौजूद है और जो हमें महसूस होता है वह ईश्वर नहीं लेकिन ईश्वर से जुदा नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सृष्टि और ईश्वर में आपसी सम्बन्ध ऐसा है जैसे शरीर और आत्मा में है। आत्मा से शरीर ज़िन्दा है और बढ़ता है। फिर भी शरीर जुदा है और आत्मा जुदा। दोनों एक दूसरे के लिये आवश्यक हैं। इसी तरह ईश्वर और सृष्टि एक दूसरे से अलग हैं। हालाकि ईश्वर बिना सृष्टि नहीं और सृष्टि बिना ईश्वर नहीं। मगर हम सृष्टि को ईश्वर नहीं कह सकते और न ईश्वर को सृष्टि कह सकते हैं। जिस तरह आत्मा से जीवित देह ख़ाली नहीं, उसी तरह यह जीवित सृष्टि ईश्वर से ख़ाली नहीं। ईश्वर सृष्टि में आत्मा के रूप में मौजूद है। यह सम्प्रदाय ईश्वर को सृष्टि से उच्चतर मानता है, हालाकि ईश्वर को सृष्टि से बिलकुल जुदा नहीं करता। यह "सब वही है" और "सब उससे है" इन दोनों सिद्धान्तों को एक समझता है।

(३) श्री माधवाचार्य ने 'एकमेवाद्वितीयम्' का यह अर्थ किया है—ईश्वर एक है, दूसरा ईश्वर नहीं है, ईश्वर के साथ कोई दूसरा शामिल नहीं है। इसलिये सृष्टि ईश्वर के साथ किसी तरह शरीक नहीं है। बल्कि सृष्टि ईश्वर से बिलकुल जुदा है। ईश्वर जुदा है और सृष्टि जुदा है। इन दोनों में सिर्फ़ सृष्टि-कर्ता और सृष्टि का सम्बन्ध है। यह सम्प्रदाय "सबमें उसी का अस्तित्व है" के सिद्धान्त को नहीं मानता। ईश्वर को सृष्टि से बिलकुल जुदा और उससे उच्चतर समझता है। ये लोग "सब कुछ वही है" इसे नहीं मानते, बल्कि "उसी से सब कुछ है" के ही सिद्धान्त को मानते हैं।

इसके बाद दूसरा मुख्य प्रश्न यह है कि ईश्वर के सर्वव्यापी गुण में अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव के गुणों में—कि जिनमें एक एक में सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती के भी गुण शामिल हैं—कौनसा गुण प्रधान है और मनुष्य के लिये सबमें अधिक मननीय है। अगरचे सिर्फ़ परमेश्वर की हस्ती ही उपासना के योग्य है, लेकिन कहा जाता है कि ईश्वर की हस्ती मानव-कल्पना से परे है; इसलिये उसकी उपासना मानव की तुच्छ बुद्धि से नहीं हो सकती। इसलिये मानव सर्वव्यापी परमेश्वर के केवल एक विशेष गुण की ही उपासना कर सकता है। वह ईश्वर के समस्त गुणों की न एक साथ कल्पना कर सकता है और न उनकी उपासना। इसलिये उसके लाखों गुणों में केवल एक गुण की ही उपासना मनुष्य से अच्छी तरह हो सकती है और वही उसके लिये ईश्वर की उपासना है। यह इसलिये कि गुण अपने आधार से अलग नहीं है और न अलग हो सकता है। लिहाज़ा सवाल पैदा होता है कि ईश्वर के तीन सर्वव्यापी गुणों में से कौनसा गुण है, जो दुनियां में अच्छी तरह प्रकट है; जिसकी उपासना करके मानव ईश्वर के निकट पहुंच सकता है। ईश्वर की निकटता लाभ करना ही उपासना का असली उद्देश्य है।

(१) शैव सम्प्रदाय, शिव के गुण को उपासना का मुख्य आधार मानता है,

(२) वैष्णव सम्प्रदाय, विष्णु के गुण को उपासना के लिये मुख्य समझता है, और

(३) लिंगायत सम्प्रदाय, कर्ता के गुण को उपासना का आधार बनाता है।

पवित्र वेद हमें बताते हैं कि मनुष्य दो रूपों में विभक्त है। एक स्थूल रूप में जिसके कारण देह का संचालन होता है और दूसरा सूक्ष्म रूप में, इससे काम, क्रोध, लोभ, मोह, नेकी, बदी आदि को मनुष्य स्वीकार या तिरस्कार करता है। हालाकि मनुष्य के ये दोनों रूप स्वतन्त्र हैं, लेकिन इनका सम्बन्ध उसी एक परमेश्वर की ज़ात से है, जो सर्वव्यापी है और प्रत्येक वस्तु में छाई हुई है। मनुष्य का स्थूल रूप ही अपने सूक्ष्म रूप के समस्त पातकों का प्रायश्चित्त् झेलता है। वह जन्म जन्मान्तर तक अपने सूक्ष्म शरीर के कर्मों का फल भोगता रहता है। पशुओं और मनुष्य की ८४ लाख योनियों से उसे गुज़रना पड़ता है और जब तक उसके पापों का प्रायश्चित्त् पूरा नहीं हो जाता, वह कष्ट उठाता रहता है। इसके बाद जब उसके सारे पापों का क्षय हो जाता है, तब वह फिर इस अग्नि-परीक्षा के बाद अपने कर्ता के समक्ष उपस्थित होता है। परमेश्वर ने मनुष्य को विवेक बुद्धि दी है, जिससे वह भले बुरे की तमीज़

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर सके। इसी तरह उसने सुख दुःख, पाप पुण्य, और भिन्न भिन्न गुणों में अन्तर बना दिया है, जिससे मनुष्य का विवेक उसे ठीक मार्ग दिखा सके।

वेदों के बाद हिन्दुओं का प्रमुख ग्रन्थ भागवत है, जिसके रचनाकार श्री वेदव्यास कहे जाते हैं। इसमें ईश्वर की तलाश, उसकी ज़ात और गुणों की विवेचना, सृष्टि की उत्पत्ति की खोज, अध्यात्म और कर्मकाण्ड, ऐतिहासिक घटना और मनुष्य और देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले असंख्य क़िस्से बयान किये गये हैं। पुराणों के अनुसार सृष्टिकर्ता और सृष्टि दोनों एक ही वस्तु हैं। वेदों की शिक्षा का सार ज्ञान है और पुराणों की शिक्षा का सार भक्ति है।

ये हैं हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्त, जिनको संक्षेप में हमने बयान किया है। विस्तार में न पड़कर हमने यहां सिद्धान्त की ही बात कही है।

एक प्रश्न उठता है कि मूर्तिपूजा हिन्दुओं में क्योंकर आई? यह बात स्पष्ट है कि वेदों के दौर में मूर्तिपूजा का पता भी न था; लेकिन ख़याल किया जाता है कि जब बौद्धों और ब्राह्मणों का संघर्ष जारी था और ब्राह्मण अपना खोया हुआ प्रभुत्व फिर से प्राप्त करने की चेष्टा में थे, तभी उन्होंने और बातों के अतिरिक्त मूर्तिपूजा भी अपने धर्म में प्रचलित की। मूर्तिपूजा हर ज़माने में और हर मुल्क में हमेशा से मनुष्य के चित्त को संतोष देती रही है। हमेशा से इन्सान का दिल मूर्तिपूजा की तरफ झुकता रहा है। मिस्र, चीन, यूनान और तमाम प्राचीन सभ्य देशों में मूर्तिपूजा प्रचलित थी। ब्राह्मणों ने देखा कि यदि वे सिर्फ़ रूखे सूखे तर्क सिद्धान्तों से लोगों में अपने विचारों का प्रचार करते हैं, तो बौद्धमत के मुक़ाबले में उन्हें पूरी सफलता न मिलेगी। सम्भवतः इसी वजह से मूर्तिपूजा का रिवाज हिन्दू धर्म का अङ्ग बन गया। रथयात्रा भी ग़ालिबन हिन्दुओं ने अन्यमतों से ली है। मूर्तिपूजक जातियों का जीवन आमतौर पर भावुक होता है। इसीलिये हिन्दुओं का जीवन भी भावुकतापूर्ण हो गया। जब एक भावुक व्यक्ति प्राचीन हिन्दुओं का जीवन, उनका आपस का सम्बन्ध, ऋषियों की हालत इत्यादि पढ़ता है, तो इन सारी बातों में वह एक पवित्र, कोमल और जिज्ञासा से भरी हुई भावना अनुभव करता है, जिसके प्रभाव और जिसकी कल्पना मात्र से उस पर अजीब कैफ़ियत छा जाती है।

हिन्दुओं को शुरू से प्रेम का पाठ पढ़ाया गया है। हज़रत ईसा की पैदाइश से पांच सौ वर्ष पहले हिन्दू सन्तों ने बताया था कि 'नफ़रत कभी भी नफ़रत से शान्त नहीं होती। नफ़रत को केवल मुहब्बत से जीता जा सकता है। यह हिन्दुओं के स्वभाव का अङ्ग बन गया है। हमको सदा प्रसन्न रहना चाहिये और जो लोग हमसे नफ़रत करते हैं, उनसे हरगिज़ नफ़रत न करना चाहिये। क्रोध को प्रेम से जीतना चाहिये, बुराई को भलाई से दूर करना चाहिये, लोभ को दान से और झूठ पर सच से फ़तह हासिल करना चाहिये।' यहां एक क़िस्सा बयान करना असङ्गत न होगा—

काशी में ब्रह्मदत्त नामक एक राजा था। वह बहुत ऐश्वर्यवान, बहुत धनी और बहुत शक्तिवान था। उसके पास बड़ी विशाल सेना थी। वह एक बड़े राज्य का स्वामी था। लेकिन विरोधी कोसल का राजा बहुत दुर्बल और अशक्त था। न उसके पास इतना धन था और न इतनी बड़ी फ़ौज। राज्य भी बहुत छोटा था। ब्रह्मदत्त ने कोसल पर क़ब्ज़ा कर लिया और उसके राजा को घर से निकाल बाहर किया। कोसलनरेश अपनी पत्नी और बच्चे के साथ भेश बदल कर काशी में एक कुम्हार के घर में रहने लगा। कुछ अरसे के बाद राजा ब्रह्मदत्त को इसकी सूचना मिली और उसने कोसलनरेश और उसकी पत्नी को पकड़ कर क़त्ल करने का हुक्म दे दिया। उनका लड़का, जो उस समय काशी से बाहर था, अपने पिता का हाल सुनकर वधस्थल में पहुंचा। कोसलनरेश ने अपने लड़के की ओर देखकर वसीयत की—

"ऐ मेरे प्यारे बेटे! घृणा की अग्नि घृणा से नहीं बुझती। प्रेम ही घृणा की अग्नि को बुझाता है।"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फिर कोसलनरेश का बेटा जङ्गल में गया और वहां रोता पीटता रहा। वहाँ से एक निश्चित इरादे के साथ शहर वापस आया और राजा के फ़ीलख़ाने में नौकरी करली। बहुत तड़के वह सुरीली और लुभावनी आवाज़ में बांसुरी बजाता था। राजा ने ऐसी सुमधुर वंशी-ध्वनि को सुनकर पूछा कि यह बांसुरी कौन बजा रहा है? कोसल कुमार उसके सामने पेश किया गया। काशीनरेश ने उसे अपनी निजी सेवा में रख लिया और कोसल कुमार राजा की ख़िदमत करने लगा। कुछ दिन बाद राजा एक दिन शिकार खेलने गया और अपने साथियों से अलग होगया। सिर्फ़ कोसल कुमार उसके साथ रह गया था। राजा बहुत थका हुआ था और सो गया। कोसल कुमार ने सोचा अपने मां बाप के ख़ून का बदला लेने का यह अच्छा वक्त है। उसने फ़ौरन अपनी तलवार निकाली और राजा पर वार करना ही चाहता था कि उसे अपने बाप की आख़री वसीयत याद आ गई। उसने तलवार फेंक दी। राजा जाग गया और कोसल कुमार से माजरा पूछा। कोसल कुमार ने सारा क़िस्सा सच सच कह सुनाया। इस पर राजा ने उसे अपने हृदय से लगा लिया और अपने पिछले अपराध की माफ़ी मांगी। कोसल का राज्य उसे वापस कर दिया और अपनी लड़की से उसकी शादी करदी।

इसी तरह के उदाहरणों से ऋषि मुनि हिन्दुओं को अध्यात्मिक शिक्षा दिया करते थे। मित्रों के साथ बर्ताव और प्रेम के सम्बन्ध में यह शिक्षा दी गई है—

१—अपने मित्रों को उपहार दिया करो इससे प्रेम बढ़ता है;

२—अपने मित्रों से नम्रता और मिठास से बोलो,

३—उनके लाभ की बात सोचो,

४—उनके साथ बराबरी का बर्ताव करो और अपने लाभ के मुक़ाबले में पहले उनके लाभ को देखो,

५—अगर तुम ख़ुशहाल हो तो अपनी ख़ुशहाली में उन्हें शामिल करो,

६—जब वे ग़ाफ़िल हों उनकी खबरगीरी करो,

७—ख़तरे के समय उन्हें शरण दो,

८—मुसीबत के समय उनकी और ज़्यादा ख़ातिर करो, और

९—मित्र के सारे परिवार के साथ मेहरबानी और इनायत का बर्ताव करो।

इसी तरह सन्तान को अपने बाप के साथ, स्वामी को अपने सेवक के साथ, पति को अपनी पत्नी के साथ, शिष्य को अपने गुरू के साथ बर्ताव करने की विस्तृत नैतिक शिक्षा दी गई है। यहीं नहीं कि यह शिक्षा सिर्फ़ पुस्तकों में हो, बल्कि हिन्दुओं ने इस पर पूरा पूरा अमल भी कर दिखाया है।

हिन्दू शास्त्र, हिन्दू रहन सहन, हिन्दू काव्य सब प्रेम की शिक्षा देते हैं और तरह तरह से प्रेम की ही बड़ाई साबित करते हैं; यहां तक कि प्रेम को ही उन्होंने ईश्वर कहा है। हर चेतन और जड़ पदार्थ के साथ प्रेम और सेवा यह हिन्दू धर्म का सदा से लक्ष्य रहा है। लेकिन बाज़ स्वार्थी और अदूरदर्शी लोग हिन्दू जाति को अपनी सङ्कीर्णता और अदूरदर्शिता से बदनाम करते हैं और अपने ख़याल में समझते हैं कि वह हिन्दू जाति का बड़ा उपकार कर रहे हैं।

—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भगवान बुद्ध का कर्मयोग

आचार्य धर्मानन्द कौसाम्बी

[आचार्य कौसाम्बी जी ने २३ साल की अवस्था में भगवान बुद्ध के चरित्र से प्रभावित होकर गृह-त्याग किया। काशी में संस्कृत का अध्ययन किया। बौद्ध धर्म को समझने के लिये सिंहल और बरमा में बहुत दिनों तक मनन किया। अमरीका की हार्वर्ड यूनिवर्सिटी ने 'विसुद्धिमग्गो' ग्रन्थ के सम्पादन के लिये आपको बुलाया; और वहां चार बार जाकर आपने इस काम को पूरा किया। सन १९२९ में बौद्ध साहित्य के सम्पादन के लिये आप रूस गये। रूस ने आपको बहुत प्रभावित किया। १९३० में आपने सत्याग्रह में भी भाग लिया था। इसके बाद आपने "हिन्दुस्तानी संस्कृति आणि अहिंसा" नामक मराठी ग्रन्थ लिखा, जिसमें साम्यवाद और गान्धीवाद पर ऐतिहासिक विवेचना के साथ आपके विचार हैं। हम कौसाम्बी जी का पूरा परिचय किसी आगामी अङ्क में देंगे।]

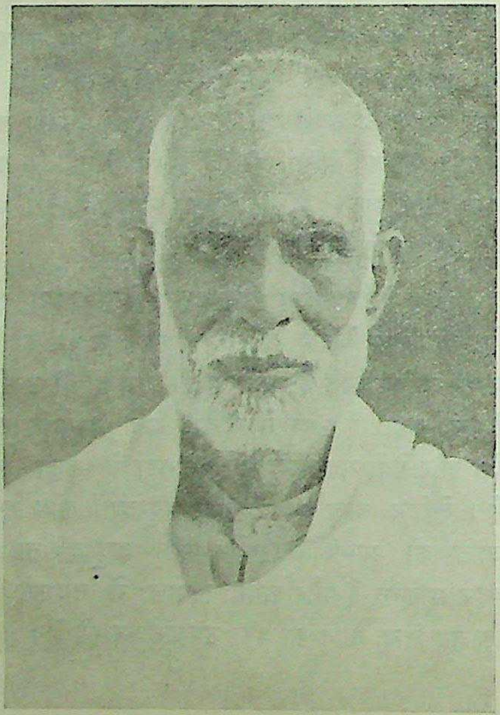

आचार्य धर्मानन्द कौसाम्बी

छोटे छोटे समूह आपस में लड़ते लड़ते फिर एक राजसंस्था को अस्तित्व में ले आये। लड़ाई में जय मिलना देवताओं के ऊपर निर्भर करता है, इस विश्वास से अग्नियाग और देवताओं की पूजा का प्रचलन शुरू हुआ और ब्राह्मण वर्ग की स्थापना हुई। सुमेरियन इतिहास से मालूम होता है कि देवता की पूजा करने वाले ही पहले राजा बन जाते थे। सिन्ध प्रदेश में भी यही प्रथा आर्यों के पहले प्रचलित थी। सिन्ध प्रदेश का प्रमुख राजा वृत्र, जिसको इन्द्र ने मारा ब्राह्मण था। उसके मारने के बाद इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी, यह कथा पुराणों में प्रचलित है। आर्यों के आगमन के बाद ब्राह्मण राजकीय सत्ता से अलग हो गये। देवता पूजा और अग्नियाग केवल यही इन लोगों के हाथ में रह गया। अग्नियाग करके आदमी स्वर्ग में देवताओं के साथ स्वर्ग-सुखों का अनुभव करता है, ऐसी एक कल्पना प्रचलित हो गई। आजकल के कर्म की जो कल्पना है, उसका अस्तित्व प्रमुख्य वैदिक वाङ्मय* में नहीं मिलता !

यह प्रश्न श्रवण-संस्कृति के साथ उठा। वैदिक अग्नियाग त्याज्य समझ कर जो ऋषि मुनि जंगल में तपाचरण करते थे, उन लोगों में जीव-दया का उत्कर्ष होता गया। यज्ञ-पशुओं का मारना ही नहीं, बल्कि छोटे छोटे प्राणियों को भी सताना ठीक नहीं, ऐसा इन लोगों का विश्वास था। किसी तरह से प्राणियों के प्रति

[* वेद, ब्राह्मण और अरण्यक। यद्यपि उपनिषदों की गणना वैदिक वाङ्मय में होती है, तो भी उनके ऊपर श्रवण संस्कृति का प्रभाव काफ़ी मालूम होता है। —लेखक]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपद्रव करने का नाम था हिंसा था, और ऋषियों की तपश्चर्या थी अहिंसा प्रधान। इसी अहिंसा से आत्मवाद का विकास हुआ। छोटे बड़े सभी प्राणियों में आत्मा होनी ही चाहिये; और आत्मा के मोक्ष के लिये तपश्चर्या करनी चाहिये, ऐसा एक मत बहुत से ऋषियों का हो गया। यही आत्मवाद प्रचलित कर्मवाद का उद्गम है।

ऋषियों की परम्परा से ही श्रवण-संघों की स्थापना हो गई। ऋषियों की तरह श्रवण जंगल में नहीं रहते थे। ये बस्ती के आसपास रहकर भिक्षान्न पर निर्वाह करते थे; और समय समय पर अपने तत्वज्ञान का सामान्य जन समूह को उपदेश देते थे।

इन संघों में निर्ग्रन्थों (जैनों) का संघ सबसे प्रभावशाली था। पूर्व कर्म से आदमी दुःख में गिरा है और इससे मुक्ति पाने के लिये घोर तपस्या करना आवश्यक है, ऐसी जैन साधुओं की मान्यता थी।

दूसरे जो सुप्रसिद्ध संघ बुद्ध पूर्वकाल में थे, उनमें मक्खलिगोसाल परिव्राजक संघ का नायक था। उनका मत यह था कि जीव चौरासी लक्ष योनियों में चक्कर खाते खाते परम विशुद्ध दशा में आकर तपस्वी होता है और मोक्ष पाता है। इसके पहिले ही प्रयत्न करके कोई मोक्ष नहीं पा सकता। यह कल्पना हिन्दू समाज में अंशतः आज भी मौजूद है।

केसकम्बली की तरह कोई कोई श्रवण संघ के नेता कर्म-अकर्म का सब वाद झूठा मानते थे। उनका मत था, चार महाभूतों से शरीर पैदा होता है और मरने के बाद उन्हीं चार भूतों में विलीन होता है। वे, जब तक आदमी ज़िन्दा है तब तक शरीर-स्वास्थ्य सम्पादित करना और भिन्न-भिन्न उपभोगों का आस्वाद लेना, परम धर्म मानते थे। लेकिन इन लोगों का बहुजन समाज पर ज़्यादा प्रभाव नहीं था। ब्राह्मण क्षत्रिय आदि जातियों पर अग्नियागों का प्रभाव था; और सामान्य लोगों पर तपस्या प्रधान श्रवण साधुओं का।

इसी परिस्थिति में गोतम बोधिसत्व का जन्म हुआ। वे शाक्य क्षत्रियों में एक थे। शाक्य और कोलिय, जो पड़ोसी और सम्बन्धी थे, आपस में रोहिणी नदी के पानी के बारे में बहुत लड़ते थे। कई एक बार पानी का बांध तोड़ देने से दोनों को पानी नहीं मिलता था, जिससे खेती का बहुत नुक़सान होता था। इस परस्पर के वैर का परिणाम यह हुआ कि शाक्यों और कोलियों की स्वाधीनता नष्ट हो गई और सार्वभौम सत्ता कोसल राज के हाथ में आ गई, पर तो भी रोहिणी नदी के लिये लड़ाई बीच बीच में चलती ही रही।

पाली वाङ्मय के प्राचीन अंश के अध्ययन से मालूम होता है कि युवक गोतम ने इस लड़ाई में भाग लेने से इन्कार किया और इसीलिये उनका गृह-त्याग करना ज़रूरी हो गया। यदि वह गृह-त्याग न करते, तो शाक्य उनके परिवार को अपने में से अलग कर देते। लेकिन केवल मात्र अपने कुटुम्ब की रक्षा करने की इच्छा गोतम की न थी। क्षत्रियों क्षत्रियों के युद्ध से समाज की जो हानि होती थी, उससे समाज का उद्धार हो सकता है या नहीं, इसका पता लगाना बुद्ध के गृह-त्याग का प्रधान उद्देश्य था। इस बात का ध्यान रखके बुद्ध चरित का अध्ययन करने से बहुत से तथ्यों पर प्रकाश पड़ेगा।

अनेक सम्प्रदायों का अभ्यास और तदनुसार तपश्चर्या करके गोतम को मालूम हुआ कि तत्कालीन कोई सम्प्रदाय इस समस्या का हल नहीं कर सकता। इसलिये उन्होंने तपश्चर्या छोड़कर स्वतन्त्र रूप से एक नये पथ का शोध शुरू किया और चार आर्य-सत्यों तथा उसके अन्तर्गत अष्टांगिक मार्ग का पता लगाया।

पहला आर्य-सत्य दुःख है। दुनियां में मनुष्य जाति जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से दुःख पाती है। सबसे दुःख यह है कि आदमी जिस वस्तु की इच्छा करता है, वह वस्तु उसे नहीं मिलती। अर्थात् अप्राप्य वस्तु के लिये उसकी तृष्णा बढ़ती रहती है। और यही दूसरा आर्य-सत्य है कि तृष्णा से सब दुःखों का उदय होता है। तृष्णा के निरोध से ही दुःख का निरोध होता है; यह तीसरा आर्य-सत्य है। और यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निरोध-प्राप्ति का रास्ता आर्य अष्टांगिक मार्ग है। यह चौथा आर्य-सत्य है। सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाचा, सम्यक कर्म, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम (प्रयत्न), सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि, ये अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग हैं।

इस तत्वज्ञान में आत्मा का कोई स्थान नहीं है। जो कुछ दुनिया में है सो दुःख है। और यह सारी मानव जाति का बाधक है। दूसरे को पीड़ित करके अपना सुख साधन करने की तृष्णा ही मनुष्य जाति के दुःख का प्रधान कारण है। दुःख का नाश तपश्चर्या अथवा अग्नियाग से नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य जाति तृष्णा का नाश नहीं कर सकेगी, तब तक किसी न किसी तरह से दुनिया का दुःख बढ़ता ही रहेगा। इस तृष्णा के नाश का यही रास्ता है कि आदमी आदमी के साथ सम्यक बर्ताव करे, यही अष्टांगिक मार्ग का रहस्य है। सम्यक वाचा, सम्यक कर्म इत्यादिक पशु के साथ हो नहीं सकता। आदमी आदमी के साथ शुद्ध बर्ताव करने के लिये ही यह अष्टांगिक मार्ग बताया गया है। इतर प्राणियों के ऊपर दया करना भी आदमियों के लिये आवश्यक है। उन प्राणियों के साथ क्रूरता का व्यवहार करने से आदमी क्रूर होकर स्वजाति के साथ भी उसी प्रकार का बर्ताव करता है। इसलिये दया सार्वत्रिक होनी चाहिये।

बुद्ध के इस तत्वज्ञान का शीघ्र प्रचलित होना असम्भव था। मगध देश में श्रवणों की संख्या काफ़ी थी। फिर भी इस मार्ग का उपदेश करने के लिये बुद्ध भगवान ने पंचवर्गीय भिक्षुओं को खोजते खोजते घोर गर्मी में गया से लेकर काशी तक नंगे पांव प्रवास किया। वहां आने के बाद भी पंचवर्गीय भिक्षुओं को मध्यम मार्ग समझाने में उनको बड़ा प्रयत्न करना पड़ा।

जिसने क्षत्रिय परम्परा छोड़ दी और जिसने तपस्या का त्याग करके श्रवण परम्परा को भी भंग कर दिया; उस धर्म संस्थापक का नास्तिक समझा जाना बिलकुल स्वाभाविक था। ब्राह्मणों का बुद्ध के ऊपर खुल्लमखुल्ला आरोप था कि वह चातुर्वर्ण्य संस्था को भंग करना चाहते थे। (चातुवण्णि-सुद्धिं पञ्ञापेति)१ और जैन उनको अकर्मवादी समझते थे। जब ये तपस्या ही नहीं मानते हैं, तब कर्म कहाँ रहा? आत्मा के मोक्ष के लिये तपस्या के अलावा दूसरा कर्म कौन हो सकता है?

वैशाली के सेनापति सिंह ने जैनों से सुनकर बुद्ध भगवान से प्रश्न किया कि आप अकर्मवादी समझे जाते हैं, क्या यह ठीक है? तब भगवान ने उत्तर दिया—"सच्चा कहने वाला मुझे अकर्मवादी भी कह सकता है। चूंकि मैं सब अकुशल कर्मों की अक्रिया करने का उपदेश करता हूं। दूसरा कोई सच कहने वाला मुझे क्रियावादी भी कह सकता है, क्योंकि सब कुशल कर्मों की क्रिया करने के लिये मैं उपदेश देता हूं।"

इस उपदेश तथा और अनेकों उपदेशों में बुद्ध अपने कर्मयोग का स्वरूप यह बताते हैं कि—सर्व अकुशल कर्मों का अर्थात् जिससे मानव जाति की यत्किंचित हानि हो, पूर्णतया त्याग करना और जिन से मनुष्य जाति का विकास हो, उन कुशल कर्मों की सर्व प्रकार से परिपूर्णता करना; और इसमें भी 'मैं वे कुशल कर्म कर रहा हूं' ऐसा अभिमान न रखना। यह विचार संक्षेप से धम्मपदं की निम्नलिखित गाथा में आ गया है—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ॥१८३॥ २

यही बुद्ध का अनासक्त योग कहा जाता है।

इस योग में बुद्ध ने आत्मा या परमेश्वर का सम्बन्ध क्यों नहीं रखा? कोई श्रवण अथवा ब्राह्मण संस्था उस युग में परमेश्वर को मानती ही नहीं थी। श्रवण (साधु) केवल आत्मा मानते थे; और इसमें बहुत विवाद उपस्थित था। एक सम्प्रदाय आत्मा के

१ अस्सलायन सुत्त मज्झिमनिकाय देखिये।

२ [सर्व पापों से अलिप्त रहना, कुशल कर्मों की परिपूर्णता करना और उसमें अपने चित्त को परिशुद्ध रखना, अहंकारादि से चित्त को मलिन न होने देना।]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिये जो कारण देता था, उनका खण्डन केसकम्बली की तरह के श्रवण साफ़ साफ़ करते थे। वे शरीर नष्ट होने के बाद रहने वाली आत्मा मानना शुद्ध मूर्खता समझते थे। जितना आत्मवाद का बल था, उतना ही अनात्मवाद का था। उनमें से कौन वाद झूठा और कौन सत्य था, इसका निर्णय करना बिलकुल असम्भव था। इसलिये बुद्ध का कहना यह था कि इस प्रकार का वाद मनुष्य जाति के लिये ख़तरा है। उससे किसी का फ़ायदा नहीं हो सकता। बुद्ध भगवान ने भिक्षुओं को बार बार कहा है—"तुम चार आर्य-सत्यों में स्थिर रहो और इस तरह के निरर्थक वाद में मत गिरो। दूसरे लोग कैसे चलते हैं, इसका विचार मत करो। स्वयं इस मार्ग पर चलकर दूसरे लोगों का कुकर्म हटा दो।" सल्लेख सुत्त में बुद्ध भगवान चुन्द भिक्षु से कहते हैं—"दूसरे जब हिंसक होते हैं, उसी समय में तुम लोग अहिंसक रहोगे; ऐसा शुद्ध मार्ग स्वीकार करो।······दूसरे परम लोभी होते हैं, तब तुम अत्यन्त निर्लोभी हो जाओ; ऐसे शुद्ध मार्ग पर चलो।" यह उपदेश विस्तृत है, इसका सारांश धम्मपद की निम्नलिखित गाथा में आ गया है—

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं॥
(२२३)

(क्रोध को क्षमा से, बुराई को भलाई से, कंजूस-पन को दान से और झूठ को सत्य से जीतें।) यानी दूसरे जब क्रोध के आवेश में हो जायं, तब तुम क्षमा-युक्त आचरण से उनपर जय प्राप्त करो। दूसरे जब दुष्टता का बर्ताव करें, तब तुम साधु आचरण द्वारा उन पर जय प्राप्त करो। दूसरे जब कृपणता का बर्ताव करें, तब दान के बर्ताव से उन पर जय प्राप्त करो। और असत्यवादियों को सत्य से ही जीतो।

ऐसा क्यों करना? इसका कारण निम्नलिखित गाथा में देते हैं—

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥ ५

(क्योंकि कि) वैर से वैरका शमन नहीं होता, क्षमा से ही वैर का शमन होता है, यह सनातन धर्म है।

बुद्ध का यह कर्मयोग अभी तक पूर्णतया सफल नहीं हुआ है। अशोक के युग में इसका कुछ प्रभाव मानव जाति पर पड़ा और इससे बहुत सा वैर भी नष्ट हो गया। फिर इसका सर्वथा अनुपालन करने में मानव जाति असमर्थ-सी हो गई। क्रिश्चियन धर्म ने इसका कुछ विकास करने का प्रयत्न किया। लेकिन इसलाम के उदय के बाद क्रिश्चियन धर्म वाले भी हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करने को धर्म समझने लगे। दोनों ही सम्प्रदाय परमेश्वर में अचल श्रद्धा रखने वाले थे; तो भी आपस में क्रुसेडस् की तरह के भयंकर धर्म-युद्ध को नहीं रोक सके। बुद्ध के युग में ईश्वरवाद नहीं था; यह हमारे देश का बहुत बड़ा सौभाग्य था; नहीं तो बुद्ध के इस वाद का भी ज़ोरों से विरोध करना पड़ता। आत्मवाद इतना तीव्र न था कि जिसकी परिणति क्रुसेडस् में हो जाय। इसका परिणाम यही होता था कि आदमी तपस्या में लग जाता और मनुष्य जाति की सेवा में अपनी सर्व सामर्थ्य को नहीं लगा सकता। बौद्ध धर्म जहां जहां गया, वहां वहां धर्म के लिये रक्त का एक बूंद भी नहीं गिरा। इसका कारण यही है कि यह धर्म ऐसे वादों से अलिप्त रहा।

आजकल परमेश्वर की भावना इतनी शिथिल हो गई है कि यह फिर क्रूसेडस् नहीं पैदा कर सकती। इसकी जगह पर आ गया है स्वदेशाभिमान। स्वदेश के लिये हिंसा क्या अथवा दूसरा कोई भी पाप वाञ्छ-नीय हो रहा है। इस देशाभिमान का प्रभाव सारी दुनियां पर पड़ रहा है। चीन और जापान बौद्ध होने पर भी इसी अभिमान के कारण लड़ रहे हैं। और इस लड़ाई को पाप समझने के बदले पुण्य समझ रहे हैं। यूरोप और अमरीका ने तो आज एक दो शताब्दी से इसी अभिमान में डुबकी लगा लिया है और उन लोगों का शासन हमारे ऊपर होने से हम लोग भी उन्हीं का अनुकरण कर रहे हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किन्तु. इस अभिमान से हमारे देश का ऐक्य होना असम्भव है। हिन्दू और मुसलमान जातियों का अभिमान तो भिन्न भिन्न ही रहेगा और हिन्दू में भी बंगाल, महाराष्ट्र, बिहार, पंजाब इत्यादिक देश यद्यपि अंग्रेज़ों की सर्वभौम सत्ता के अन्दर हैं, तो भी अंग्रेज़ी सत्ता के कमज़ोर होने पर इन सर्वजातियों का स्वदेशाभिमान जाग उठेगा और इस का शान्त करना कठिन हो जायगा।

हमारे सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट भाई कह रहे हैं कि यह समस्या वर्गकलह से ही हल हो जायगी। मुसलमान हिन्दू अथवा दूसरे कोई देश के मज़दूरों में बन्धुत्व बढ़ा कर इन लोगों को पूंजीवादियों के विरुद्ध खड़ा करने से पूंजीवाद नष्ट हो जायगा और सारी दुनियां में एक ही मज़दूर वर्ग रह जायगा। इस से देशाभिमान के सारे झगड़े मिट जायंगे। यह प्रयोग रूस में हो चुका है। इससे रूसी साम्राज्य में जो जातियां हैं, उनमें एक प्रकार का संगठन भी हुआ है। लेकिन इससे दुनियां की समस्या हल नहीं हुई। हिटलर के हाथ में आने के पहले जर्मनी में ५० लाख कम्युनिस्ट वोटर थे। वे कहां गये? स्वदेशाभिमान के सामने ये ५० लाख कम्युनिस्ट शस्त्र उठाने से भी इन्कार करते, तो भी जर्मन रूस के विरुद्ध युद्ध न कर सकता। जर्मनी के प्रतिकार के लिये रूस वर्गकलह का सहारा नहीं ले सका। फिर उसी त्याज्य देशाभिमान के आश्रय में जाना पड़ा। जर्मनी की युद्ध-घोषणा के तुरन्त बाद मोलोतोव ने जो भाषण दिया, उसे पढ़िये अथवा मास्को रेडियो का प्रचार सुनिये। इन सारी बातों में रूसी स्वदेशाभिमान प्रतीत होता है। वर्गकलह का नाम सुनने में भी नहीं आता। तब जिस देश में रूसी जाति की तरह कोई सर्वव्यापी प्रबल जाति नहीं है, उस देश की समस्या कम्युनिज़्म से कैसे हल हो जायगी?

हमारे देश के लिये और दुनिया के लिये फिर बुद्ध के बताये हुए कर्मयोग के बिना दूसरा रास्ता मुझे तो नहीं दीखता। महात्मा गान्धी जी ने इसका प्रयोग बहुत आगे बढ़ाया है। उसमें सिद्धि नहीं मिली इसलिये यह त्याज्य नहीं समझा जाना चाहिये। गान्धी जी ने ही अपने एक व्याख्यान में कहा है—"किन्तु अपने को निराश होने का कारण नहीं। बुद्ध देव की शिक्षा का आजतक पूरा अवकाश ही नहीं मिला। संसार की ज़िन्दगी में पचीस सौ बरस कुछ नहीं हैं। यदि भौतिक पदार्थों के विकास में करोड़ों वर्ष गुज़र जाते हैं, तो विचार की तरह सूक्ष्म वस्तु और आचार के विकास के लिये चमत्कार की आशा क्यों करें?"

इसका अनुभव तो हमारे इतिहास में आ चुका है। बुद्ध भगवान के परिनिर्वाण के समय उनका एक छोटा सा बौद्ध संघ था। इसकी वृद्धि होने के बाद अशोक की तरह सार्वभौम राजा पर इस कर्मयोग का प्रभाव पड़ने में ढाई सौ वर्ष लगे। तो आजकल के ज़माने में भी गान्धी जी के प्रयोग ५-२५ वर्ष में फलद रूप कैसे हो सकते हैं? यही हमारा सद्भाग्य है कि हिन्दुओं में से अधिकतर जन-समुदाय इस कर्मयोग का प्रयोग करना भी योग्य मानने लगा। इसका परिणाम कम से कम यह हो गया है कि चीन की तरह हमारा देश लड़ाई, क्रान्ति या विद्रोह से आक्रान्त होकर, और विपत्ति में नहीं गिरा है। सब स्वतन्त्र देशों की ओर देखिये और कहिये कि इसमें से कितने देश आज सुखी हैं? रूस की तरह कम्युनिज़्म स्वीकार कर बहुत से कारखाने बढ़ाना और जर्मन की तरह बलवान आक्रमणकारी के आ जाने से अपने हाथ से उन्हें तोड़ देना, कोई बुद्धिमत्ता है? इससे पहले ही ऐसा मार्ग खोजना आवश्यक है, जिसमें आक्रमणकारी कुछ भी नुकसान न कर सके। वरंच अपनी हिंसा का त्याग करे। वह रास्ता, जो बुद्ध भगवान ने बताया और जिसका प्रयोग गान्धी जी कर रहे हैं, वही हो सकता है। इसमें बहुत से विघ्न आवेंगे। जिनमें साम्प्रदायिकता और स्वदेशाभिमान ये दो बड़े हैं। हम लोगों को ख़्याल रखना चाहिये कि यह कर्मयोग इन दोनों विघ्नों से अलिप्त रहे। और हम इसी कर्मयोग का विकास करके दुनियाँ की जटिल समस्या को हल करें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति क्या है ?

आचार्य गुरुदयाल मल्लिक

आचार्य गुरुदयाल मल्लिक

संस्कृति का अर्थ है सत्यं, शिवं, सुन्दरं और अद्वैतम् के लिये अपने मस्तिष्क और हृदय में आकर्षण अनुभव करना, उनमें प्रेम करना और अभिव्यंजन के द्वारा उनकी प्रशंसा करना। हर एक व्यक्ति कभी न कभी उनकी तरफ़ आकर्षित तो होता ही है; लेकिन उस आकर्षण को स्थायी रूप से अनुभव करना और आकर्षण के कारण जो अध्यात्मिक अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं, उनको रूप देना बहुत कम लोग जानते हैं। ऐसी शक्ति तो केवल प्रभु की कृपा का फल ही है। जैसे हिमालय पर्वत के शिखर पर जब सूर्य्य की किरणें पड़ती हैं तो उस सुन्दर दृष्टि को बाहर की आंखों से तो सब देख सकते हैं और आनन्दित भी हो सकते हैं, लेकिन उस आनन्द को नृत्य या गीत या चित्र या साहित्य के रूप में प्रकाश करने की शक्ति कितनों में है? और अगर यह भी कहा जाय कि ऊपर आंख करके उस सुवर्णमयी चोटी को देखते ही कितने लोग हैं, तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि सच तो यह है कि स्वार्थ के दबाव से हमारी आंखें हमेशा ज़मीन की तरफ़ ही लगी रहती हैं और हम भूल जाते हैं कि आकाश में तारे चमकते हैं और बाग़ में फूल खिलते हैं और समाधि में प्रभु का परस मिलता है—अर्थात् कमल की तरह कीचड़ से ऊपर उठ कर सूरज की दिशा में मुंह करना हम नहीं जानते।

लेकिन यह कमल कैसा ?

यह कमल वह है जो युग युगान्तर से आत्मा के उद्यान में खिलता आ रहा है। उसका खिलाने वाला प्रभु है। धन्य है वह शक्ति जिसे इस कमल की ख़बर मिली है या जिसने उसकी सुगन्ध को आघ्राण किया है या उसकी शुभ्र ज्योति को देखा है।

हमारे मध्ययुग के साधु-सन्तों ने इस कमल को न केवल देखा था, बल्कि उसकी ख़बर सबको पहुंचाने की कोशिश भी की थी। उनका अपना अध्यात्मिक जीवन तो सर्वदा सुगन्धित था ही, उन्होंने भारत के प्राणों को भी सुगन्धित कर दिया, और उनकी साधना की सुगन्ध अब तक हमारे गांवों में पायी जाती है। मेरा तो अपना यह विश्वास है कि अगर गावों के लोगों में प्रभु के प्रति प्रेम अब तक पाया जाता है तो वह उन साधु-सन्तों की साधना का ही फल है। उन्होंने तो दैविक-कमल या सद्विचारों और सद् व्यवहार के बीज जगह-जगह बो दिये और जिस जिसने उस बीज को खाद दिया उसका बीज अंकुरित हुआ और उसने उस कमल की सुगन्ध और सौन्दर्य्य दोनों की ख़बर पा ली।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसलिये संस्कृति को आत्मा-कमल का खिलाना ही कह सकते हैं। किसी मनुष्य की मानसिक शक्ति या हाथ का कौशल कितना ही ऊंचे दर्जे का क्यों न हो, उसको संस्कृति का सचा पुजारी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि संस्कृति का सचा पुजारी वही हो सकता है जो अद्वैतम् का आदर्श सामने रखता है और अपनी हर एक कृति में या अपने हर एक कर्म में उसका प्रमाण देता है। यह कहना इसलिये पड़ता है क्योंकि देखा गया है कि मानसिक शक्ति वाले द्वैत भाव को ज़्यादा बढ़ाते हैं और बजाय जो एक है उसकी याद दिलाने के (वह एक सत्य हो या भगवान हो) अपनी ही तरफ़ ज़्यादा ध्यान खींचते हैं और ऐसे "मैं" और "तू", "मेरी" और "तेरी" का मन्त्र और भी ऊंचे स्वर से रटते हैं और औरों को भी रटना सिखाते हैं।

संस्कृति का उपासक बेशक सत्यं को देखे, सुन्दर को देखे, शिवं को देखे, लेकिन उन सब को अद्वैतम् की खिड़कियां समझकर ही देखे, नहीं तो वह संस्कृति का सच्चा और सीधा रास्ता भूल जायगा और उसकी कृतियां भूल भुलैयां का एक खेल बन जायेंगी।

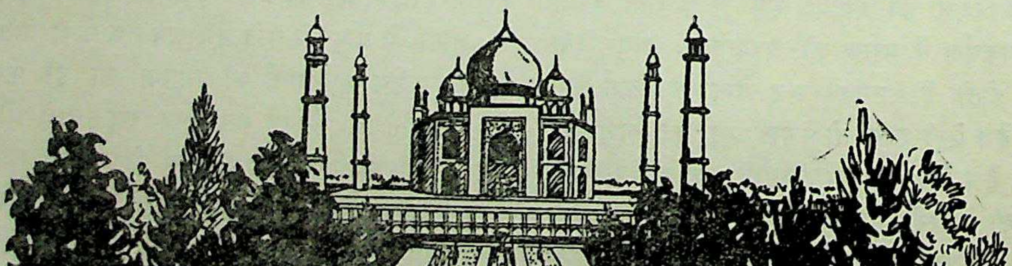

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

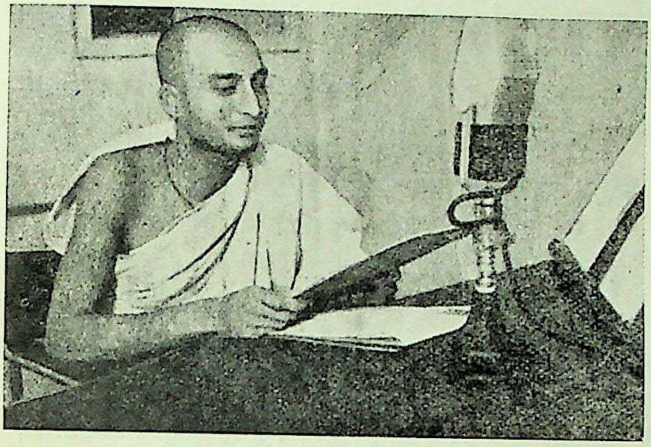

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

जो शब्द सब से कम समझ में आते हैं और जिनका उपयोग होता है सबसे अधिक; ऐसे दो शब्द हैं; सभ्यता और संस्कृति।

इन दो शब्दों के साथ जब अनेक विशेषण लग जाते हैं, उदाहरण के लिये जैसे भौतिक सभ्यता और आध्यात्मिक सभ्यता, तब दोनों शब्दों का जो थोड़ा बहुत अर्थ समझ में आया रहता है, वह भी ख़ल्त-मल्त हो जाता है। क्या ये एक ही चीज़ हैं अथवा दो वस्तुएं? यदि दो हैं, तो दोनों में क्या अन्तर है? हम इसे अपने तरीक़े पर समझने की कोशिश करें।

कल्पना कीजिये उस समय की, जब मानव समाज का अग्नि देवता से साक्षात नहीं हुआ था। आज तो घर घर चूल्हा जलता है; जिस आदमी ने पहले पहल आग का आविष्कार किया होगा, वह कितना बड़ा आविष्कर्ता रहा होगा?

अथवा कल्पना कीजिये उस समय की जब मानव को सुई धागे का परिचय न था; जिस मनुष्य के दिमाग़ में पहले पहल यह बात आई होगी कि लोहे के एक टुकड़े को घिस कर उसके एक सिरे मे छेद कर और छेद में धागा पिरो कर कपड़े के दो टुकड़े एक साथ जोड़े जा सकते हैं, वह भी कितना बड़ा आविष्कर्ता रहा होगा।

इन्हीं दो उदाहरणों पर विचार कीजिये; पहले उदाहरण में एक चीज़ है—किसी व्यक्ति विशेष की आग का आविष्कार कर सकने की शक्ति और दूसरी चीज़ है आग का आविष्कार। इसी प्रकार दूसरे सुई धागे के उदाहरण में एक चीज़ है सुई धागे का आविष्कार कर सकने की शक्ति और दूसरी चीज़ है सुई धागे का आविष्कार।

जिस योग्यता, प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा के बल पर आग का वा सुई धागे का आविष्कार हुआ, वह है व्यक्ति विशेष की संस्कृति. और उस संस्कृति द्वारा जो आविष्कार हुआ, जो चीज़ उसने अपने तथा दूसरों के लिये आविष्कृत की, उसका नाम है सभ्यता।

जिस व्यक्ति में पहली चीज़ जितनी अधिक वा जैसी परिष्कृत मात्रा में होगी, वह व्यक्ति उतनाही अधिक वा वैसाही परिष्कृत आविष्कर्ता होगा।

एक संस्कृत व्यक्ति किसी नई चीज़ की खोज करता है; किन्तु उसकी सन्तान, को वह अपने पूर्वज से अनायास ही प्राप्त हो जाती है। जिस व्यक्ति की बुद्धि ने अथवा उसके विवेक ने किसी भी नये तथ्य का दर्शन किया, वह व्यक्ति ही वास्तविक संस्कृत व्यक्ति है और उसकी सन्तान जिसे अपने पूर्वज से वह वस्तु अनायास ही प्राप्त हो गई है, वह अपने पूर्वज की भांति सभ्य भले ही बन जाय, संस्कृत नहीं कहला सकता। एक आधुनिक उदाहरण लें। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का आविष्कार किया।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह एक संस्कृत मानव था। आज के युग का भौतिक विज्ञान का विद्यार्थी न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण से तो परिचित है ही; लेकिन उसके साथ उसे और भी अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त है, जिनसे शायद न्यूटन अपरिचित ही रहा। ऐसा होने पर भी हम आज के भौतिक विज्ञान के विद्यार्थी को न्यूटन की अपेक्षा अधिक सभ्य भले ही कह सकें; पर न्यूटन जितना संस्कृत नहीं कह सकते।

आग के आविष्कार में कदाचित पेट की ज्वाला की प्रेरणा रही। सुई धागे के आविष्कार में शायद शीतोष्ण से बचने तथा शरीर को सजाने की प्रवृत्ति का विशेष हाथ रहा। अब कल्पना कीजिये उस आदमी की जिसका पेट भरा है, जिसका तन ढंका है, लेकिन जब वह खुले आकाश के नीचे सोया हुआ रात के जगमगाते तारों को देखता है, तो उसको केवल इसलिये नींद नहीं आती क्योंकि वह यह जानने के लिये परेशान है कि आख़िर यह मोती भरा थाल क्या है? पेट भरने और तन ढंकने की इच्छा ही मनुष्य की संस्कृति की जननी नहीं है। पेट भरा और तन ढंका होने पर भी ऐसा मानव, जो वास्तव में संस्कृत है, निठल्ला नहीं बैठ सकता। हमारी सभ्यता का एक बड़ा अंश हमें ऐसे संस्कृत आदमियों से ही मिला है, जिनकी चेतना पर स्थूल भौतिक कारणों का प्रभाव प्रधान रहा है, किन्तु उसका कुछ हिस्सा हमें ऐसे मनीषियों से भी मिला है जिन्हों ने तथ्य विशेष को किसी भौतिक प्रेरणा के वशीभूत होकर नहीं, बल्कि उनके अपने अन्दर की सहज संस्कृति के ही कारण प्राप्त किया है। रात के तारों को देखकर न सो सकने वाला मनीषी हमारे आज के ज्योतिष ज्ञान का ऐसा ही प्रथम पुरस्कर्ता था।

भौतिक प्रेरणा, ज्ञानेप्सा क्या ये दो ही मानव संस्कृति के माता पिता हैं? दूसरे के मुंह में कौर डालने के लिये जो अपने मुंह का कौर छोड़ देता है, उसको यह बात क्यों और कैसे सूझती है? रोगी बच्चे को सारी रात गोद में लिए जो माता बैठी रहती है, वह आख़िर ऐसा क्यों करती है? सुनते हैं कि रूस का भग्य विधाता लेनिन अपने डैस्क में रखे हुए डबल रोटी के सूखे टुकड़े स्वयं न खाकर दूसरों को खिला दिया करता था। वह आख़िर ऐसा क्यों करता था? संसार के मज़दूरों को सुखी देखने के स्वप्न देखते हुए कार्ल मार्क्स ने अपना सारा जीवन दुःख में बिता दिया। और इन सबसे बढ़ कर आज नहीं, आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व एक सिद्धार्थ ने अपना घर केवल इसलिये त्याग दिया कि किसी तरह तृष्णा के वशीभूत लड़ती कटती मानवता सुख से रह सके।

हमारी समझ में मानव की जो योग्यता आग व सुई धागे का आविष्कार कराती है, वह भी संस्कृति है; जो योग्यता तारों की जानकारी करती है, वह भी संस्कृति है; और जो योग्यता किसी महामानव से सर्वस्व त्याग कराती है, वह भी संस्कृति है।

और सभ्यता? सभ्यता है संस्कृति का परिणाम। हमारे खाने पीने के तरीक़े, हमारे ओढ़ने पहनने के तरीक़े, हमारे गमना-गमन के साधन, हमारे परस्पर कट मरने के तरीक़े, सब हमारी सभ्यता हैं? मानव की जो योग्यता उस से आत्म-विनाश के साधनों का आविष्कार कराती है, हम उसे उसकी संस्कृति कहें वा असंस्कृति? और जिन साधनों के बल पर वह दिन रात आत्म-विनाश में जुटा हुआ है, उन्हें हम उसकी सभ्यता समझें वा असभ्यता? संस्कृति का यदि कल्याण की भावना से नाता टूट जायगा तो वह असंस्कृति होकर ही रहेगी और ऐसी संस्कृति का अवश्यम्भावी परिणाम असभ्यता के अतिरिक्त दूसरा क्या होगा?

हम अनेक बार संस्कृति और सभ्यता के ख़तरे में होने की बात सुनते हैं। हिटलर के आक्रमण के कारण मानव संस्कृति तो ख़तरे में पड़ी कही ही जाती है, लेकिन उससे ज़्यादा ज़ोर से हम अपने देश में हिन्दू संस्कृति अथवा मुसलिम संस्कृति के लिये ख़तरे की बात सुनते हैं। ताजिये को निकालने के लिये पीपल का तना कट गया, तो हिन्दू संस्कृति ख़तरे में पड़ जाती है और मस्जिद के सामने बाजा बज गया, तो मुस्लिम संस्कृति कहीं की नहीं रहती? हम न तो 'हिन्दू

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति' को ही समझते हैं न मुस्लिम संस्कृति को। 'हिन्दुओं की संस्कृति' या 'मुसलमानों की संस्कृति' कुछ समझ में भी आती है, लेकिन यह 'हिन्दू संस्कृति' और 'मुस्लिम संस्कृति' क्या बला है? लेकिन जिस देश में पानी और रोटी का भी हिन्दू मुस्लिम बटवारा मौजूद हो, उसमें संस्कृति के बटवारे पर क्या आश्चर्य !

हिन्दुओं की संस्कृति में भी प्राचीन संस्कृति और नवीन संस्कृति का बटवारा मौजूद है। वर्ण-व्यवस्था के नाम पर मनुष्य समाज के बड़े कर्मठ हिस्से को पद दलित रखना ही कुछ लोगों की दृष्टि में प्राचीन हिन्दू संस्कृति है। वे उसी की रक्षा को स्वराज की स्थापना मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति की छीछा-लेदर की हद नहीं। संस्कृति के नाम से जिस कूड़े करकट के ढेर का बोध होता, है वह न संस्कृति है न रक्षणीय वस्तु। क्षण क्षण परिवर्तित होने वाले संसार में कोई चीज़ पकड़कर बैठा नहीं जा सकता। मानव ने जब जब प्रज्ञा और मैत्री भाव से किसी नए तथ्य का दर्शन किया है तो उसने कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी है, जिसकी रक्षा के लिए दलबंदियों की ज़रूरत है।

मानव संस्कृति एक अविभाज्य वस्तु है और उसमें जितना अंश कल्याणकर है, वह अकल्याणकर की अपेक्षा श्रेष्ठ ही नहीं स्थायी भी है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारत और चीन का सांस्कृतिक सम्बन्ध

प्रोफ़ैसर तान युन-शान

भारत और चीन दो सगी बहिनों की तरह हैं। आपसी सम्बन्ध और समानता को देखते हुए दोनों एक दूसरे से बेहद निकट और अभिन्न हैं। दुनियां के समस्त देशों के इतिहास और भूगोल को देख जाइये, भारत और चीन का जो सम्बन्ध है वह दुनियां के किसी दूसरे दो देशों में न मिलेगा। किन्हीं दो देशों की तुलना भारत और चीन के साथ नहीं हो सकती। चाहे जिस पहलू से और चाहे जिस तरह से देखिये यही बात सच्ची ठहरेगी। हमारे दोनों देश महान एशिया महाद्वीप के अंग हैं, भारत दक्षिण-पच्छिम में है और चीन उत्तर-पूरब में। हालाकि दोनों दो भिन्न भिन्न दिशाओं में फैले हुए हैं फिर भी दोनों एक गाड़ी के दो पहियों की तरह या एक पक्षी के दो पंखों की तरह हैं। अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि दोनों किसी व्यक्ति के दो हाथों, दो पैरों, दो कानों या दो आंखों की तरह हैं। भव्य और महान ऐश्वर्यशाली विराट हिमाञ्चल दोनों की रीढ़ की हड्डी, कन्धे, या गर्दन की तरह है, और यही कहना चाहिये कि हिमालय ही नदियों की विगलित धाराओं के रूप में दोनों देशों की रक्त-धारा या धमनियों का काम देता है। यद्यपि दोनों देश दो दिशाओं में बसे हुये हैं, फिर भी उनका भौतिक रूप एक सा है।

एक प्राचीन चीनी कहावत में एक महान देश और उसकी घनी आबादी का ज़िक्र आता है। भारत और चीन दोनों ही देश महान हैं और दोनों की आबादी घनी है। इसके अतिरिक्त दोनों देशों की ज़मीन उपजाऊ, रमणीक और समृद्धिशाली है। दोनों देशों की जनता ईमानदार और मेहनती है। हमारी उपजाऊ ज़मीन में थोड़े परिश्रम से ही बहुत पैदावार होती है। उससे न केवल दोनों देशों की जनता का काम चल जाता है, बल्कि इतना बचता है कि अन्यान्य देशों को भी हम बहुत कुछ दे सकते हैं।

हमारी सभ्यता अति धुंधले प्राचीन काल से शुरू होती है, जिसके निर्माण को हज़ारों वर्ष बीत चुके। चीन के इतिहास का जो निश्चित लेखा मिला है, उसके अनुसार चीन में हुवांग-ति साम्राज्य की नींव सन् २६९७ ईसा पूर्व में पड़ी। इस तरह चीनी पञ्चाग के अनुसार यह ४६३८ वां चीनी संवत्सर है। किन्तु ऐतिहासिक काल के पूर्व का प्रागैतिहासिक काल भी हज़ारों वर्षों के इतिहास में छाया होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हज़ारों वर्ष पुरानी अनेक चीनी पुस्तकों के अनुसार चीनी सभ्यता हुआङ्ग-ति के साम्राज्य से १८ हज़ार वर्ष पहले प्रारम्भ हुई। पर ये उल्लेख इतने प्राचीन हैं कि इन पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। हुआङ्ग-ति के शासनकाल के बाद की घटनाओं का एक एक प्रामाणिक उल्लेख हमें मिलता है। इन उल्लेखों में किसी प्रकार के सन्देह की कोई गुंजाइश ही नहीं है। भारत के सम्बन्ध में प्राचीन चीनी ग्रन्थों में बहुत कुछ वर्णन दिया हुआ है। प्राचीन चीनी ग्रन्थों के अनुसार प्राचीन भारत प्राचीन चीन की ही तरह एक महान देश था। वर्तमान इतिहासज्ञों ने अपनी खोजों से यह बात साबित की है कि वेदों का रचना-काल तीन हज़ार ईसा पूर्व से दो हज़ार ईसा पूर्व तक का है, और भारतीय सभ्यता लगभग पांच हज़ार वर्ष पुरानी है, इस बात के मानने में किसी तरह का सन्देह रह ही नहीं जाता। लिपि का आविष्कार किसी भी सभ्यता की प्रगति का सबसे बड़ा और आवश्यक अङ्ग है। किसी भी देश की प्राचीन लिपि को जान लेने से उस देश की प्राचीन सभ्यता के इतिहास को जाना जा सकता है। चीनी लिपि हुआङ्ग-ति के समय में पूर्ण उन्नति कर चुकी थी। लेकिन उसको उन्नति करने में और पूर्णता तक पहुँचने में कम से कम सैकड़ों वर्ष अवश्य लगे होंगे। प्राचीन चीनी ग्रन्थों और उपाख्यानों के सम्बन्ध में इतने अधिक प्रमाण मिले हैं कि उन्हें यहां उद्धृत करने की जगह नहीं। 'फ़ा-युवान-चु-लिन' नामक चीनी पुस्तक में, जिसका शब्दार्थ है "बौद्ध संसार के मोती" और जिसे प्रसिद्ध भिक्खु, ताओ-शिह ने ताङ्ग राजकुल के समय में लिखा था, हमें भारतीय लिपि प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ सुन्दर वाक्य मिलते हैं। उसमें लिखा है—"प्राचीन काल की लिपियों के तीन महान आविष्कारक हुये, इनमें पहला ब्रह्मा था, जिसने बायें से दायें की तरफ़ लिखना शुरू किया, दूसरा खारू था, जिसने दाहिने से बाईं ओर लिखना शुरू किया और तीसरा त्स'अङ्ग-चिआ था, जो ऊपर से नीचे की ओर लिखता था।" इसका अर्थ यह कि ब्रह्मा ब्राह्मी लिपि का आविष्कारक था, खारू खरोष्टि लिपि का आविष्कारक था और त्स'अङ्ग-चिआ चीनी लिपि का आविष्कारक था। यह चीनी आविष्कारक हुआन-ति के राज्य में एक पदाधिकारी था। वास्तव में चीनी लिपि का आविष्कारक त्स'अङ्ग-चिआ न था, उसने तो केवल चीनी लिपि-साहित्य का संकलन और सम्पादन किया। उपरोक्त पुस्तक के अन्दर नीचे लिखे वाक्य भी आते हैं, "ब्रह्मा सबमें जेठा था, उसके बाद खारू था, ये दोनों 'तिएन्चु' (भारत) में रहते थे और त्स'अङ्ग-चिआ सब में छोटा था और मध्य-राज्य (चीन) में रहता था।"

इस उद्धरण से साबित होता है कि भारतीय लिपि का आविष्कार सम्राट अशोक से बहुत पहले हुआ होगा, या कम से कम त्स'अङ्ग-चिआ के समय वह अपने चरम सीमा पर थी। हाल में पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने भारत में जो खुदाइयां की हैं, उससे यह बात निश्चित ही मालूम हो जायेगी कि भारतीय साहित्य को कब से लिपिबद्ध किया जाने लगा। फिर भी यह स्पष्ट है कि भारतीय और चीनी सभ्यता दोनों एक समान हैं और दोनों सम-कालीन हैं।

संसार के प्राचीन सभ्य देशों में चार मुख्य हैं—(१) मिस्र (२) बाबुल (३) भारत और (४) चीन। इनमें से प्राचीन मिस्र और बाबुल ऐतिहासिक दृष्टि से अतीत के गह्वर में समा गये हैं। न केवल उनके मूल निवासी ही नष्ट हो गये, बल्कि अतीत की पट-भूमिका में ये सभ्यताएं धुंधले सान्ध्य-प्रकाश की तरह रह गई हैं। उनके देश और उनके शहर पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए खोज और खुदाई के स्थान मात्र रह गये हैं, और उनकी महान् विद्यायें तथा उनकी कवितायें लोगों के शोक संगीत की विषय मात्र हैं। युगों की दौड़ में अनेक युवक-राष्ट्र बने और बिगड़े। उन्होंने उन्नति की और उनका पतन हुआ। केवल दो देश चीन और भारत हज़ारों वर्ष से लेकर अब तक उसी तरह दृढ़ और गर्वोन्नत खड़े हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हालाकि हमारे दोनों देश अनेकों बार विदेशियों द्वारा कुचले गये, रौंदे गये, और गुलाम बनाये गये, फिर भी हमारे उन्नत व्यवहार और आदर्श, हमारी शिक्षाएं और हमारे रीति रिवाजों ने जंगली और हिंसक आक्रामकों को अपने अन्दर लीन करके उन्हें सभ्य और सुसंस्कृत बना लिया। इसलिये हमारे ये दोनों देश और देशों के मुक़ाबले में स्थिर और क़ायम रहे तथा दोनों सदा ऐश्वर्यपूर्ण रहे। भारत और चीन केवल इन दोनों देशों के इतिहास की यह आश्चर्यजनक विशेषता है।

चीन के राष्ट्रीय स्वभाव में प्रेम और नम्रता ये दो ख़ास गुण हैं; और उन्हें पालन करने से मनुष्य 'जेन' (पूर्णत्त्व) प्राप्त करता है। भारत के राष्ट्रीय स्वभाव की भी जो मौलिक विशेषताएं हैं, वे हैं प्रेम और शान्ति, और जिनके पूर्णत्त्व का परिचय हमें 'अहिंसा' शब्द में मिलता है। भारत और चीन में दया, नम्रता, प्रेम और शान्ति चारों गुण एक ही अर्थ में प्रयोग होते हैं। चीन में जीवन का आधार दिव्य-पथ है। भारतवासी प्रकृति के साथ समन्वय को जीवन का आदर्श मानते हैं। वे सदाचार, संयम और विवेक पर बेहद ज़ोर देते हैं। जड़ और चेतन की एकाकारिता में भारतीय आदर्श पूर्णत्त्व पाता है। चीनियों में पितरों की पूजा का रिवाज है, जिससे वहां कुटुम्ब के प्रति प्रेम की भावना बेहद होती है। इसीलिये चीन में पीढ़ी दर पीढ़ी बड़े बड़े सम्मिलित कुटुम्ब क़ायम रहे। यही हाल भारतीय जनता का भी है। भारतवासी भी प्रेम को बेहद महत्व देते हैं। वे अपने गुरुओं और अपने बुजुर्गों के प्रति बेहद आदर दिखाते हैं। चीन भी यही करता है। सामाजिक व्यवहार में चीनी 'न्याय' और 'सद्भावना' को महत्व देते हैं। किसी से 'फ़ायदा उठाने' और 'नुक़सान होने' को वे कोई महत्व नहीं देते। बल्कि इन दोनों शब्दों से उन्हें सख़्त नफ़रत है। भारतवासियों का भी यही हाल है। सदाचार और लज्जा को भारतवासी आदर्श समझते हैं। लज्जा को स्त्रियां अपना आभूषण समझती हैं। यही चीन में भी है। सदाचार और नैतिक नियमों के सम्बन्ध में हमारे देश के ऋषियों और सन्तों ने भी बहुत ज़ोर दिया है। सन्त कन्फ़्यूशियस ने जनता के लिये 'वू-चाङ्ग' ५ नैतिक नियम बनाये हैं। वे ये हैं—(१) 'जेन', जिसका अर्थ है परोपकार, (२) 'यि' जिसका अर्थ है सचाई, (३) 'लि' जिसका अर्थ है औचित्य, (४) 'चिह', जिसका अर्थ है ज्ञान, (५) 'हि्सान', जिसका अर्थ है विश्वासपात्रता। वर्धमान जिन और शाक्य मुनि बुद्ध दोनों ने पंचशील या पांच नैतिक नियमों का प्रचार किया है। वर्धमान ने कहा है (१) सच बोलो (२) पवित्र और सादा जीवन व्यतीत करो (३) किसी की हिंसा न करो (४) चोरी न करो (५) सदाचारी जीवन व्यतीत करो। बुद्ध ने कहा है (१) हिंसा न करो (२) चोरी न करो (३) व्यभिचार न करो (४) झूठ न बोलो (५) नशा न करो। चीनी जनता 'चिह-जेन-चुङ्ग' या ज्ञान, परोपकार और साहस इन तीनों गुणों को मानवता के लिये आदर्श समझती है। भारतीय जनता भी शील, समाधि और प्रज्ञा को जीवन-यात्रा के लिये प्रकाशस्तम्भ मानती है। भारत और चीन के इतिहास उस तरह के नैतिक आदर्शों की तुलना से भरे पड़े हैं।

हमारे राष्ट्रीय जीवन की ये कुछ समानताएँ हैं। जहां तक भारत और चीन के सांस्कृतिक समन्वय का सम्बन्ध है, यह दो हज़ार वर्ष से अधिक हुये शुरू हुआ। बुद्ध चरित में लिखा है कि एक बार भगवान बुद्ध को आचार्य विश्वामित्र ने अनेक पुस्तकों का उद्धरण देते हुए बताया था कि एक ऐसी किताब है, जिसे लोग चीनी ग्रन्थ कहते हैं। दूसरे बौद्ध ग्रन्थ "रत्न कथा" में हमें कुछ चीन प्रदेशों के नाम जैसे 'कु,' 'शु,' 'चिन' मिलते हैं। चीन के ग्रन्थों में इस तरह के अगणित उल्लेख मिलते हैं। उस समय जब कि आजकल के प्रमुख और शक्तिवान राष्ट्रों का कोई अस्तित्त्व ही नहीं था, जब कि आज के सभ्य देशों की जनता जंगली स्थिति में ही पड़ी हुई थी, जब कि वे लोग खेती-किसानी तक नहीं जानते थे, उस समय भारत और चीन धन और समृद्धि की दृष्टि से अपने शिखर पर थे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उन्होंने ऐश्वर्यशाली और महान सभ्यताओं को जन्म दिया और उस समय की दुनियां में यूरोप अमरीका आदि जितनी उन्नति आज नहीं कर सके, उससे कहीं अधिक उन्नति चीन और भारत ने की। पाश्चात्य सभ्यता का क्या सार है, जिस पर गोरे मनुष्यों को इतना अभिमान है और जिसे आम जनता इतने आश्चर्य से देखती है? वह है—विज्ञान। भारत और चीन में इस पुराने ज़माने में विज्ञान का सूत्रपात हो चुका था। हज़ारों वर्ष पूर्व भारत में पंच विद्याओं का अविष्कार हो चुका था, जिन्हें चीन में 'यू-मिन' कहा जाता था। वे ये थीं—(१) शब्द विद्या (२) शिल्प कर्म स्थान विद्या (३) चिकित्सा-विद्या (४) हेतु विद्या और (५) अध्यात्म विद्या। जिन्हें उस समय चीन की छै कलाओं का ज्ञान था उन्हें आजकल 'लु-ई' कहते हैं। वे थीं—(१) 'लि' नैतिकता (२) 'मु'—संगीत (३) 'सिह'—धनुर्विद्या (४) 'यु'—अश्व-संचालन (५) 'शु'—लिपि ज्ञान (६) 'सु'—गणित। इनके अतिरिक्त छै लिपियां थीं और 'लु-चिङ्ग' नामक छै धर्म-ग्रन्थ थे। इसके अतिरिक्त चिकित्सा, शस्त्र क्रिया, गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष, कुम्हार का काम, निर्माण कला आदि विद्याएं थीं। वर्तमान पश्चिम की चीज़ें जैसे रेल, जहाज़, समुद्री लड़ाई के जहाज़ डुबकिनी किश्ती, तोपें, बन्दूकें, बम, टैंक, ज़हरीली गैस, मृत्यु-किरणों जैसे रक्तपात और क़त्लेआम के भयानक अस्त्र-शस्त्र हमारे चीन और भारत में न थे।

चीन और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध की चरचा अनेक प्राचीन चीनी ग्रन्थों जैसे "लीह-त्सु" "चो-सू-चियी", "लि-सिन-चूआन", "सिह-लाओ-चिह" अर्थात् बुद्ध और लाओत्ज़े के ज़रूरी आदेश, "त्सि-लु" अर्थात् सात नियम, "चिङ्ग-लु" अर्थात् पौराणिक उपाख्यान और "फू-त्सु तुङ्ग-चि" अर्थात् "बुद्ध का जीवन चरित" आदि। किन्तु यह तो मैं संक्षेप में कह रहा हूं। यह कोई विस्तृत वर्णन नहीं है। इतने प्राचीन काल की सही-सही तस्वीर पाना अत्यन्त असम्भव है। किन्तु एक बात बलकुल साफ़ है और वह यह कि जब तक दोनों देशों का एक बहुत बड़े काल तक आपसी सम्बन्ध पूरी तरह क़ायम होकर न चलता रहता; तब तक हमें उस सम्बन्ध का इतना स्पष्ट और विस्तृत वर्णन न मिलता। भारत और चीन के सांस्कृतिक सम्बन्ध के ऐतिहासिक उल्लेख हमें निश्चित रूप से उस समय मिलते हैं, जब बौद्ध धर्म ने चीन में प्रवेश किया। बौद्ध धर्म चीन में सबसे पहले हान राज कुल के मिन्नति साम्राज्य के दसवें वर्ष में, जो युङ्ग-पिङ्ग कहलाता है, यानी सन् ६७ ई० में पहुंचा; जब कि पहली बार एक चीनी सम्राट ने अपनी राजधानी लो-याङ्ग में बौद्ध धर्म को शाही संरक्षण दिया। किन्तु वास्तव में सन् ६७ ई० के बहुत पहले बौद्ध धर्म चीन में पहुंच चुका था। और चीनियों के बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बहुत पहिले हमारे दोनों देशों का सांस्कृतिक मेल जोल प्रारम्भ हो चुका था। हालाकि यह सही है कि सबसे पहले सन् ६७ ई० में चीनी सम्राट ने बाज़ाब्ता बौद्ध धर्म का स्वागत किया और भारत और चीन का सांस्कृतिक मेल उसके बाद ज़ोरों से शुरू हुआ। अनेक भारतीय सन्त और विद्वान चीन पहुँचे और चीन के विद्वान और भिक्खु बहुत बड़ी संख्या में समय समय पर भारत पहुंचे। फिर बौद्ध धर्म को माध्यम बना कर चीनी और भारतीय संस्कृतियों के समन्वय का कार्य अधिक गम्भीरता से बढ़ा। चीन की पुस्तक "लि-ताइ-काओ-सेंग-च्नान" में जो एक महान भिक्खु के जीवन-वृत्तान्त का संकलन है, लिखा है कि दो सौ चीनी भिक्खुओं ने भारत जाकर सफलतापूर्वक भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया और चौबीस भारतीय सन्तों ने आकर सफलतापूर्वक बौद्ध धर्म का प्रचार किया। किन्तु यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि आवागमन में कष्टों के कारण सैकड़ों चीनी भिक्खु और भारतीय पंडित मृत्यु को प्राप्त होगये होंगे; अथवा जिन्हें सफलता भी मिली होगी, उन्होंने अपने नाम और यश को लिपिबद्ध न करना चाहा होगा। एक दूसरी पुस्तक, जिसका नाम तांग-काओ-सेंग-चुआन" है और जिसमें तांग राजकुल के समय के प्रसिद्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भिक्खुओं का वर्णन है, उस ग्रन्थ में नीचे लिखी दो पंक्तियां हैं, जिनका अनुवाद इस प्रकार है—

"चाँग-अन (चीन) के बहुत दूर पच्छिम में जहां विद्या प्राप्त करने जो सहस्रों व्यक्ति जाते हैं, उनमें से दस फ़ी सदी भी तो नहीं लौटते !"

उपरोक्त उद्धरण से हमें मालूम होता है कि जो असंख्य व्यक्ति चीन से भारत आये, उनमें से विरले ही ऐसे भाग्यशाली थे, जो वापस लौटकर चीन पहुंचे होंगे। यही हाल भारतीयों का भी हुआ होगा, जो चीन जाकर भारत सकुशल लौटे होंगे। उस ज़माने में यात्रियों को पैदल ही मध्य एशिया से होकर आना जाना पड़ता था। रास्ते में भयंकर मरुस्थल और गहन वन, हिमाच्छादित पर्वत और हिंसक पशु भरे पड़े थे। फिर भूख प्यास और सरदी से सभी नहीं बच पाते थे। जब यात्री चीन से भारत या भारत से चीन आते-जाते थे, तो वर्षों की कठोर तपस्या के बाद एक देश से दूसरे देश तक पहुंच सकते थे। उन मुश्किलों की कल्पना करने से ही हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। किन्तु दुनिया की जिन पवित्र आत्माओं ने इस तरह के कष्टों की रंच मात्र भी परवाह न करके संस्कृति और धर्म के महान सन्देश को कोटि कोटि जनता तक पहुँचाया, अपने उन पूर्वजों की इस साहसपूर्ण और कठोर तपस्या के प्रति हमारे मस्तक आदर और श्रद्धा के साथ झुक जाते हैं। उनके आदर्श से हमें उनके रास्ते पर आगे चलने के लिये बल मिलता है।

चीनी सभ्यता पर भारतीय संस्कृति का जो प्रभाव पड़ा है, उसे शब्दों में व्यक्त कर सकना असम्भव है। दर्शन-शास्त्र के दृष्टिकोण से कनफ़्यूशस और ताओ धर्मावलम्बियों के विचार "वे" राजकुल के समय से "त्सिन" राजकुल के समय तक (सन् २२० ई० से ४१९ ई० तक), भारतीय विचारों के साथ बिलकुल घुल मिल कर एक हो गये थे। समन्वय की यह क्रिया तांग राजकुल (६७८ से ९०६ ई०) के समय पूर्णता पर पहुंची और बाद में पांचों राजकुल (९०७ से ९५६ ई०) तक यही समन्वयात्मक भावना बनी रही। अन्त में सुंग राजकुल (सन् ९६० से १२७६ ई०) के समय निह्सिओ नामक प्रकाण्ड दर्शन शास्त्री का जन्म हुआ। जहां तक साहित्य का सम्बन्ध है, त्सिन और ताङ्ग राजकुल के समय के कथा-साहित्य, पौराणिक-साहित्य और सुंगओ मिङ्ग (सन् १३६० से १६४२) राजकुल के समय दर्शन-विज्ञान पर भारतीय साहित्य का स्पष्ट और ज़बरदस्त प्रभाव दिखाई देता है। यहां तक कि चीनी लिपिबद्ध साहित्य के क्रम पर भी भारतीय प्रभाव पड़ा। तांग राजकुल के समय के एक बौद्ध सु-वेन ने संस्कृत वर्णमाला के आधार पर ३६ अक्षरों की एक वर्णमाला तैयार की, जिसके फलस्वरूप चीनी शब्दों के उच्चारण, उनकी ध्वनि और उनकी लै में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। कला की दृष्टि से चीन में भारत की अनेकों बातें, जैसे पगोडा (चीनी बौद्ध मन्दिर) और मूर्त्ति निर्माण-कला और, चित्र-कला आदि प्रचलित हुईं। जहां तक भारतीय धार्मिक ग्रन्थों के चीनी अनुवाद का सम्बन्ध है, वह तो एक आश्चर्यजनक वस्तु है। इतना शुद्ध और इतना उत्तम अनुवाद शायद ही दूसरा हो सकता था। आज कल के किसी भी राष्ट्र के अनुवादित ग्रन्थ इतने शुद्ध और इतने उत्तम नहीं हो सकते। बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण ग्रन्थों के सम्पूर्ण अनुवादों के अतिरिक्त प्राचीन भारत के अनेकों ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। इनमें से हमें कुछ ग्रन्थों के नाम "सु-ई" राजकुल के कैटलाग (ग्रन्थ-सूची) में मिले हैं, जैसे ब्राह्मण-गणित-ज्योतिष," "ब्राह्मण-गणित," "ब्राह्मण आयुर्वेद," "ब्राह्मण-फलित-ज्योतिष," "पंचाङ्ग" और अर्थ गणित," "गान्धारी, पौराणिक उपाख्यान" आदि। इन पुस्तकों और दूसरी पुस्तकों की तादाद अगणित थी। एक एक पुस्तक के कई कई अनुवाद किये गये। और एक-एक पुस्तक सैकड़ों भागों में बंटी हुई थी। दुर्भाग्य की बात यह है कि यह साहित्य मौलिक रूप में लगभग नष्ट हो गया है। बौद्ध धर्म के जो ग्रन्थ अनुवादित हुये, उनमें जगह-जगह भारत की सामाजिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और सांस्कृतिक स्थिति के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, धार्मिक आचार-विचार, यम-नियम आदि पर भी प्रकाश पड़ता है। संक्षेप में भारत की शिक्षा, भारत के विचार, भारत के धार्मिक नियम और सामाजिक व्यवस्था, जन सामान्य के आचार-विचार आदि क़रीब-क़रीब सभी विषय चीनी अनुवाद ग्रन्थों में अनुवादित हैं। और इन सब ग्रन्थों ने चीन के जीवन पर ज़बरदस्त असर डाला है। हेतु और परिणाम, जीवन और मृत्यु, पाप और पुण्य, सज़ा और जज़ा आदि विविध विचारों और सिद्धान्तों का चीनी जनता के हृदय पर गहरा असर पड़ा और चीनी जनता के विचार उससे परिपक्व हुए तथा चीनी समाज-व्यवस्था में इन विचारों ने अपना निश्चित प्रभाव छोड़ा।

इस सब के विपरीत भारतीय सभ्यता पर चीनी संस्कृति का प्रभाव क़रीब क़रीब नहीं के बराबर है। चीन में हम हर जगह भारतीय कला और भारतीय सांचे की चीज़ देख सकते हैं, किन्तु भारत में हमें चीन की कोई मौलिक वस्तु नहीं दिखाई देती। ऊपर मैंने लिखा है कि भगवान बुद्ध से आचार्य विश्वामित्र ने "चीनी ग्रन्थ" नामक एक पुस्तक का ज़िक्र किया था। पर उस नाम का कोई ग्रन्थ अब भी भारत में है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। उन कुछ चीनी ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि प्रसिद्ध यात्री हुआन-त्सांग ने संत लाओत्ज़े के प्रसिद्ध चीनी ग्रन्थ, "ताओ-ते-चिङ्ग" (नीति दर्शन) का संस्कृत में अनुवाद किया था। किन्तु संस्कृत साहित्य का मेरा ज्ञान इतना थोड़ा है कि मैं यह नहीं जानता कि संस्कृत में क्या कोई ऐसी पुस्तक मौजूद है? यह एक विचारणीय विषय है कि चीनी संस्कृति पर भारत का प्रभाव इतना अधिक पड़ा, किन्तु भारतीय संस्कृति पर चीन का प्रभाव इतना कम क्यों पड़ा? यदि हम इन दोनों संस्कृतियों के मौलिक गुणों की तुलना करें, तो भारत का धर्म और दर्शन मानव इतिहास की अनुपम वस्तु है। किन्तु चीनी सदाचार और कला भी सर्वोत्तम और अद्वितीय हैं। चीन के अनेक प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका अनुवाद हो सकता था और जिनका अनुवाद होना चाहिये था। फिर इतने अधिक प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद हुआ और चीन के किसी भी महान् ग्रन्थ का संस्कृत में अनुवाद क्यों नहीं हुआ? मैंने बहुधा इस सम्बन्ध में सोचा है और मैं समझता हूं कि इसके तीन कारण हो सकते हैं— (१) भारत पर कुछ समय के लिये चीनी संस्कृति का प्रभाव पड़ा होगा, किन्तु युगों के दौर में यह प्रभाव नष्ट हो गया होगा। (२) भारतीय जनता के अन्दर अपने धर्म के प्रति इतना अधिक अनुराग रहा होगा कि उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों की तरह उत्साह के साथ केवल दूसरों को ही अपने धर्म की दीक्षा दी; लेकिन दूसरों से किसी सचाई को स्वीकार करने के लिये उनके मन ने गवाही नहीं दी। (३) यह कि चीनी भावना केवक ग्रहणशील थी कि दूसरे के दान को उन्होंने अपने अन्दर खपा लिया, किन्तु वे इतने शरमीले थे कि अपनी संस्कृति के प्रचार करने में उन्हें नम्रता के विपरीत बात दिखाई दी। बहर हाल मैं यह समझता हूं कि चीन ने भारत से बहुत कुछ लिया, पर भारत को दिया बहुत कम। उसे भारत के प्रति अपना आभार प्रदर्शन करना चाहिये और अपने जर्जर पात्र से अपने पड़ोसी की अभ्यर्थना करनी चाहिये।

फिर भी चीन ने व्यक्त रूप से न सही तो अव्यक्त रूप से ही सही भारतीय संस्कृति के लिये कुछ तो किया ही है। उसने विविध समयों में भारत से जो कुछ पाया है, उसे यत्न पूर्वक संचित और सुरक्षित रक्खा है, उसको स्वीकार किया है, उसका प्रचार किया है और उसको उन्नति दी है। बहुमूल्य भारतीय ग्रन्थों के चीनी अनुवाद सब के लिये आश्चर्य और आदर की वस्तु हैं। वे हमारे लिए खोज के अनन्त साधन हैं। यदि कोई व्यक्ति प्राचीन भारत को पूरी तरह समझना चाहता है, तो उसे ये चीनी अनुवाद बेहद मदद देंगे। चीनी यात्रियों के कुछ मौलिक ग्रन्थ, जैसे फ़ा-हियान का लिखा हुआ "यू कुओ-चि" अर्थात् बौद्ध देशों का वर्णन, या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हुश्रान-त्सांग का लिखा हुआ "सि-यू-चि" अर्थात् 'पाश्चात्य राज्यों का वर्णन' और ई-त्सिङ्ग का लिखा हुआ "नान-हाई-कुइ-चुश्रान" अर्थात् 'दक्षिणी समुद्र का सन्देश' आदि ग्रन्थ प्रचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री हैं। इन यात्रियों की उपरोक्त पुस्तकों का अनेक विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और ऐसे विद्वान और इतिहासज्ञ, जो प्राचीन इतिहास की खोजों में दिलचस्पी लेते हैं, इन यात्रा-वर्णनों का कुतूहल के साथ अध्ययन करते हैं। इन ग्रन्थों ने भारतीय संस्कृति की महानता की रक्षा का कितना अनुपम काम किया है! किन्तु चीन ने भारतीय सभ्यता की जो सब में बड़ी सेवा की है, वह बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में है। यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म ने हिन्दुस्तान में जन्म लिया, चीन में उसने विकास पाया और इसके बाद वह सारे संसार में फैला। मैंने एक बात उपमा के तौर पर एक बार कही थी कि बौद्ध धर्म भारत की एक सुन्दर कन्या है, जिसका चीन के साथ विवाह हुआ और जहां उसने सुखपूर्ण जीवन व्यतीत किया। पुत्र और कन्याओं से भरपूर उसका परिवार था और वहां उसके कोटि कोटि नाती पोते हैं। अपनी मातृभूमि के प्रति श्रद्धा अर्पित करने के लिए, इस महिला को फिर से अपने मायके (भारत) आना चाहिये। मेरी इस बात पर आचार्य क्षिति मोहन सेन ने कहा था—"किन्तु उसे अपने पति और अपने बच्चों को भी साथ लाना चाहिए।" आचार्य सेन महोदय की यह कितनी गम्भीर और महत्त्वपूर्ण टिप्पणी है? चीन का यह कर्त्तव्य है कि वह एक बार इस महिला को भारत भेजे और भारत का कर्त्तव्य है कि वह अपनी इस दुहिता का प्रेमपूर्ण स्वागत करे।

ऊपर मैंने हमारे दोनों देश भारत और चीन के सांस्कृतिक सम्बन्ध का निरूपण किया है। किन्तु यह हमारा दुर्भाग्य था कि पिछली कई सदियों से हमारा आपसी प्रेम सम्बन्ध धीरे धीरे कम होकर समाप्त हो गया। इसका कारण यही हो सकता है कि दोनों देशों की परिस्थिति में एकदम से कुछ व्यापक परिवर्तन हो गये। इसके साथ साथ यूरोप में वर्तमान् विज्ञान ने बेहद उन्नति और शक्ति संचय की; और इतने ज़ोर से वह गरजा कि मानव-समुद्र की उठती हुई लहरों में औद्योगिक क्रान्ति का तूफ़ान आ गया। चूंकि यूरोपीय सभ्यता का इतिहास अभी शैशव अवस्था में था; इसलिये उनका धर्म, उनका दर्शन और उनके नैतिक विचार परिपक्व नहीं थे और इसलिये वे इस तूफ़ान को क़ाबू में नहीं कर सके। सब में दयनीय बात यह हुई कि उनके उत्पादन के ज़रिये ही उनके नाश के हथियार बन गये। उनकी धन की भूख और रक्त की प्यास ने उन्हें नाश के कुत्सित और पाप-पूर्ण अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिये मजबूर किया। उनके भयङ्कर लोभ ने विनाशकारी युद्ध और लड़ाइयों को जन्म दिया। यूरोप का हर देश पागल हो उठा है और जीवन का हर क्रम मानों बिगड़ गया है और हर बात परेशानी पैदा कर रही है। पिछला महायुद्ध इस भौतिक पागलपन का एक बड़े पैमाने पर पहला प्रदर्शन था। इस पागलपन का पिछले महायुद्ध से भी अधिक भयङ्कर प्रदर्शन हम आज अपनी आंखों के सामने देख रहे हैं। न केवल पश्चिम ही इस विपत्ति से गुज़र रहा है, वरन् एशिया के देश भी इस विपत्ति से सन्तप्त हो रहे हैं। विशेषकर हमारे दोनों देश चीन और भारत इस भयङ्कर दुर्भाग्य के भंवर के बीच से गुज़र रहे हैं। जितनी हमारी संस्कृति उत्तम थी, उतना ही भयंकर हमला हमें झेलना पड़ रहा है। हमारी सभ्यताओं के सम्बन्ध में बेहद ग़लतफ़हमी का प्रचार किया गया है, हमारा राष्ट्रीय जीवन नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया है, हमारा सामाजिक जीवन कष्ट-पूर्ण अवस्था से गुज़र रहा है और हमारी जनता को नफ़रत और अवज्ञा से देखा जा रहा है। नतीजा यह हुआ कि हमारे सामने अपनी ही इतनी ज़बर्दस्त राष्ट्रीय समस्याएं खड़ी हो गईं कि हमें भौतिकवाद के इस पागल तूफ़ान से अपने को बचाने का अवकाश ही नहीं मिला। हम पिछले ज़माने के अपने महत्वपूर्ण और घनिष्ट राष्ट्रीय सम्बन्ध को स्थिर न रख सके।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हालाकि ज़ाहिरा तौर पर हमारा राष्ट्रीय सम्बन्ध टूट गया था फिर भी अध्यात्मिक रूप से एक दूसरे के प्रति हमारा प्रेम और हमारी सहानुभूति बराबर बनी रही। जैसे ही परिस्थिति अनूकूल हुई, हमारा परस्पर प्रेम-सम्बन्ध फिर पुराना जैसा ही क़ायम हो जायगा। सन् १९२४ में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आचार्य क्षितिमोहन सेन, आचार्य नन्दलाल बोस, प्रोफ़ैसर कालिदास नाग और हाल की पंडित जवाहरलाल नेहरू की चीन यात्रा से हमारे प्राचीन सम्बन्ध का फिर से सूत्रपात हो गया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की चीन यात्रा ने चीनी मानस को जितना अधिक प्रभावित किया था, वह शायद हमारे प्राचीन सन्त भी न कर पाये थे। साधारणतया चीनी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टाकुर और महात्मा गान्धी को आधुनिक बुद्ध स्वीकार करते हैं। गुरुदेव के अङ्गरेज़ी ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका है और उनके गीत 'स्ट्रे बर्ड्स' और 'क्रेसेएट मून' ने चीनी कविता के छन्दों और लय में क्रान्ति पैदा कर दी है। चीन में इस समय एक 'क्रेसेएट मून' सोसायटी है और एक 'क्रेसेएट मून' मासिक पत्रिका निकल रही है। ये दोनों चीज़ें डाक्टर हु-शिह ने भारतीय महाकवि और दार्शनिक की स्मृति में क़ायम की हैं। जहां तक समस्त एशियाई संस्कृतियों की पुनर्जाग्रति और भारतीय और चीनी संस्कृतियों के परस्पर सम्पर्क का गुरुदेव का आदर्श था, हमारे चीनी विद्वानों की उस ध्येय से पूर्ण सहानुभूति है। हमारे प्रमुख नेताओं और विद्वानों ने हमेशा इसी सम्बन्ध में सोचा है और दोनों देशों के सम्मिलित प्रयत्न से इस उद्देश्य की प्राप्ति की सुखद कल्पना की है। अब समय आ गया है जब कि भारत और चीन अपने प्राचीन सम्बन्ध को फिर से पूरी तरह स्थापित करें।

इसी विचार को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने नम्र तरीक़े से 'साइनो-इण्डियन कलचर सोसायटी' नामक आन्दोलन पिछले ७-८ वर्षों से शुरू किया है। इस संस्था का उद्देश्य है कि दोनों देशों के साहित्य एक सूत्र में गुथ जांय, हमारी संस्कृतियों का आदान प्रदान हो और हमारे दोनों देशों की जनता के बीच में बन्धु भाव और मैत्री बढ़े, जिससे हम सार्वभौमिक सुख शान्ति और मानव भ्रातृ-प्रेम की भावना को आगे बढ़ा सकें। चीन में हमारे अनेक प्रमुख विद्वानों और बौद्धों ने इस संस्था को अपनाया है और मुझे विश्वास है कि भारत में भी यहां के प्रमुख नेता और सांस्कृतिक विद्वान इस भावना का पूरी तरह समर्थन करेंगे।

इस समय की दुनियां भयंकर हिंसा और बवंडर के बीच से गुज़र रही है। अभी आगे क्या क्या होगा, यह हमारी कल्पना से बाहर की बात है। क़त्लेआम के भयंकर से भयंकर हथियारों का प्रयोग किया जा रहा है। संसार की वर्तमान सभ्यता के सम्बन्ध में राजनैतिज्ञ कहते हैं कि यह एक राजनैतिक समस्या है, अर्थ शास्त्र के विद्यार्थी कहते हैं कि यह एक अर्थ शास्त्र की समस्या है। किन्तु वास्तव में दुनियां की वर्तमान समस्या केवल एक सांस्कृतिक समस्या है। यदि हम अपनी बीमारी का सांस्कृतिक इलाज न ढूंढ़ेंगे, तो भविष्य के भयंकर नाश से कोई नहीं बचा सकता। पाश्चात्य शक्तियां हिंसा के भयंकर दानव के सामने नत मस्तक खड़ी हैं। इसीलिये भारतीयों और चीनियों का यह और भी आवश्यक कर्तव्य है कि वे मानव उद्धार की समस्त ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर लें। वास्तव में भारतीय और चीनी संस्कृतियां ही मानव आत्मा को नई जीवनधारा दे सकती हैं। भारतीय और चीनी संस्कृतियाँ ही एक मानव सभ्यता का निर्माण कर सकती हैं, जिसका उद्देश्य मानव मात्र का कल्याण होगा। यूरोप और अमरीका के दार्शनिक विद्वान्, जो अपनी संस्कृति की कमियों से पूरी तरह परिचित हो गये हैं, वे अपनी सभ्यता के महारोग की दवा भारतीय और चीनी संस्कृतियों के अन्दर खोज रहे हैं। अब समय आ गया है कि हम भारतीय और चीनी जागकर अपने पुराने राष्ट्रीय सम्बन्ध को फिर से क़ायम करें। अपने सांस्कृतिक समन्वय से हम अपने अन्दर एक नई रूह फूंक देंगे और एक नई मानव सभ्यता का निर्माण करेंगे। अपनी नई सभ्यता से हम समस्त मानव जाति का उसके दुःखों से उद्धार करेंगे। हमारे दोनों देशों ने अतीत में एक भव्य संसार का निर्माण किया था, क्या हम भविष्य में पुनः उस भव्य-संसार का निर्माण न कर सकेंगे ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शिव और उनके नृत्य

प्रोफ़ैसर भगवती प्रसाद पान्थरी एम. ए.

पौराणिक और तांत्रिक साहित्य के विकाश ने हमारे यहां विभिन्न प्रकार की, देवी-देवताओं की, उपासना के बढ़ावा दिया। पौराणिक और तांत्रिक विचार धाराओं का मूल वैदिक साहित्य ही था।

फलतः ये देवी-देवता सभी वैदिक और प्राक् वैदिक देवी-देवताओं के ही परिष्कृत और परिवर्द्धित स्वरूप के लिये रहे। यह पौराणिक विचारधारा लगभग गुप्त युग के समय बहुत बलवती हो गई और उसके अनुरूप कलाकारों की श्रेणियों ने देवी-देवताओं की मूर्त्तियों के ढालना आरंभ कर दिया। पौराणिक त्रिमूर्त्ति अर्थात् "ब्रह्मा, विष्णु और शिव" देव-परिवार में सर्वश्रेष्ठ माने गये, और तद्नुसार इन्हीं की मूर्तियां अधिकतया बनाई जाने लगीं।

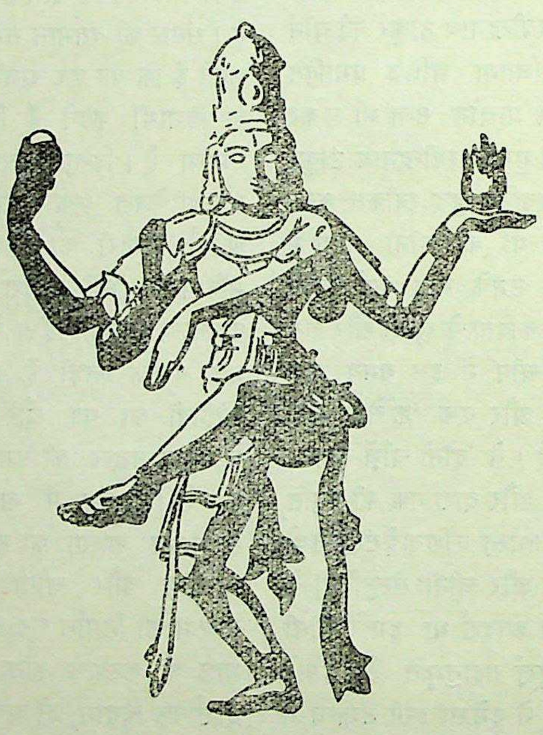

तीसरी शताब्दी ई० पू० की एक त्रिमूर्ति पेशावर के म्यूज़ियम में रखी हुई है। इस त्रिमूर्ति के तीन सिर हैं जो पृथक रूप से ब्रह्मा, विष्णु और शिव के द्योतक हैं।

किन्तु त्रिमूर्ति की यह धारणा वैदिक कालीन प्राचीनता के लिये है! अग्नि, वायु अथवा इन्द्र और सूर्य की वैदिक त्रिमूर्ति ही पौराणिक युग में चलकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति में परिवर्तित हो गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय देवी-देवताओं के इतिहास में ब्रह्मा, विष्णु और शि, की प्रमुखता है। यद्यपि तीनों एक ही परमात्मा के तीन रूप हैं जो उनके तीन पृथक गुणों के द्योतक हैं।

"एक मूर्त्तिरपि भिन्न रुपिणी या जगज्जनन पालन क्षये।" पौराणिक रूप से ब्रह्मा सृष्टि के उत्पन्न करने वाले हैं, विष्णु जगत के पालनकर्त्ता हैं और जीवन के नष्ट करने वाली प्रवृत्तियों का संहार करने के लिये अवतार लिया करते हैं। संसार का प्रलय और विकाश करने वाले शिव अथवा रुद्र हैं, जो प्रलयंकारी नटराज का परिवेश धारण कर संहार-काल में विकट नृत्य किया करते हैं।

त्रिमूर्ति की इस विचार-धारा में धीरे-धीरे ब्रह्मा का लोप हो गया। ब्रह्मा के गुण विष्णु और शिव में ही समाहित कर दिये गये। इसके दो कारण थे; प्रथम, यह कि स्तुति के नाते वे (ब्रह्मा) सभी पूजाओं में विद्यमान समझे जाने लगे, और दूसरा, यह कि सृष्टि-कर्त्ता के रूप से विश्व-निर्माण के पश्चात् उनका कार्य सम्पूर्ण हो गया और तदनन्तर किसी भी प्रकार की अभ्यर्थना उन्हें सजग करने में असमर्थ थी। इसीलिये आज हमारे यहां सम्पूर्ण भारतवर्ष में कठिनता से एक या दो मन्दिर ब्रह्मा के पाये जाते हैं।

ब्रह्मा के इस प्रकार लोप हो जाने पर विष्णु और शिव की प्रधानता हुई। विष्णु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के उपासक वैष्णव और शिव के शैव कहलाये।

वैष्णवों के अनुसार विष्णु—ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों के प्रतिरूप हैं। इसी प्रकार शिव, शैवों के अनुसार पूर्ण त्रिमूर्ति के प्रतीक हैं। विभिन्नता में एक-रूपता के सिद्धान्त का यह दार्शनिक स्वरूप है।

शिव, ब्रह्मा और विष्णु परस्पर भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं—शक्ति रूप में तीनों एक हैं और आकार रूप में तीनों अलग हैं। वस्तुतः परब्रह्म के त्रि-गुणों के वे तीन रूप अथवा त्रिमूर्त्ति हैं तथा प्रकृति में निहित तीन गुणों (सत्–रज–तम) के तीन प्रतीक हैं।

इस विवेचना को यहां पर अधिक न बढ़ाकर हम शिव और उनके नृत्यों के दार्शनिक स्वरूप पर अब प्रकाश डालेंगे।

शिव के रूप : भारतीय साहित्य में वर्णित शिव के दो प्रमुख रूप दिये गये हैं : एक शान्त और दूसरा रौद्र रूप। पहिला रूप शिव, महादेव या शम्भू और दूसरा भैरव नाम से प्रख्यात है। भैरव शिव का वैदिक मूल रूप रुद्र का ही विकसित और परिवर्तित स्वरूप है।

शम्भू के स्वरूप में उनका मस्तक अर्द्ध-चन्द्र विभूषित होता है—हाथों में शूल, धनुष, पिनाक आदि लिए होते हैं, मस्तक पर तृतीय नेम होता है और वृषभ उनका वाहन होता है—

शंभो शिरसिन्दु कला वृषध्व
जोऽक्ष्णि च तृतीय मप्यूर्द्धम्।
शूलं धनुः पिनाक वामार्द्धे वा गिरीसुनार्द्धम्
—बृहत संहिता

मत्स्य पुराण के अनुसार शिव सर्पों से अलंकृत रहते हैं—"भुजंगा भरणस्तथा।"

विभिन्न आकारों के अनुरूप उनके हाथों की संख्या चार, आठ, दस, बारह, और सोलह तक होती है। समाधि रूप में उनके चार या आठ हाथ होते हैं, किन्तु नृत्य करते समय उनके दस हाथ होते हैं और त्रिपुर राक्षस का दमन करते हुए उनके १६ हाथ हो जाते हैं—

नृत्ये दशभुजः कार्यो गजासुरवधे तथा।
तथा त्रिपुर दाहेच वाहवः षोड़शैव तु॥
चतुर्भुजोऽष्टवाहुर्वा ज्ञान योगेश्वरो मतः॥
—मत्स्य पुराण

हेमाद्रि के अनुसार वृष पर आरूढ़ शिव के पांच मुख होते हैं, जिनमें चार सौम्य और एक विकट होता है—

रुद्रस्य देवदेवं महादेवं वृषारूढ़न्तु कारयेत्।
तस्याक्ताणि कार्याणि पंच यादवनन्दन।
सर्वाणि सौम्य रूपाणि दक्षिणं विकटं मुखम्।

भैरव का रूप रौद्र होता है, उनकी दंत-पंक्ति कराल होती है और सर्पों के भूषण तथा कपाल-मालाओं से अलंकृत होते हैं। सर पर योगी की जटा और हाथों की संख्या १२ होती है। (हेमाद्रि, अग्निपुराण)

लम्बोदरन्तु कर्त्तव्यं वृत पिंगल लोचनम्
दंष्ट्रा कराल वदनं फुल्लनासापुटन्तथा।
कपाल मालिनं रौद्रं सर्व्वतः सर्पभूषणम्।
—हेमाद्रि
भैरवाश्चार्कहस्तः स्यात् कूर्प रास्यो जटेन्दुभृत
—अग्नि पुराण।

भारतीय कलाकारों के अवशिष्ट प्राचीन प्रतिमा-करण पुराणों के इन स्वरूपों पर ही निर्मित हुए हैं (Indian Images, Vol. I, By B. C. Bhattacharya. PP-2-22)

किन्तु नृत्य करते हुए शिव की प्रतिमा उत्तर भारत में बहुत कम मिली हैं!

शान्त रूप में शिव हर-गौरा अथवा उमा-महादेव के स्वरूप में पाये जाते हैं। इस रूप में उमा उनकी बांई जंघा पर आसीन होती हैं। शिव के इस रूप में दो या चार हाथ होते हैं और मस्तक पर तीसरा नेत्र खिला होता है। यह तीसरा नेत्र "ज्ञान-नेत्र"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है जिसके द्वारा पौराणिक गाथानुसार उन्होंने काम को भस्म किया था !

दाहिने हाथ में शिव त्रिशूल धारण किये रहते हैं और बांये हाथ की हथेली उमा के वक्षस्थल पर होती है। तथा महादेव के बांये भाग को देवगण स्पर्श किये रहते हैं—

चतुर्भुजं-द्विबाहुं वा जटाभारेन्दु भूषितम्।
लोचनत्रय संयुक्तन्तु मैकस्कन्ध पाणिनम्॥
दक्षिणेनोत्पलं शूलं वामं कुच भरं करम्।
वामे तु संस्थिता देवी तस्योरौ वाहुगूहिता॥
वामांशम् देव देवस्य स्पृशन्ती लीलया क्वचित।
—मत्स्य पुराण

उत्तरी भारत में पाये गये शिव के प्रतिमा-करण पुराणों में इन विवरणों के अनुसार ही मिलते हैं।

शिव का एक रूप अर्द्धनारीश्वर भी है। इसमें शिव और पार्वती एकाकार दिखलाये गये हैं। शिव वाला अर्द्ध भाग जटा, वालइन्दु और त्रिशूल लिये है; दूसरा अर्द्ध भाग उमा का है। उमा—पार्श्व कानों में कर्णफूल पहिने होती हैं, छाती उभरी हुई होती है और हाथ में दर्पण लिये रहती हैं।

अ न देव देवस्य नारी रूपं सुशोभनम्।
ईशार्द्धे तु जटा भारो वालेन्दु कलयायुतः॥
उमार्द्धे तु प्रदातव्यौ सीमन्त तिलका वुभौ।
त्रिशूलं वापि कर्त्तव्यं देव देवस्य शूलिनः॥
वामतो दर्पणं दद्याद्युत्पलं वा विशेषतः।
स्तन भारमथार्द्धे तु वामे पीनं प्रकल्पयेत॥
—मत्स्य पुराण

यह अर्द्ध नारीश्वर की मूर्ति ईश्वर के पुरुष और नारी तत्वों के समवाय को व्यक्त करती है।

शिव का स्वरूप अध्यात्मिक रूप से गुणातीत स्थिति तथा मंगल (शिवम्) को व्यक्त करता है। शिव मंगल की मधुमय प्रतिमा हैं। वे सत्, रज, और तम से उत्पन्न होने वाले सब गुणों से परे हैं—अपर हैं !

शिव का वाहन नान्दी धर्म का प्रतीक है।

गंगा अलौकिक शुचिता की प्रतीक है। सर्प—विकाश, पुनर्जन्म और विनाश का प्रतीक है। शिव का रौद्र रूप रुद्र अथवा भैरव है और यह रूप विश्व-संहार का हेतु होता है ! समय सब कुछ नष्ट कर देता है। शिव और समय एक हैं। इसलिये शिव का एक नाम महाकाल भी है। उनके गले पर लिपटा हुआ और पूंछ को मुख में डाले हुए सर्प समय के आदि अन्त-विहीन चक्र को व्यक्त करता है। इसी समय के चक्र पर संसार का जीवन पलटे खाता फिरता है। समय के प्रत्यावर्तन के साथ विश्व परिवर्तित होता रहता है और सर्प की केंचुली बदलने की भांति मनुष्य नये-नये जीवन धारण करता हुआ जन्म मरण के चक्कर में पड़ा हुआ उठता-गिरता जाता है।

शिव का एक और नाम "वयोमोक्षे" अर्थात् 'आकाश रूपी जय वाला' भी है। अतः आकाश पर उदित होने वाला वाल-इन्दु उनके ही मस्तक पर उगता है। इसलिये शिव-मस्तक के अलंकारों में वाल-इन्दु भी दिया जाता है। ये ही शिव, अपने रौद्र वेश में रुद्र और भैरव स्वरूप में प्रकट होकर विश्व-संहार करते हैं। अतः सर्प जो मुंह से विष उगलता है, गले पर होता है और साथ ही त्रिशूल हाथ में लिये तथा कपाल-माला पहने होते हैं जो सब विनाश के प्रतीक हैं। विश्व को भस्म करने के लिये उनके हाथ में अग्नि भी होती । किन्तु अग्नि नष्ट नहीं करती, परिवर्तन लाती है, अतः शिव का सृष्टि विनाश परिवर्तन के लिये होता है। इस विकट रूप में वे नाच उठते हैं और संसार प्रलय की समाधि पर झुकने लगता है। किन्तु संहार के लिये ही नहीं सृष्टि के समय भी शिव मंगलमय होकर सृजन के आनन्दातिरेक में प्रफुल्ल होकर नाचा करते हैं।

शिव के विभिन्न रूपों में एक रूप नटराज का है जिसमें वे नृत्य किया करते हैं। सम्पूर्ण जगत उनकी रंग-भूमि होती है—जहां पर वे नृत्य करते हैं। इन नृत्यों के वे स्वयं कलाविद् तथा प्रेक्षक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होते हैं। अपने नृत्य के आनन्दातिरेक में वे एकाकी बहा करते हैं।

शिव के विभिन्न नृत्यों का भाव आदि गति-व्यंजक शक्ति को व्यक्त करना है।

शिव के प्रमुखतया तीन नृत्य हैं। प्रथम—सांध्य नृत्य है जो देवताओं के साथ हिमालय में हुआ था। शिव प्रदोश स्तोत्र में इस नृत्य का विवरण इस प्रकार है :—

"बहुमूल्य रत्नों से जटित सुवर्ण सिंहासन पर त्रिभुवन-माता को आसीन कर शूलपाणि कैलास के मस्तक पर नृत्य करते हैं। सरस्वती वीणा बजाती है, इन्द्र वांसुरी पर खेलते हैं, ब्रह्मा झुल्लरी लिये रहते हैं, लक्ष्मी गाती हैं और विष्णु ढोल बजाते हैं और अन्य देवतागण चारों ओर खड़े रहते हैं।

"गान्धर्व, यक्ष, पतग, उरग, सिद्ध, साध्य, विपाधर, अमर, अप्सरा और त्रिभुवन में रहने वाले सम्पूर्ण प्राणि इस ईश्वरीय नृत्य को देखने के लिये वहां एकत्रित होते हैं और गोधूलि के समय उस दैवी संगीत को श्रवण करते हैं।"

इस नृत्य के चित्र में शिव के केवल दो हाँथ दिखलाये जाते हैं। इस समय उनके पैरों के नीचे असुर नहीं होता है। शैव साहित्य में इस नृत्य का कोई विशेष भाव नहीं व्यक्त किया गया है।

दूसरा विश्व-विख्यात नृत्य तांडव नृत्य है जो शिव के सांहारिक रुद्र, भैरव अथवा वीर-भद्र के रौद्र और तामसिक स्वरूप को व्यंजित करता है।

यह नृत्य श्मशान में होता है। इसमें शिव दस हाथ युक्त होते हैं, और देवी को साथ लेकर विकट नृत्य किया करते हैं।

प्राचीन भारतीय प्रतिमा-करण में शिव के इस नृत्य के स्वरूप की बहुलता पाई जाती है। इस नृत्य के सर्वोत्कृष्ट प्रतिमा-करण एलोरा, एलिफेंटा और भुवनेश्वर में मिले हैं।

तांडव नृत्य का उद्भव उत्तर-आर्य युग का माना जाता है। (The Dance of Siv By Anand Coomaraswamy, PP-57-58)

शिव का तीसरा नृत्य नदान्त नृत्य कहलाता है। इस नृत्य की पौराणिक गाथा इस प्रकार दी गई है—"भगवान शिव को विदित हुआ कि तारा ग्राम के जंगल में १०,००० विपथ-धर्मी ब्राह्मण रहा करते हैं, वे इस संसार को नित्य बतलाते हैं, आत्मा का कोई ईश्वर नहीं स्वीकार करते, और कर्मों को ही मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं।" इसलिये शिव उन्हें सत्य मार्ग पर लाना चाहते थे।

अतः शिव ने भगवान विष्णु को साथ आने के लिये कहा। शिव योगी के वेष में और विष्णु उनकी स्त्री का रूप धारण कर तारा ग्राम के जंगल में प्रविष्ट हुए। शिव को देखते ही ऋषि-पत्नियां उन पर मुग्ध हो गईं और इसी तरह ऋषि गण शिव की पत्नी के लिये उत्तेजित लालसा से भर आये। सारे आश्रम में बड़ी खलबली मची। किन्तु सहसा ऋषियों को मालूम पड़ा कि ये बातें सहज नहीं हैं। वे एकत्रित हुए और नवागन्तुओं पर मंत्र चलाया। परन्तु कोई असर न हुआ। तब उन्होंने यज्ञ से एक बाघ को उत्पन्न कर शिव को खाने के लिये भेजा। शिव धीमे से मुस्काये और सरलता से बाघ को उठा कर अपनी अंगुलियों से उसकी छाला को निकाल कर रेशमी वस्त्र की तरह अपने ऊपर लपेट लिया। तब ऋषियों ने कराल सर्प को उन पर दौड़ाया, किन्तु शिव ने माला की तरह उसे अपने गले पर डाल लिया। तब ऋषियों ने एक विकृत गदाधारी बौने (राक्षस) को उत्पन्न किया, किन्तु शिव ने उसकी पीठ पर अपने पांव टेक दिये और उसे कुचलते हुये नाचने लगे। ऋषि सब प्रयत्नकर थक गये। उधर नृत्य की लय और गति से प्रेरित होकर आकाश के पर्दे को उठा कर देवतागण नृत्य देखने के लिये एकत्रित होने लगे। इस वैभव को देखकर ऋषियों ने परमेश्वर शिव के सामने मस्तक झुका दिया और उनके अनुगामी हो गये।

तदनन्तर श्वेत वृषभ पर आसीन होकर पार्वती आईं और शिव उनके साथ कैलास लौट गये। विष्णु अपने वाहन सर्प आदि-शेषन अनन्त के साथ पीछे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही छूट गये। आति-शेषन शिव के नृत्य पर मुग्ध हो कर पुनः उसे देखने की इच्छा करने लगे। विष्णु ने उसकी इस इच्छा को देखकर उसे अवकाश दे दिया और उसे कैलास जाकर तपस्या करने को कहा। इसके पश्चात् सहस्र सिर वाला आति-शेषन उत्तर को चला गया। उसकी तपस्या की परीक्षा करने के लिये शिव ब्रह्मा का रूप धारण कर हंस पर आरूढ़ होकर आये। उन्होंने उसे स्वर्ग का लोभ दिखलाकर बरदान मांगने को कहा। किन्तु आति-शेषन ने केवल उस रहस्यपूर्ण नृत्य को देखने की अभिलाषा प्रकट की। वह किसी प्रकार भी अन्य वस्तुओं से संतुष्ट न हुआ। तब शिव पार्वती सहित हिम समान वृषभ पर आरूढ़ होकर प्रकट हुए। शिव ने तब उसे सारतत्व बतलाते हुए कहा कि वे विश्व की आत्मा हैं और उनका नृत्य ही विश्व की सृष्टि-जनन और प्रलय है, तथा मुक्ति प्रदान करने वाला है। यह नृत्य निरन्तर और नित्य है। तुम उसे पुनः विश्व के मध्य भाग तिलाई अथवा चिदाम्बर में देख सकोगे, (Myths of Hindus and Buddhists, by A Coomaraswamy, PP. 310-11)।

इसलिये शिव ने आति-शेषन को तिलाई जाने की आज्ञा दी। तिलाई के इस नृत्य पर दक्षिण में शिव नटराज की बहुत सारी प्रतिमायें बनी हैं—

नटराज प्रतिमायें शिव को नृत्य करते हुए दिखलाती हैं। शिव के इस समय चार हाथ हैं। उनके बाल गुंथे होते हैं और निचली अलकें नृत्य के हिलोर में बहती हुई दिखलाई जाती हैं। उनके बालों में सर्प गुंथा हुआ होता है तथा कपाल-मालाएं गले पर पड़ी होती हैं और गङ्गा सिर पर रहती हैं। मस्तक पर चांद होता है। दाहिने कान पर पुरुष कर्ण फूल और बांये कान पर स्त्री का आभूषण पहने रहते हैं। बदन पर मालायें, कड़े, आभूषित करधनी तथा अन्य आभूषणादि हाथ पैर पर पहने होते हैं। जनेऊ तथा कसे हुए वस्त्र भी उनके बदन पर होते हैं।

उनके एक दाहिने हाथ में डमरू होता है—दूसरा अभय-मुद्रा में उठा रहता है। बांये हाथों में एक में अग्नि होती है और दूसरा बौने राक्षस की ओर झुका रहता है।

शिव के नृत्य का भाव—

शैव साहित्य में इन नृत्यों का भाव स्पष्टतया दिया हुआ है। ये नृत्य शिव के पंच कृत्यों को व्यंजित करते हैं, जैसे—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभव और अनुग्रह। ये ही कृत्य भिन्न रूप से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और रुदा शिव के माने जाते हैं।

डमरू से सृष्टि का उद्भव होता है। विष्णु के शंख की तरह वह गति और जनन्-शक्ति का प्रतीक है। (The Ideals of Indian Art, Havell, P.79.) अभय-हस्त स्थिति का प्रतीक है, अग्नि से संहार होता है और उठा हुआ पैर अनुग्रह का लक्षण है। इसी पैर के तले आत्मा की मुक्ति का स्थान है, जहां पर जन्ममरण के दुःख से छूटकर वह अनन्त आनन्द प्राप्त करती है।

त्रिकूट दर्शन में इस भाव को और स्पष्टतया व्यक्त किया गया है—

"शिव की शक्ति सर्वत्र है। सर्वत्र चिदाम्बर है और सर्वत्र नृत्य होता रहता है। शिव के पंच-नृत्य असीम हैं। उनके पंच-नृत्य पंच-क्रिया के व्यंजक हैं।

"जो व्यक्ति माया और महामाया से ऊपर हो गये हैं, उससे मुक्त हो गये हैं, वे ही इन नृत्यों को देख सकते हैं।

"शिव पानी, अग्नि, हवा और आकाश में नृत्य किया करते हैं। आकाश उनका शरीर है, काले मेघ बौना राक्षस हैं, अष्ट दिशायें उनकी आठ भुजायें हैं और तीन प्रकाश उनके त्रिनेत्र हैं।"

इस प्रकार संगृहीत रूप शिव हमारे शरीर में से ही नाचा करते हैं। यही उनका नृत्य है। शिव के नृत्य का उच्चतम भाव यही है कि यह नृत्य हमारे हृदय में ही हुआ करता है। परमात्मा सर्वत्र है और सर्वत्र हृदय है। किन्तु ईश्वर तभी किसी के हृदय में नृत्य कर सकते हैं जब ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भावों और विचारों से वह हृदय रिक्त किया जा चुका हो, जिससे कि शिव उसमें प्रविष्ट कर नृत्य कर सकें।

शिव संहारक हैं और इस हेतु श्मशान पसन्द करते हैं। किन्तु वे नष्ट किस वस्तु को करते हैं? प्रलय के अन्त में केवल सृष्टि का ही वे नाश नहीं करते किन्तु आत्मा के बंधनों का भी नाश करते हैं।

श्मसान से अभिप्राय केवल मृतकों को दाह करने वाले स्थान से ही नहीं किन्तु शिव के भक्तों का हृदय भी श्मशान वत् है, क्योंकि कितनी ही विषय-वासनाओं को वहां जलाकर नष्ट किया गया है। वह स्थान जहां अहं को नष्ट कर वासनायें भस्म की गई हैं—वही श्मसान हृदय का मरघट शिव के नृत्य का श्मसान है।

दक्षिण के शैव साहित्य में शिव के नृत्य की इसी प्रकार बहुत सुन्दर व्यंजना की गई है।

उणमइ विलक्कम (The Dances of Siva, PP. 22, 37, 39, by A. Coomaraswamy) में स्पष्ट बतलाया गया है कि हमारे पापों को नष्ट करने के लिये परमात्मा हमारी आत्मा में नृत्य करते हैं। इस तरह परमेश्वर माया के अन्धकार को विकीर्ण करते हैं। कर्म के बंधनों को तोड़कर मल, आणव और अविद्या का नाश करते हैं और आत्मा को आनन्द-सागर में ले जाते हैं। जो इस रहस्यपूर्ण नृत्य को देखते हैं—वे जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाते हैं।

शैव साहित्य में इस नृत्य को साथ ही शिव की क्रीड़ा अथवा लीला बतलाया गया है।

संक्षेपतः शिव के नृत्य का भाव प्रथमतः सृष्टि, जनन और प्रलय है, दूसरा भाव माया से छुड़ाकर मनुष्यों की आत्माओं को मुक्ति देना है और अन्तिमतः ईश्वर सर्वत्र है और विश्व का मध्य चिदाम्बर हमारे स्वच्छ हृदय में ही है और वहीं शिव का नृत्य हुआ करता है।

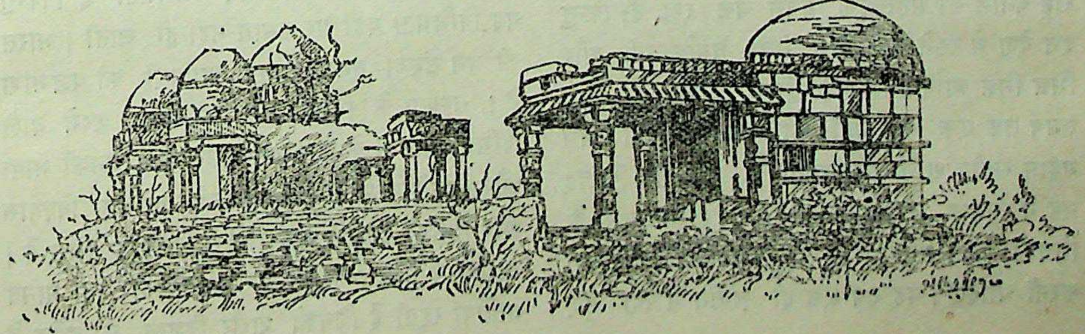

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मातृभूमि भारत की सांस्कृतिक और मौलिक एकता

डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी एम. ए., डी. लिट्.

किसी भी राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए बहुत सी बातों की आवश्यकता है। इसके लिये देश में एक भाषा, एक धर्म, एक राज्य, एक संस्कृति और एक आर्थिक प्रणाली की ज़रूरत होती है। किसी भी राष्ट्र को सम्पूर्ण रूप से एक बनाने के लिए जो सब में आवश्यक और मौलिक वस्तु है, वह है एक ऐसा देश जिसकी भौगोलिक सीमाएं बंधी हुई हों। इतिहास ख़ानाबदोश क़ौमों की सभ्यता-निर्माण की कोई गवाही नहीं देता। जब तक यह ख़ानाबदोश क़ौमें किसी एक देश में स्थिर होकर बस न गईं तब तक उन्होंने महान् सभ्यताओं का निर्माण नहीं किया।

मातृभूमि की भावना में ही राष्ट्रीय भावों को सब में अधिक उन्नति और प्रोत्साहन मिलता है। यही भावना देश में पद्धति पैदा करती है और विचारों को व्यावहारिक रूप देती है। मातृभूमि ही लोगों के अन्दर साहित्य, भाषा, धर्म, संस्कृति आदि बातों में विकास की भावना भरती है। मातृभूमि ही देश के अन्दर के विरोधी विचारों के लोगों को, विरोधी सम्प्रदायों को, भिन्न भिन्न रस्म रिवाजों और भिन्न भिन्न धर्म के लोगों को, और भिन्न भिन्न भाषा बोलने वालों को एक सूत्र में बांध देती है।

आज भारत को एक सम्मिलित, सम्पूर्ण, अखण्ड राष्ट्र बनाने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न चल रहा है; किन्तु इस देश में रहने वाले भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी और भिन्न भिन्न जातियां जिनकी संख्या करोड़ों है, उस समय तक एक राष्ट्र नहीं बन सकते और न उनमें महान राष्ट्रीय शक्ति आ सकती है, जब तक कि वह यह न समझ लें कि उनकी एक ही मातृभूमि है, जिसकी वे सब सन्तान हैं और जिसकी उन्हें सेवा करनी चाहिए। वह सब एक ही ज़मीन में पैदा हुए हैं और एक ही ज़मीन में मरेंगे। जब तक भारत की इस भौगोलिक अखंडता की भावना समस्त जनता के अन्दर नहीं भरती तब तक बेचैन राजनैतिक नेताओं का भारत को एक राष्ट्र बनाने का सुन्दर स्वप्न पूरा नहीं हो सकता।

भारत एक लम्बा चौड़ा महान् देश है जो उत्तर से दक्षिण तक दो हज़ार मील लम्बा और पूर्व से पच्छिम तक १९०० मील से अधिक चौड़ा है। इसका क्षेत्रफल यूरोप के क्षेत्रफल से लगभग दो तिहाई है। यह ब्रिटेन से १४ गुना बड़ा और फ्रांस और जर्मनी से छै गुना से ज़्यादा बड़ा है। अपने इतने बड़े विस्तार के कारण ही यह देश आश्चर्यजनक विभिन्नता से भरा हुआ है। एक ओर हिमालय पर भयंकर सर्दी है, जहां हर समय अनन्त हिम-राषि जमा रहती है और दूसरी ओर कोंकण और कारोमंडल की गरमी है जो हर तरह असह्य है। ज़मीन की ऊंचाई एक जगह समुद्र की सतह के बराबर है तो दूसरी जगह इतनी ऊंची हो गई है कि जहां किसी तरह की सब्ज़ी नहीं होती और जहां बादलों, मेघों और तूफ़ानों की भी पहुंच नहीं है। वर्षा यदि चेरापूंजी में हर साल ४०० इंच होती है तो सिन्ध में केवल ३ इंच। जलवायु की विभिन्नता के कारण फूल, पौधे और पशु-पक्षियों में भी बेहद विभिन्नता है। किन्तु यह विभिन्नता यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। भारत की जन संख्या समस्त मानव आबादी की पञ्चमांश है। सभ्यता के विभिन्न स्तर को प्रकट करने वाले विभिन्न जातियों के लोग यहां बसते हैं, जिनकी भाषा और जिनके रस्म रिवाज, जिनके धार्मिक विश्वास और जिनकी संस्कृति एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है। भारत वर्ष में कम-से-कम सात प्रकार की ऐसी मानव जातियां रहती हैं जिनको शरीर विज्ञान की दृष्टि से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हम अलग कर सकते हैं। यहां कम-से-कम १४ तरह के विभिन्न राष्ट्रों के लोग रहते हैं जो अपनी भाषा बोलते हैं और अपना साहित्य पढ़ते हैं। इस देश में कम-से-कम डेढ़ सौ तरह की बोली बोलने वाले लोग रहते हैं और इसके अतिरिक्त दुनिया के क़रीब-क़रीब सब प्रसिद्ध धर्म यहां प्रचलित हैं कि जिनमें प्रत्येक धर्म के कम से कम दस-दस लाख से अधिक पैरोकार हैं। सच पूछा जाय तो भारत वर्ष विविध धर्मों, विविध रीति-रिवाजों, विविध सम्प्रदायों, विविध संस्कृतियों, विविध पन्थों, विविध बोलियों, विविध मानव जातियों और विविध समाज व्यवस्थाओं का एक बहुत बड़ा अजायबघर है।

सरसरी तौर पर देखने वाले लोग भारतीय जीवन और भारतीय भौगोलिक विभिन्नता को देखकर हैरान हो सकते हैं; किन्तु हमारी इस विभिन्नता के भीतर ही एक एकता है। हमें अपनी इस विभिन्नता में ही एकता मिलती है। इस विभिन्नता से ही समष्टि की रचना हुई है। इसी विभिन्नता के रहस्य में ही सुबोधता छिपी हुई है। किन्तु बाहरी व्यक्ति हमारे विविध अंग-प्रत्यंग को देह से अलग करके देखते हैं। यह तो वही बात है जिस तरह एक अंधा व्यक्ति हाथी को छूकर उसके एक-एक अंग से उसकी कल्पना करे। भारत की अखंडता को समझने के लिए हमें भारतीय मस्तिष्क की समन्वयात्मक शक्ति को समझना होगा। तभी हम यह समझ सकेंगे कि भारतीय जीवन किस तरह अपनी विभिन्नता को एकता का रूप दे सका और किस तरह उसने अपने अखंड भागों में सम्पूर्णता का विकास किया। हमारी समस्त विभिन्नता के पीछे एक मौलिक एकता है। हमारी इस विभिन्नता ने ही हमें अशक्त करने के बजाय शक्तिशाली और समर्थ बनाया है। सर हरबर्ट रिज़्ले ने कहा था कि समाज की, नीति की, भाषा की, रस्म रिवाज की और धर्मों की जो विभिन्नता भारत में हमें स्पष्ट दिखाई देती है उन सब के पीछे एक निश्चित मौलिक एकता है जिसने हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक भारतीय जीवन को एक सूत्र में बांध रखा है।

आमतौर पर यह कहा जाता है कि भारत की जो हमें ज़ाहिरा एकता दिखाई देती है वह एक अंगरेज़ी राज्य की पैदा की हुई है। अंगरेज़ी राज्य ने हिमालय से कन्या कुमारी अन्तरीप तक जो शासन व्यवस्था क़ायम की हमारी यह ज़ाहिरा एकता उसी का परिणाम है। किन्तु वास्तव में हमारी यह मौलिक एकता भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य से बहुत पुरानी है। यह कोई नई चीज़ नहीं है बल्कि उसके पीछे इतना पुराना इतिहास है जो ऐतिहासिक कालों को भेदकर हमें प्रागैतिहासिक काल तक पहुंचा देता है। इस बात के अनेकों प्रमाण मिलते हैं कि भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता के संस्थापक भारत की भौगोलिक एकता से पूरी तरह परिचित थे। उन्होंने जनता के ऊपर अपनी मातृभूमि की अखंडता को स्वाभाविक रूप से ही व्यक्त किया है। प्राचीन भारतीय अपने महान देश को एक ही नाम 'भारतवर्ष' से पुकारते थे। इस देश के सिन्धम्, हिन्द अथवा इंडिया आदि नाम विदेशियों ने रखे हैं। सिन्धु नदी को प्राचीन ईरानी 'हिन्दु' कहा करते थे और यूनानी उसे 'इण्ड' कहा करते थे, इसी से बिगड़कर हिन्द या इंडिया शब्द बने, किन्तु इंडिया की तरह भारतवर्ष शब्द में केवल भौगोलिक भावना नहीं है। भारतवर्ष शब्द के पीछे एक गहरी ऐतिहासिक विशेषता है जो हमारी मौलिक एकता को ज़ाहिर करती है। यह एक बड़ा पुराना सिद्धान्त है कि बहुत सी चीज़ें एक नाम से तभी पुकारी जाती हैं जब उनके पीछे एकता की भावना हो। इसलिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने अनेक जातियों, भाषाओं और धर्मों के होते हुए भी इस देश को एक भारतवर्ष के नाम से पुकारा। भारतवर्ष उसी तरह भरत से बना है जिस तरह रोम रोमुलस से। ऋग्वेद सबसे पहले आर्य जाति के इस महान नेता का ज़िक्र करता है। भारतीय इतिहास के उषः काल में भारतीय आर्य संस्कृति को इस महान् नेता ने अनेक संघर्ष और लड़ाई के बाद निश्चित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और व्यापक रूप दिया। ऐतरेय ब्राह्मण में इस महान् आर्य सम्राट का विस्तृत वर्णन मिलता है। श्रीमद्भागवत् में भी भरत को अधिराज यानी सम्राट के नाम से पुकारा गया है। श्री मद्भागवत के अनुसार भरत किरात, हूण, यवन, पौंड्र और उसी तरह की अनेक जातियों और क़बीलों के राजाधिराज थे। भरत अपने समय की आर्य शक्ति के साकार ऐक्य रूप थे। उन्होंने समस्त देश को एक संस्कृति और एक धर्म और एक छाया में लिया। भारतवर्ष कहने मात्र से ही आर्य संस्कृति और सभ्यता का महान् गौरव हमारी आंखों के सामने आ जाता है। सम्राट भरत प्राचीन आर्य संस्कृति की नव जाग्रति के प्रतीक थे। इस नव जाग्रति के पीछे हमारा उस समय का साहित्य, उस समय की सामाजिक संस्था, रीति रिवाज, राजनैतिक पद्धतियां और जातीय अनुशासन थे। इन सब ने मिलकर नवीन सांस्कृतिक एकता की नींव डाली। इन्होंने एक पताका के नीचे विविध धर्मों, विविध जातियों, विविध संस्कृतियों के लोगों को एकत्र किया, और एक सूत्र में बांधा किन्तु उन्हें इतनी स्वतंत्रता दी कि वे अपने-अपने धर्म और संस्कृति की भिन्न-भिन्न धाराओं को शक्तिशाली बनाते रहें और इस तरह देश की महान् जीवन धारा के साथ अपनी इन धाराओं को मिलाकर सारे देश में व्यापक संस्कृति का निर्माण करते रहें।

भारत की इस मौलिक एकता का प्रमाण सिर्फ़ यह उसका एक नाम ही नहीं है। इस एक नाम के अतिरिक्त और भी प्रमाण मिलते हैं। इनसे यह पूरी तरह साबित होता है कि प्राचीन काल में सार्वजनिक लोग भारतीय एकता के साहित्य को पूरी तरह समझते थे। ऋग्वेद जैसे ग्रन्थ में जो मानव उल्लेखों का प्राचीनतम प्रमाण है, प्राचीन ऋषियों ने मातृ-भूमि की एकता का गम्भीर आह्वान किया है। ऋग्वेद मातृभूमि को हृदय-मन्दिर में देवी की तरह स्थापित करता है। उनमें सबसे अच्छे ऋग्वेद के वे मन्त्र हैं जिनमें पञ्जाब की विविध नदियों की प्रशंसा की गई है, जिन नदियों के कारण देश में इतना व्यापार, इतनी संस्कृति और इतनी समृद्धि फैली। अपने देश की इन रक्तवाहिनी नदियों के पवित्र वर्णन से अधिक इस देश की एकता को स्थापित करने वाली दूसरी वस्तु नहीं हो सकती। ऋग्वेद का यह मन्त्र है—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति
शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये
शृणुह्या सुषोमया॥

इस श्लोक को पढ़कर समस्त वैदिक भारत की मौलिक एकता की तसवीर आंखों के सामने छा जाती है। यही नहीं वह राष्ट्रीयता को धार्मिक पवित्रता का रूप देती है। अपनी मातृभूमि को सर्वदात्री समझकर उसका ध्यान करना और उसकी पूजा करना आर्यों का धार्मिक कर्तव्य था। सारा राष्ट्र प्रतिदिन मातृभूमि की प्रार्थना करता था। ऋग्वेद का यह मन्त्र भारतीय एकता का, उस समय के भारत की राष्ट्रीय भावना का, बहुत बड़ा प्रमाण है। यह सही है कि इस मंत्र में केवल पंजाब का ही वर्णन है किन्तु उस समय तक आर्यों के सामने जो भौगोलिक सीमाएं थीं वह इस मंत्र में स्पष्ट हैं। उस समय की भारत भूमि के उत्तर में हिमाच्छादित पहाड़ थे, सिन्धु और सुलेमान की पहाड़ियां पच्छिम में थीं, समुद्र दक्षिण में था और गङ्गा-यमुना की उपत्यका पूर्व में थी। इन सीमाओं के अन्दर सिर्फ़ उत्तर भारत आता है और इस सारे क्षेत्र को वैदिक साहित्य में आर्यावर्त्त के नाम से पुकारा जाता है। मनु आर्यावर्त्त को नीचे लिखे शब्दों में वर्णन करते हैं—

आसमुद्रात्तु वै पूर्व्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥

मेधातिथि, मनु के इस श्लोक पर नीचे लिखी टिप्पणी करता है—

"पर्व्वतयोर्हिमवद्विन्ध्ययोर्यदन्तरम् मध्यं सः आर्य्यावर्त्तो देशो बुधैः शिष्टैरुच्यते।"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मेधातिथि की यह टीका अमर कोष से बिलकुल मिलती जुलती है—

"आर्य्यावर्त्तः पुण्यभूमिः मध्यं विन्ध्य-हिमालयः"।

इस तरह आर्यावर्त्त से हिमालय और विन्ध्या के बीच के भूभाग से तात्पर्य है।

जैसे जैसे भारत में आर्यों की आबादी बढ़ती गई वैसे वैसे आर्यावर्त्त की सीमाएं भी बढ़ती गईं। यहां तक कि उसमें दक्षिणापथ या दक्षिण भारत भी शामिल हो गया। वेदों में सप्त सिन्धु भावना का अधिक व्यापक रूप दिया गया है। ऋग्वेद में उपर्युक्त प्रार्थनाओं के अतिरिक्त, बढ़ती हुई भौगोलिक सीमाओं को अंकित करने वाली विविध नदियों के नाम शामिल कर लिये गये हैं और इस पौराणिक काल के समस्त भारत की एकता का स्वरूप हमारी आंखों के सामने आ जाता है—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि स्वरस्वति !
नर्म्मदे सिन्धुकावेरि जलेस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥

लाखों हिन्दू भक्त सारे देश में रोज़ सुबह अपने तर्पण में इस प्रार्थना को दुहराते हैं। पुराण के एक दूसरे श्लोक में भारत को निम्नलिखित सात पर्वतों का देश कहा गया है कि जहां भक्त लोग जाकर तपस्या कर सकते हैं और शान्ति पा सकते हैं—

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्ष पर्व्वतः।
विन्ध्यश्च पारिपत्रश्च सप्तैते कुलपर्व्वताः॥

एक दूसरा श्लोक है जिसमें विविध प्रान्तों और देश के विविध भागों में फैले हुए उन मोक्षदायी तीर्थों का वर्णन है—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैताः मोक्षदायिकाः॥

इस श्लोक में भारतवर्ष को सात प्रमुख तीर्थ स्थानों का देश कहा गया है कि जहां प्रत्येक भक्त को अपने जीवन में एक बार अवश्य जाना चाहिए। सात तीर्थ धामों के अन्दर हमारा सम्पूर्ण देश आ जाता है। शंकराचार्य ने जिन चार प्रमुख तीर्थ धामों को मुक़र्रर किया है वे देश के चारों कोनों पर हैं। उन चार धामों की यात्रा करके लोग समस्त देश को जान सकते हैं नीचे लिखे श्लोक में देश भर में फैले हुए वर्तमान शिव मन्दिरों का वर्णन है—

सौराष्ट्रे सोमनाथञ्च, श्रीशैले मल्लिकार्ज्जुनं।
उज्जयिन्यां तु महाकालं ओंकारं अमरेश्वरे॥
केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम।
वाराणस्याञ्च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे॥
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं द्वारकावने।
सेतुवन्धे च रामेशं घुश्मेशञ्च शिवालये॥
एतानि ज्योतिर्लिङ्गानि सायं प्रातः पठेन्नरः।
सप्तजन्मकृतं पापं स्मरणेन विनश्यति॥

सती उपाख्यान में हमें उन ५२ जगहों के नाम मिलते हैं जहां सती के विविध अंग फेंके गये थे। एक उंगुली कलकत्ते में गिरी थी जो अब तक वहां कालीघाट के नाम से विख्यात है। जीभ कांगड़ा में गिरी थी जिसमें से अब तक ज्वालामुखी की लपट निकलती है। बांयां हाथ काशी में गिरा था जहां वह अन्नपूर्णा के नाम से मशहूर है। इस तरह भारत के ये भिन्न भिन्न स्थान प्रत्येक भक्त के हृदय में श्रद्धा और आदर उत्पन्न करते हैं और देश के प्रत्येक भाग को अनुपम पवित्रता से भर देते हैं और इस तरह भारत को एक विराट प्रांगण बना देते हैं। हमारी राष्ट्रीय भावना इतनी प्रबल थी कि हमारे यह तीर्थ और पवित्र स्थान भारत की ही सीमा के अन्दर प्रतिष्ठित रहे।

संस्कृत साहित्य में इधर से उधर तक मातृभूमि की भावना के अनुपम उदाहरण भरे हुए मिलते हैं। अथर्ववेद में मातृभूमि को वीर और धार्मिक पुत्रों की जननी कहा गया है। इसे शक्ति और सौर्य, व्यापार और वाणिज्य, विज्ञान और कला, महानता और धार्मिकता और असंख्य वनस्पतियों और पौधों की भूमि बताया गया है। ऐसी भूमि जिसके चारों तरफ़ समुद्र है और जिसको सिन्धु जैसी पवित्र नदी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपजाऊ बनाती है और जिसे धन-धान्य से भरती है। ऐसी भूमि जहां हमारे पूर्वज पैदा हुए, जहां उन्होंने जीवन बिताया, जहां उन्होंने कर्म किया और जहां देवों के सामने असुर नत मस्तक हुये। ऐसी भूमि जहां संसार की ज़रूरी वस्तुएं प्राप्य हैं, जहां सब में सुन्दर बन हैं, जहां यज्ञ और हवन होते हैं, जहां शक्ति और शौर्य भरा पड़ा है और जहां के लोग देश भक्ति, त्याग, धार्मिकता और दया से भरे हुए हैं।*

संस्कृत ग्रन्थों में और अनेकों उद्धरण मिलते हैं जिनसे यह प्रगट होता है कि भारतभूमि दुनिया में सर्वोत्तम है और इस पृथ्वी में स्वर्ग की तरह है इसकी सबसे सुन्दर व्याख्या नीचे लिखे वाक्य से प्रकट होती है—

"जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"

---

* "नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति..."
"यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्मान्न कृष्टयः सम्बभूवः।"
"यस्यां पूर्व्वे पूर्व्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानम्यवर्त्तयन्।"
"गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथि विस्योनमस्तु।"
"भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यंरंकृतम।"
"यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्त्याव्यैलवाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।"
[अथर्ववेद—१२.२,३,५,११;१२.१ २२,४१]

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
जानीम नैतत्क्कवयं विलीने
स्वर्णप्रदे कर्म्मणि देहबन्धम्।
प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्याः
ये भारतेनेन्द्रिय विप्रहीनाः॥
[विष्णु पुराण—२३, २४, २६]

मातृभूमि के प्रति इसी भक्ति के कारण देश में उत्तर से दक्षिण तक अनेकों तीर्थस्थान बन गये हैं। उत्तर में काशी और दक्षिण भारत में कांजीवरम्; इन दोनों तीर्थ स्थानों में लोग एक से प्रेम और एक से आदर के साथ जाते हैं। दोनों पवित्र मन्दिरों के शहर हैं। उनके निर्माण में हमें कला के सुन्दर नमूने मिलते हैं। जगन्नाथ पुरी की प्रसिद्धि बहुत कुछ उसके समुद्र और उसके प्रमुख बन्दरगाह और व्यापार का केन्द्र होने के कारण थी। प्रयाग तीर्थराज कहा जाता है। उसका इतना महत्व इसलिये और बढ़ गया कि वह गंगा और जमुना के संगम पर है। इस तरह की तीर्थयात्रा की भावना जनता के अन्दर मातृभूमि की भौगोलिक एकता के भाव भर देती है। जनता के अन्दर यह भावना पैदा होती है कि भारत भूमि उत्तर से लेकर दक्षिण और पूर्व से लेकर पश्चिम तक एक महान देश है। सारे देश की रक्त धमनियां एक हैं। तीर्थ स्थान हमारे अन्दर संकुचित प्रान्तीयता को कभी पनपने नहीं देते। सारे भारतवर्ष में हमारी धार्मिक भावना ने इतने असंख्य तीर्थस्थान जगह-जगह बना दिये हैं कि उनको गिना सकना असम्भव है। महाभारत के पर्वों में इन तीर्थ स्थानों की एक विस्तृत सूची मिलती है। महाभारत में दो जगहों पर इनका वर्णन आया है। महाभारत में हमें नारद और धौम्य द्वारा तीर्थ स्थानों का वर्णन मिलता है। तंत्र चूड़ामणि में तीर्थ स्थानों की संख्या ५२ बताई गई है। देवी भागवत में यह संख्या १०८ दी हुई है। कुब्जिका तंत्र में भी तीर्थ स्थानों का सुन्दर वर्णन मिलता है। शिवचरित्र में महा पीठों की संख्या ५१२ और उपपीठों की संख्या २६ बताई गई है। कल्कि पुराण में भी तीर्थ स्थानों का वर्णन पाया जाता है।

तीर्थ स्थानों के अतिरिक्त देश में कला के सुन्दर स्मारक भी फैले हुए हैं। ये कला के स्मारक हममें एक देशीयता की भावना भरते हैं। ये कला के स्मारक बौद्धों और जैनों द्वारा निर्माण किये गये हैं। बौद्ध और जैन धर्म दोनों हिन्दू धर्म की उपशाखाएं हैं। ईस्वी सदी के पूर्व में भारत से बाहर के लोग हिन्दू

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

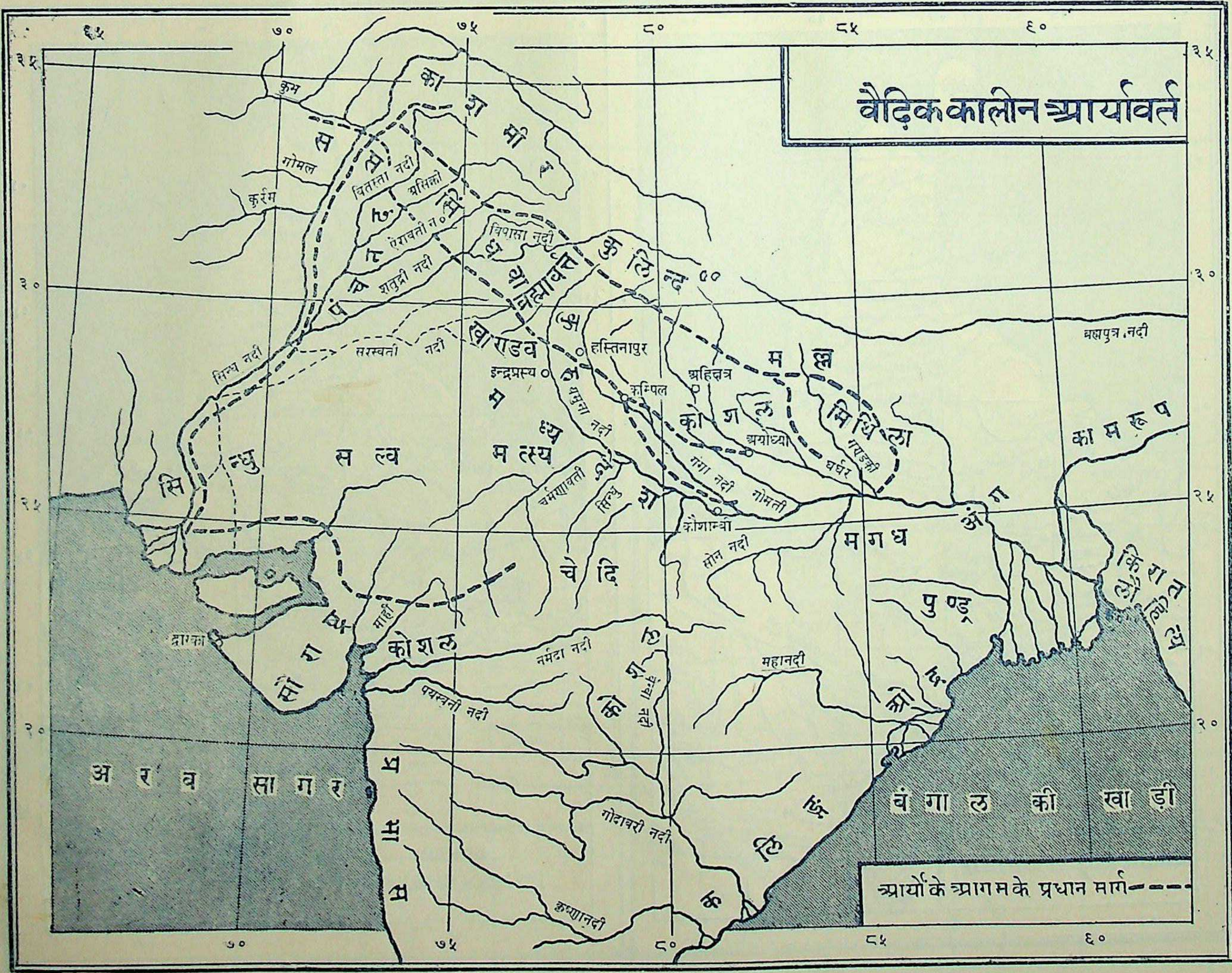

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

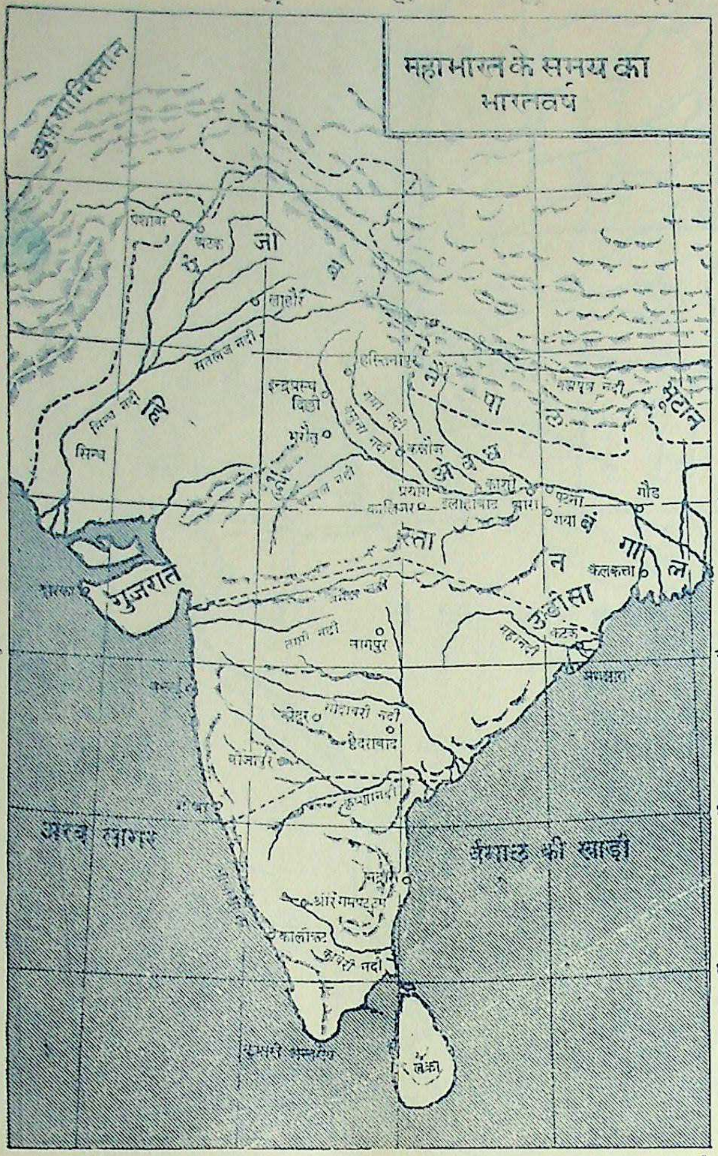

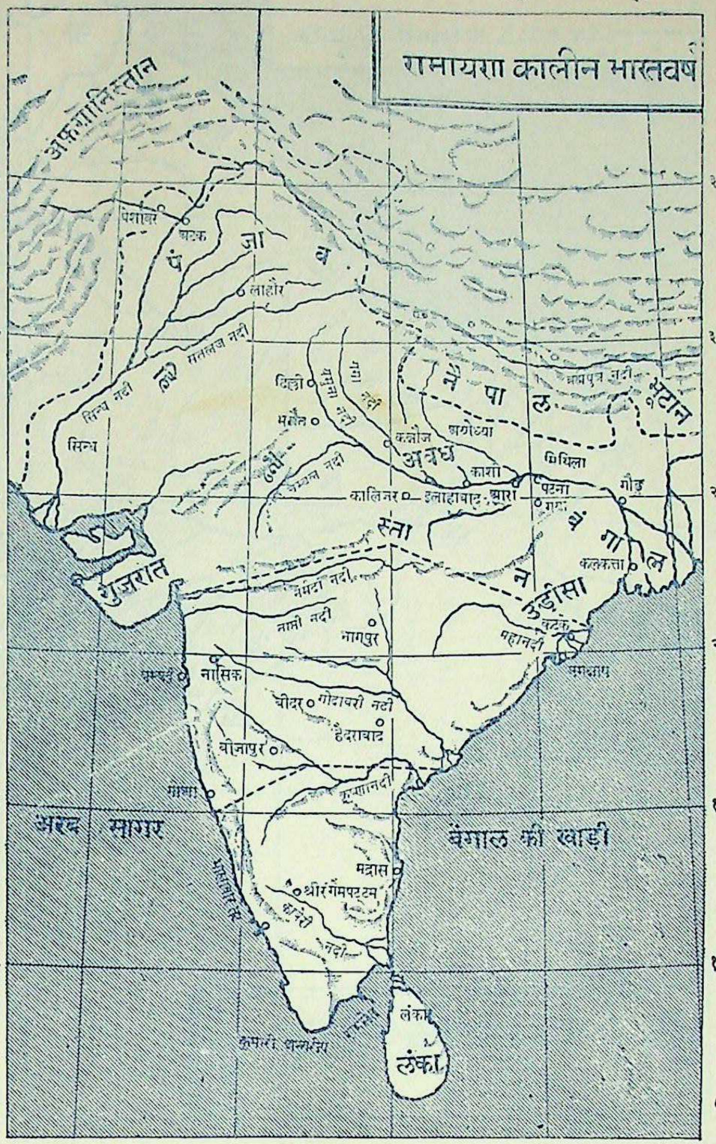

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

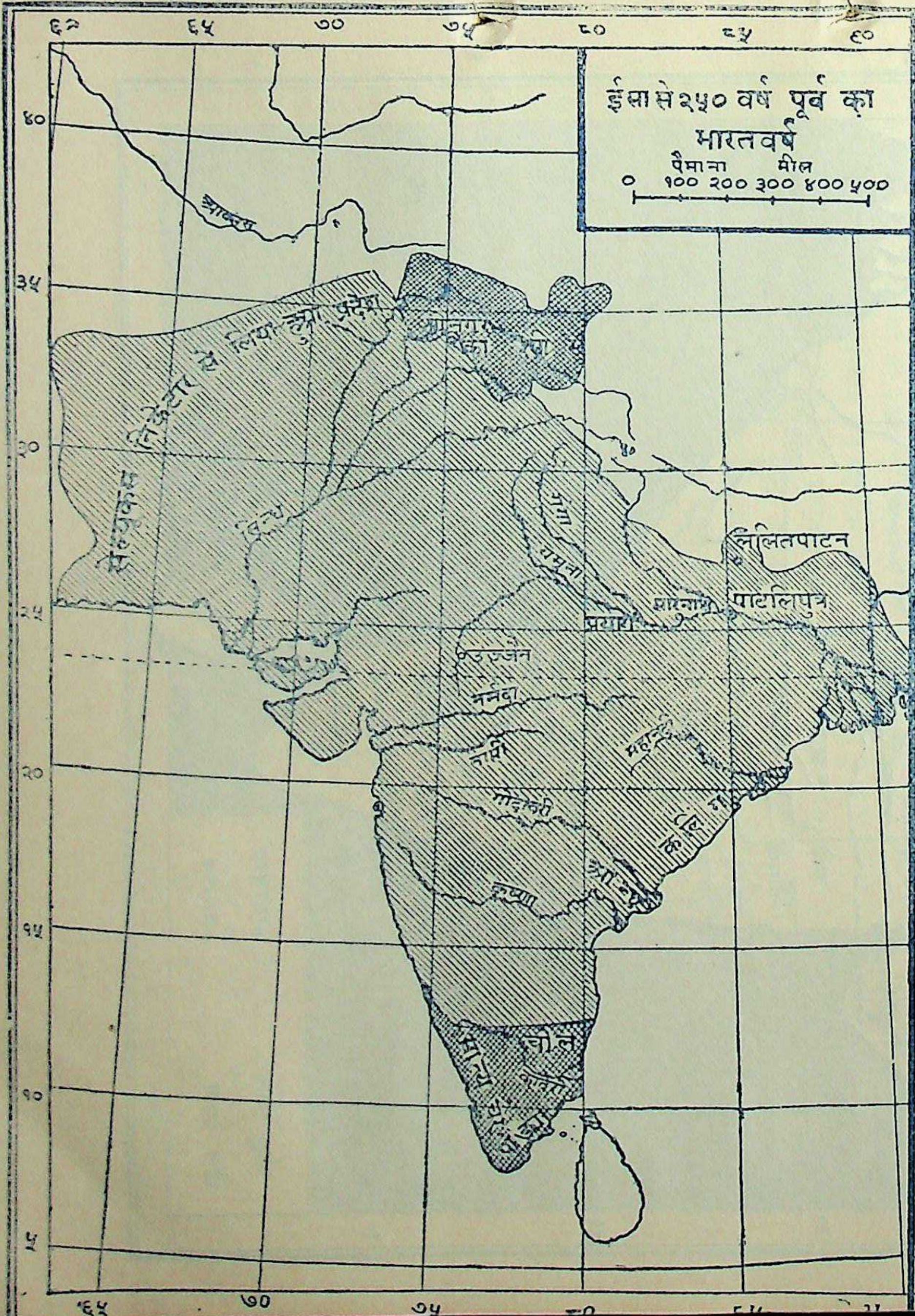

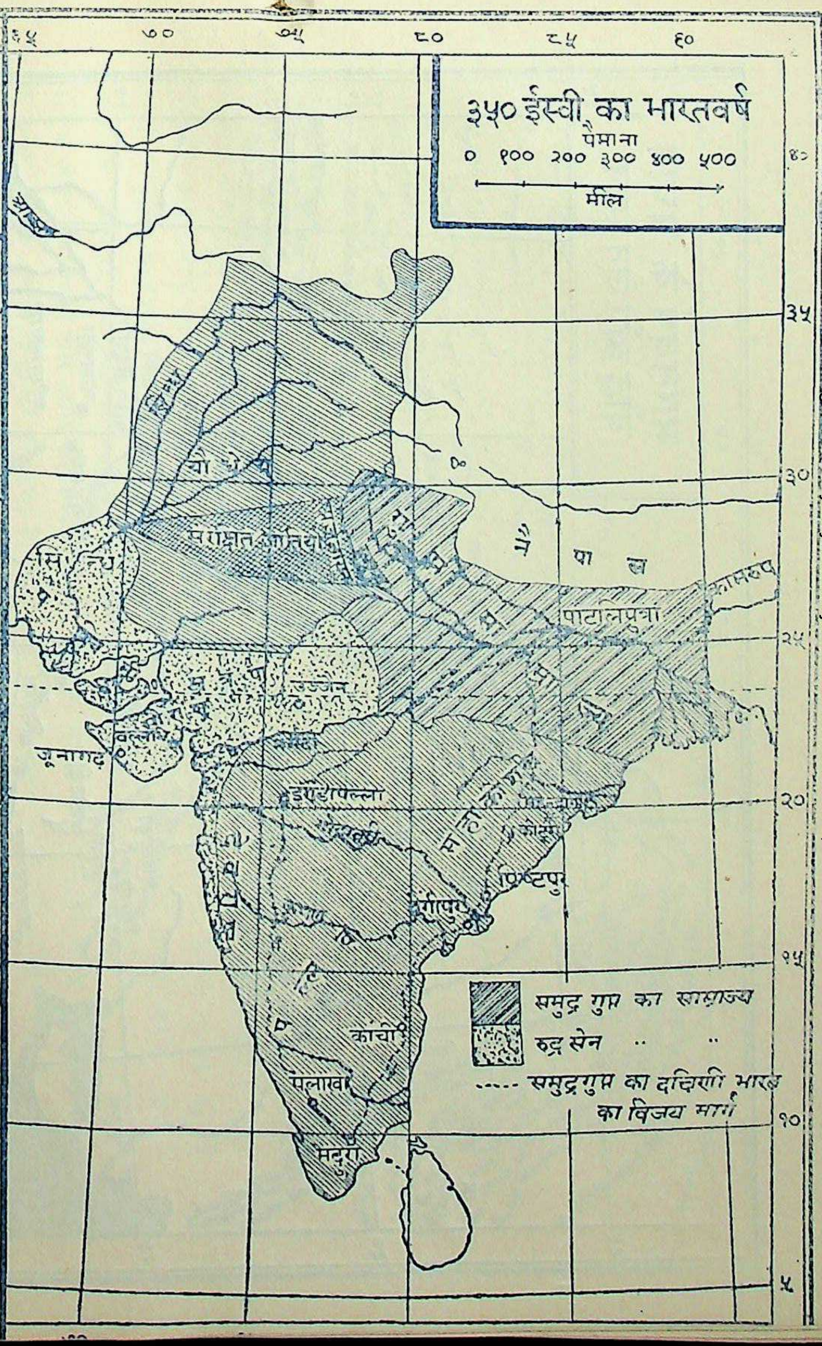

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धर्म को बौद्ध धर्म के नाम से पुकारते थे। भारतीय बौद्ध काल में भारत में एक ऐसा महान साम्राज्य स्थापित हुआ', जो केन्द्रीय सत्ता से संचालित होता था; जिससे भारत को एक सी शासन प्रणाली, एक सा धर्म, पूर्व से लेकर पश्चिम तक एक सी निर्माण कला मिली। ऐसे बौद्ध धर्म ने जनता में एकता पैदा करने और जनता को आदर्श की दृष्टि से ऊंचा उठाने में महान प्रयत्न किया। बौद्धों ने भारत भूमि को महान बनाने में कोई कसर बाक़ी न रखी। बौद्धों के ज़माने में ही भारतीय राष्ट्रीयता ने अपना विकसित रूप ग्रहण किया। भारत ने चीन जापान, सीरिया, मिस्र, आदि देशों के साथ अपना सम्पर्क स्थापित किया। उस समय भारत से विदेशों को राज्य प्रतिनिधि, व्यापारी, मिशनरी, धर्मप्रचारक, वाणिज्य वस्तुएं, हमारी फिलासफ़ी और हमारे आदर्श भेजे गये। हिन्दुओं के लिए तीर्थ यात्राओं की जो महत्ता है, बौद्धों के लिए स्मारक चिन्हों का भी उतना ही महत्व है। हिन्दुओं के जगह जगह तीर्थस्थान बन गये और बौद्धों ने सुन्दर स्मारक बनाकर देश की महानता को बढ़ाया। बौद्धों ने जगह जगह स्तूप और दागोबा बनाये; जगह-जगह विहार, चैत्य, मठ और धर्म स्थान क़ायम किये। ये स्थान कहीं गुफा काटकर बनाये गये और कहीं-कहीं इमारतों के रूप में बनाए गये। जिस तरह हिन्दू तीर्थ स्थानों ने हमारे सुन्दर देश की भौगोलिक एकता का भाव पैदा किया उसी तरह बौद्ध स्तूपों ने भी देश की भौगोलिक एकता को पुख़्ता किया। दिल्ली तिरहुत, सांची आदि जगहों की लाटें; विहार, नासिक, अजन्ता, एलोरा, करली, कन्हेरी, भजा, वेदसा, धमनार, उदयगिरि बाग आदि जगहों के चैत्य और विहार; मानिक्याल, सारनाथ, सांची, अमरावती के स्तूप; भरहुत, मथुरा, गया, सांची, अमरावती, गान्धार आदि जगहों के मठ इस बात को साबित करते हैं कि किस तरह एक धर्म भावना ने सारे देश को एक सूत्र में बांधने का ज़बरदस्त प्रयत्न किया।

किन्तु भारत को एक देश के रूप में देखने के लिये भौगोलिक ज्ञान ज़रूरी है। इसलिए आवश्यकता है कि हम इस बात को जानें कि हमारे देश में भौगोलिक एकता की भावना कब और किस तरह पैदा हुई। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि वैदिक काल में भारत की भौगोलिक सीमा में भारत का बहुत थोड़ा अंश शामिल था। ऋग्वेद में जिन भौगोलिक स्थानों का वर्णन आता है उनसे वह बात पूरी तरह साबित हो जाती है कि ऋग्वेद में २५ नदियों का वर्णन है। उनमें दो-तीन को छोड़कर बाक़ी समस्त नदियां सिन्धु नदी में गिरती हैं। एक जगह सप्त सिन्धव शब्द आर्य भारत के लिये इस्तेमाल किया गया है। सप्त सिन्धव का अर्थ है सात नदियों का देश। जिसमें ५ नदियां पंजाब की हैं और बाक़ी दो सिन्धु और काबुल नदी हैं। बाद में काबुल नदी की जगह सरस्वती का नाम मिलता है। दो एक जगह भारत की पूर्वी सीमा का वर्णन आया है। उसमें पूर्वी सीमा की अन्तिम रेखा पर यमुना-गङ्गा में गिर रही है। इस तरह भौगोलिक दृष्टि से वैदिक भारत के उत्तर में पहाड़ थे, सिन्धु नदी थी और सुलेमान पर्वत श्रेणी थी; पश्चिम में सिन्धु नदी थी; दक्षिण में समुद्र था और पूर्व में गङ्गा और यमुना नदियां थीं। विन्ध्या की उपत्यका और नर्मदा नदी का ऋग्वेद में कहीं वर्णन नहीं मिलता। इससे प्रकट है कि वैदिक ऋषियों को समस्त देश का पूरा ज्ञान नहीं था।

बाद के वैदिक साहित्य में भी हमें दक्षिण भारत का वर्णन नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण में विश्वामित्र, आन्ध्र पौंड्र, शबर, पुलिन्द और मुतिबों का वर्णन करते हैं कि ये लोग आर्य वंशों के सम्पर्क में रहते थे। इसका अर्थ यही है कि आर्य उस समय विन्ध्या के उत्तर के समस्त देशों को जानते थे और उसके अधिकांश पूर्वी हिस्से से परिचित थे। जो कुछ प्रमाण हमें मिलते हैं उसके देखने से यही पता चलता है कि दक्षिण भारत में आर्यों के उपनिवेश सातवीं सदी ईसा पूर्व तक नहीं बन पाये थे। पाणिनि, जो सातवीं सदी ईसा पूर्व में हुआ है, बहुत से तीर्थ स्थानों और बहुत सी नदियों का वर्णन करता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है जो अधिकतर पंजाब और अफ़ग़ानिस्तान की हैं। दक्षिण की जिन जगहों का पाणिनि ज़िक्र करता है वे हैं कचेथ अवन्ती, कोसल, करूसा (शाहाबाद, विहार) और कलिंग।

उस समय के समकालीन पाली साहित्य से भी यही निष्कर्श निकलता है। सुत्तनिपात में दक्षिणापथ शब्द आता है किन्तु दक्षिणापथ में समस्त दक्षिण नहीं था। इस शब्द से गोदावरी नदी के उत्तर तक का ही बोध होता है। प्राचीन बौद्ध धर्म की भौगोलिक सीमाओं का वर्णन हमें महापरिनिब्बान सुत्त में मिलता है, जिसमें नीचे लिखे प्रमुख नगरों का वर्णन आता है, जहां बौद्ध धर्मावलम्बी ब्राह्मण, वैश्य और राज्याधिकारियों का निवास था; जैसे—चम्पा, राजगृह, सवथिया, साकेत, कोसाम्बी और मगवाराणसी। इसका अर्थ यह है कि यह सीमाएं काशी, कोसल और मगध राज्य के अन्तर्गत थीं, जिसको आजकल हम अवध और बिहार कहते हैं। भगवान बुद्ध के स्मारक चिन्ह जिन गांवों और नगरों में रक्खे गये वे भी इसी सीमा के भीतर आ जाते हैं। महापरिनिब्बानसुत्त में ये जगहें हैं—राजगृह, वैसाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामग्राम, वेथदीप, पावा और कुशीनगर। कुछ पाली पुस्तकों के अनुसार बौद्ध भारत १६ प्रदेशों में बाँटा गया है—(१) अंग (२) मगध (३) काशी (४) कोसल (५) बज्जि (६) मत्त (७) सेति (८) वनसा (९) कुरु (१०) पांचाल (११) मच्छ (१२) सूरसेन (१३) अरसका (१४) अवन्ति (१५) गान्धार (१६) कम्बोज। गोविन्द सुत्त में हमें इससे कुछ अधिक विस्तृत भौगोलिक सीमाओं का वर्णन मिलता हैं जिसके अनुसार ब्राह्मण गोविन्द ने रेणु और छै अन्य क्षत्रिय राजाओं में भारत को बांटा—(१) कलिंग जिसकी राजधानी दंतपुर थी (२) अस्सक जिसकी राजधानी पोतन थी, (३) अवन्ती जिसकी राजधानी माहिशमती थी, (४) सौवीर जिसकी राजधानी रोरुक थी, (५) विदेह जिसकी राजधानी मिथिला थी, (६) अंग जिसकी राजधानी चम्पा थी और (७) काशी जिसकी राजधानी वाराणसी थी।

ललित विस्तर नामक ग्रन्थ में भी ज़िक्र है कि जम्बूद्वीप (भारत) १६ भागों में बांटा गया था। उपर्युक्त ग्रन्थ में भगवान बुद्ध के जन्म को लेकर एक कथा है : प्रश्न था भगवान बुद्ध कहां और किस कुल में जन्म लें। नीचे लिखी जगहें चुनी गईं (१) वैदेहकुल (मगध), (२) कोसल राजकुल, (३) वंसराज राजकुल जिसका तिब्बती नाम वदस है और जिसकी राजधानी कौसाम्बी है, (४) वैशाली का नगर राजकुल, (५) प्रद्योतान राजकुल जो उज्जयनी में शासन करता था, चीनी उल्लेखों में उसे मावन्ती लिखा गया है, (६) मथुरा जहां कंस राजकुल था, (७) पाण्डवों की नगरी हस्तिनापुर, (८) मिथिला का नगर और (९) शाक्यों का देश जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। उपरोक्त ९ जगहें भगवान बुद्ध के जन्म के लिये चुनी गईं। किन्तु सिर्फ़ शाक्य वंश को छोड़कर और वंशों में कुछ न कुछ ऐब पाया गया। इसलिए भगवान बुद्ध ने शाक्य राजकुल में जन्म लिया।

इसी पुस्तक के १० वें अध्याय में बोधिसत्त्व ने ६४ तरह की लिपियों का ज़िक्र किया है उनमें नीचे लिखी जगहों और गुफाओं का वर्णन आता है (१) अंग (२) बंग (३) मगध (४) सकारी (५) ब्रह्मवल्लि (६) द्रविड़ (७) दक्षिण (८) उग्र (९) दर्द (१०) खसाया (११) चीन और (१२) हूंणों का देश। संस्कृत और पाली ग्रन्थों में जो उद्धरण हमें मिलते हैं उससे यह साबित होता है कि वैदिक काल और प्रारम्भिक बौद्ध काल में भारतीयों को जिन देशों का भौगोलिक ज्ञान था उसके अनुसार उन्हें दक्षिण भारत और सिंहल का पता न था। इनका ज्ञान बाद में हुआ।

भारत की भौगोलिक क्षितिज पर दक्षिण भारत का नाम पहले पहल चौथी सदी ईसा पूर्व में आता है। यदि पाणिनि को सारे भारत का ज्ञान नहीं था तो उसके टीकाकार कात्यायन को, जो कि मौर्यों के पहिले नन्ददास के समय में हुआ है, सारे भारत का पूरा ज्ञान था। कात्यायन पाण्डय, चोला और महिस्मात का ज़िक्र करता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यूनानी लेखों से जो प्रमाण हमें मिलते हैं उससे पता चलता है कि सिकन्दर के समय में भारतवासियों को समस्त भारत का पूरा ज्ञान था। यूनानी इतिहास लेखक, स्ट्रैबो लिखता है—"सिकन्दर ने सारे भारत की भौगोलिक स्थिति का लोगों से वर्णन सुना।" स्ट्रैबो ने अपने ज्ञान के आधार पर भारत के कुछ भागों की दूरी का ज़िक्र किया है जो क़रीब क़रीब बिलकुल ठीक है।

इतिहास से हमें पता चलता है कि मौर्य सम्राट के अन्तर्गत सारे भारत का उस समय के लोगों को पूरा ज्ञान था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, जिसका रचयिता सम्राट चन्द्रगुप्त का मंत्री चाणक्य समझा जाता है, सारे भारत की, जिसमें दक्षिण भी शामिल था, आर्थिक वस्तुओं का बहुत अच्छा वर्णन है। उसमें भारत के व्यापारी मार्गों को दो प्रमुख हिस्सों में बांटा गया है।

"हैमवतो दक्षिणापथाच्छ्रेयान हस्त्यश्वगन्धदन्ताजिनरूप्यसुवर्णपण्यास्सारवत्तरा" — इत्याचार्याः।

नेति कौटिल्यः—कम्वलाजिनाश्वपण्यवर्जाः शंखवज्रमणियुक्तास्मु वर्णपण्याश्वप्रभूतशः दक्षिणापथे।

दक्षिणा पथेऽपि वहुश्वनिः ...

[भाग सात, अध्याय १२]

(१) उत्तर पथ जो हिमालय की ओर जाता है जो हिमावताह कहलाता है।

(२) दक्षिण पथ जो दक्षिणापथ कहलाता है। उस समय हिमावताह के रास्तों से हाथी, घोड़े, इत्र, चमड़ा, चांदी, सोना आदि आता था और दक्षिण के पथ से शंख, हीरा, जवाहरात मोती और सोना आदि आता था। व्यापारिक दृष्टि से दक्षिणापथ, उत्तर पथ से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। लोगों को ज्ञान था कि दक्षिण भारत में खनिज पदार्थ की बहुतायत है। दक्षिण और सिंहल का कुछ हिस्सा मोती के लिए प्रसिद्ध था, जैसे ताम्रपर्णिका, कुल, चूर्ण आदि। कुछ पर्वत भी प्रसिद्ध थे मसलन पाण्ड्यवातक और महेन्द्र। उत्तर में हिमालय में स्थित कुछ गांव चमड़े के लिए प्रसिद्ध थे जैसे विषि, महाविषि, अरोहा, बहलव आदि। नेपाल कम्बलों के लिए मशहूर था। काम्भोज (अफ़ग़ानिस्तान) सिन्धु, अस्त (पंजाब) घोड़ों के लिए मशहूर थे। पूर्वीय प्रान्तों में बंग, पौंड्र, सुवर्ण-कुड्यक (शायद कामरूप) मगध, काशी और कलिंग हाथियों के लिए प्रसिद्ध थे। दक्षिण में मदुरा, पश्चिम में अपरान्त अपने सूती कपड़े के लिए मशहूर थे। सौराष्ट्र हाथियों के लिए और सौवीर्य घोड़ों के लिए प्रसिद्ध थे। इसके अतिरिक्त विदेशों के नाम भी आते हैं जिसके साथ भारत का व्यापार होता था जैसे स्वर्णभूमि अपने सुगंधित द्रव्यों के लिए मशहूर थी। चीन अपने रेशमी कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था और अरब (बनायु) अपने घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था।*

अशोक की लाटें इस बात की पुख़्ता प्रमाण हैं कि उस ज़माने के लोगों को सारे भारत का ज्ञान था। दक्षिण के स्वाधीन राज्यों में चोला, पाण्ड्या, सतिय पुत्र, केरल पुत्र, आन्ध्र और पुलिन्द का भी वर्णन मिलता है। कई सामन्त देशों का ज़िक्र आता है जैसे योण, कम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितैनिक (शायद पैथान), नभतास। महेन्द्र की सिंहल की धर्म विजय को भी एक ऐतिहासिक सत्य समझना चाहिये।

मौर्य साम्राज्य के समय में सारे भारतवर्ष का ज्ञान और उसकी भौगोलिक एकता से सभी परिचित थे। इसीलिए समकालीन साहित्य में भारत की भौगोलिक एकता का इधर से उधर तक वर्णन भरा पड़ा है।

दक्षिण भारत के सम्बन्ध में पातांजलि (१५० ईसा पूर्व) का ज्ञान कात्यायन से बहुत अधिक था। अपने महाभाष्य में वह माहिस्मती के अतिरिक्त

* अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५०, ७५-८१ [मैसूर संस्करण]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वैदर्भ, कांचीपुर, केरल और मलाबार का भी ज़िक्र करता है।

रामायण और महाभारत का समय निर्धारित करना बहुत मुश्किल है। साधारणतया रामायण को महाभारत से प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है और यह इसलिये भी सच है कि रामायण में दक्षिण भारत का इतना विषद वर्णन नहीं मिलता जितना कि महाभारत में। रामायण में दक्षिण की जिन जगहों का ज़िक्र आया है वह हैं—उत्तल, कलिंग, दशार्ण, अवन्ति और विदर्भ। किन्तु ये सारी जगहें विन्ध्या से कुछ बहुत नीचे नहीं हैं। रामायण में इनके और विन्ध्या के बीच की केवल एक जगह का ज़िक्र आता है और वह है दण्डकारण्य। इस तरह का भौगोलिक ज्ञान सहज ही में यह मानने को विवश करता है कि रामायण सातवीं सदी ईसा पूर्व से पहले का ग्रन्थ है।

महाभारत में सभापर्व में सहदेव की दक्षिण विजय का वर्णन है जिसमें सहदेव ने पाण्ड्य, द्रविड़, उड्र, केरल और आंध्र को क़ाबू में किया। भीष्मपर्व में सात प्रमुख पहाड़ों और २०० नदियों के नाम आते हैं, जिनमें दक्षिण की महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, कृष्णवेनी, वेन, तुङ्गवेन शामिल हैं। वाण पर्व में निम्नलिखित दक्षिण के तीर्थों का वर्णन है—गोदावरी, पायोसिनी, अगस्त्य तीर्थ, वरुण तीर्थ, ताम्रपर्णि, गोकरण तीर्थ, कावेरी और कन्या तीर्थ (कन्या अन्तरीप)।

बराहमिहिर में भारत के ९ भागों का नीचे लिखा वर्णन आता है—

(१) मध्य भाग: जातियां—कुरु, पांचाल, पाण्डु, सूरसेन, वत्स आदि; शहर—मथुरा, साकेत; नदियां—यमुना और सरस्वती।

(२) पूर्वी भाग: जातियां—अम्बष्ठ, कौसलाक, पौण्ड्र, प्राग्ज्योतिष, ताम्रलिप्ति, और उत्कल; देश—कौसल, मिथिला, कासी, मगध पुण्ड्र, ताम्रलिप्ति, समतात्, उड्र आदि।

(३) दक्षिण पूर्व भाग : जातियां—चेदि, दशार्ण, निशाद आदि; देश—अंग (चेदि) उपवङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, आन्ध्र, विदर्भ, आदि; पहाड़—विंध्या।

(४) दक्षिणी भाग: जातियां—आभीर, अवन्तक, चेर्य, कैर, वारिचर आदि; देश—वैदुर्य, भारुकच्छ, चित्रकूट, कांची, लंका, दक्षिण महासागर, सिंहल, तालिकट, वेल्लुर, चेरा, चोला, कच्छ, कर्नाटक, केरल, कोकण; वन—दण्डकारण्य; पहाड़—दर्दुर, कुसुम, महेन्द्र, ऋष्यमुख, सूर्प; नदियां—कावेरी, कृष्णा, ताम्रपर्णि, वेन आदि।

(५) दक्षिण-पश्चिम भाग: जातियां—आभीर, अर्व, बर्वर, किरात, माकड़, पह्लव, सिन्धु, सौवीर, सूद्र, यवन आदि; देश—महार्णव, अनार्त, द्राविड़, कम्बोज, पारसव, सौराष्ट्र आदि।

(६) पश्चिमी भाग: जातियां—अपर्णाटिक, हैहय, म्लेच्छ, सक, वैश्य आदि।

(७) उत्तर पश्चिमी भाग: में हारहौर, स्त्री-राज्य और वेनुमती नदी शामिल थीं।

(८) उत्तरी भाग: जातियां—हूण, कैकय, उदीच्य आदि; नगर—पुष्कलावती, तक्षशिला; देश—गान्धार, उत्तर कुरु; पहाड़—धनुष्मात, हिमवात, कैलाश आदि; नदियां—यमुना।

(९) उत्तर पूर्वीय भाग—काशमीर।

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत को प्राचीन काल में अपने देश की एकता और अखण्डता का धार्मिक और भौगोलिक ज्ञान था। और यह महज़ एक दिमाग़ी कल्पना न थी बल्कि लाखों व्यक्ति इस कल्पना को अपनी दैनिक प्रार्थना में दुहराते थे।

भौगोलिक और धार्मिक अखण्डता के अतिरिक्त भारतीय एकता को राजनैतिक दृष्टि से भी उपलब्ध किया गया था। मध्य काल में सारे भारत की एक राजनैतिक केन्द्रीय सत्ता अकबर के समय में क़ायम हुई। अकबर के सिंहासन के चारों ओर विविध धर्मों और विविध जातियों के लोग एकत्रित हुए। लोगों ने अनुभव किया कि सारा भारत राजनैतिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

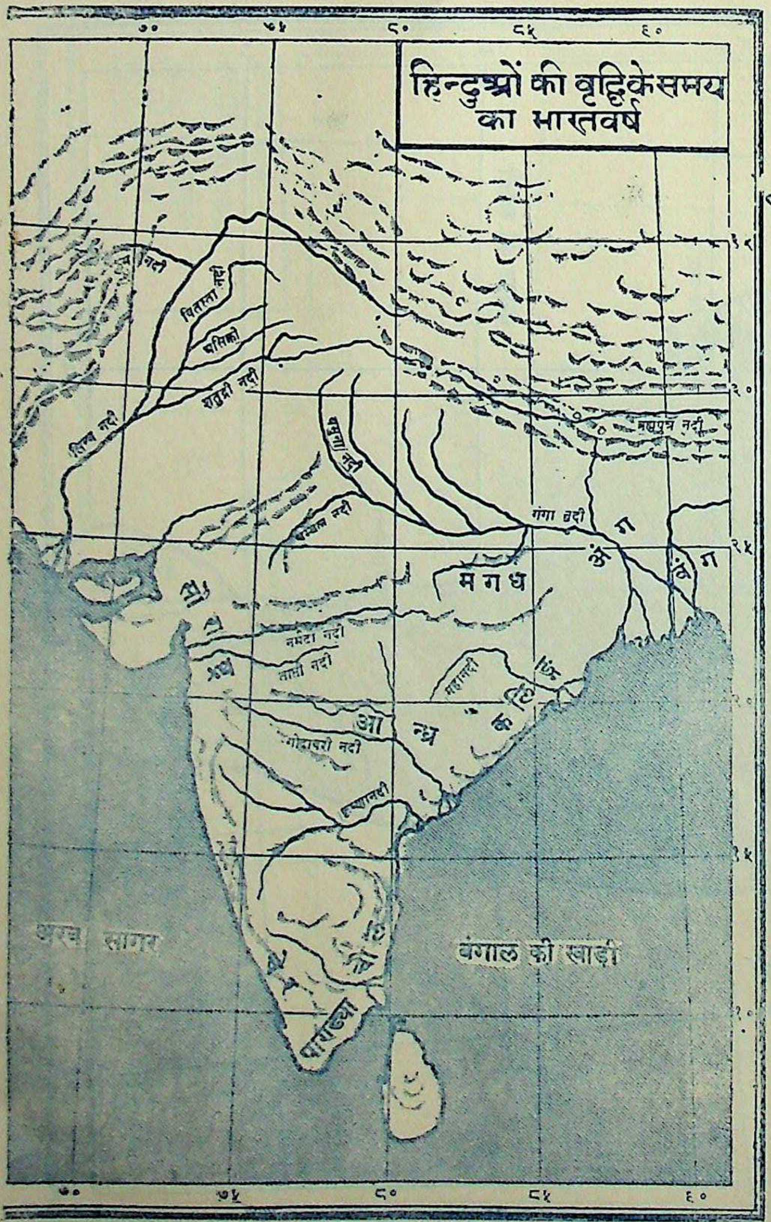

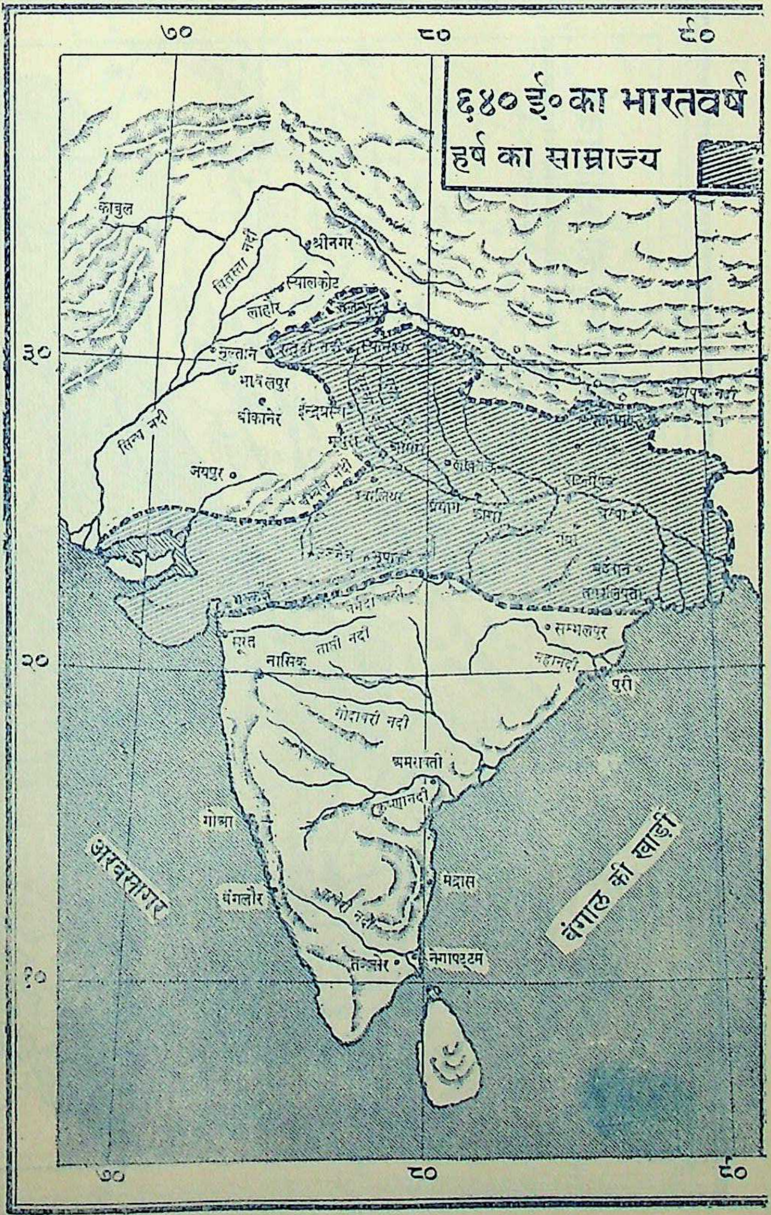

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

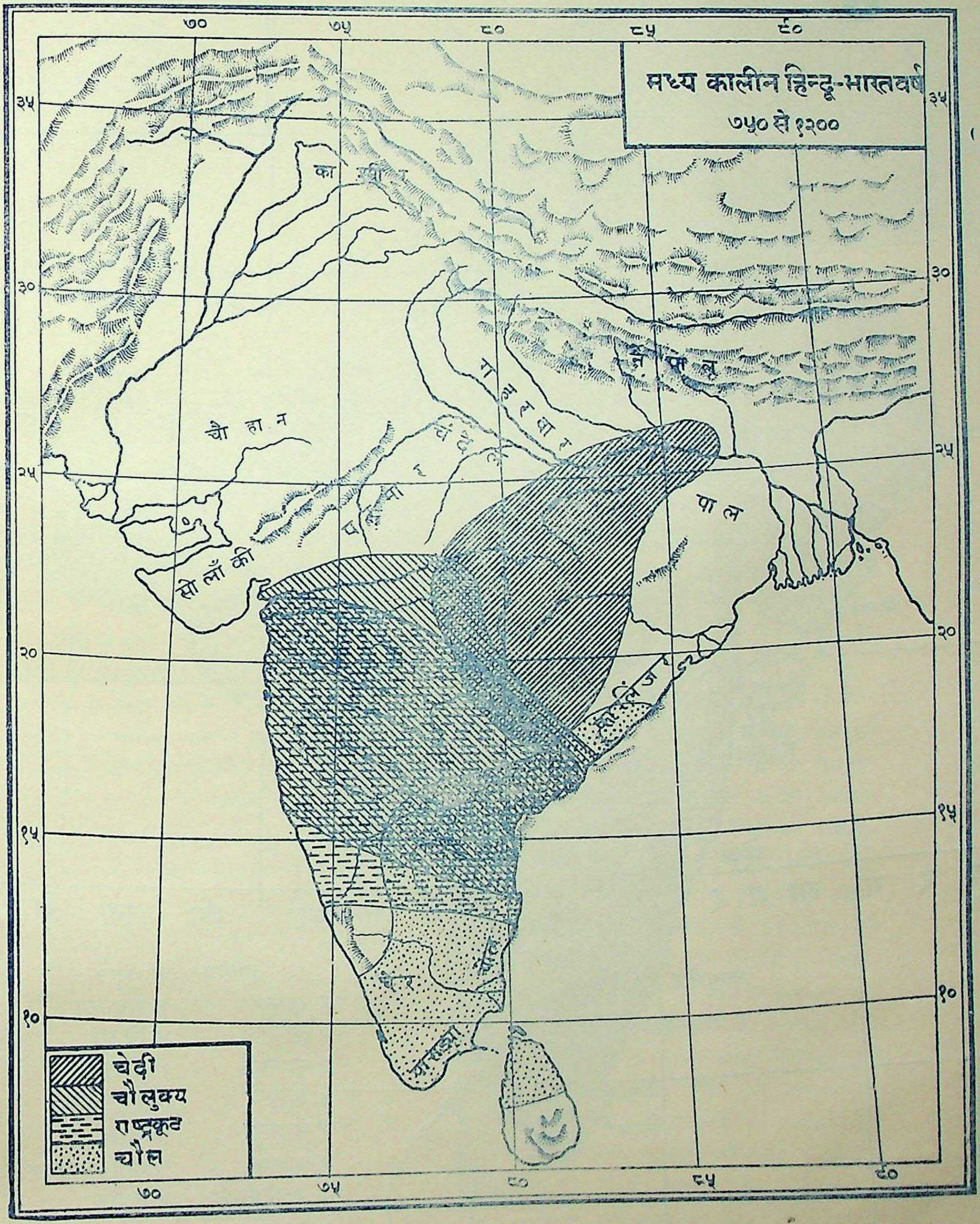

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

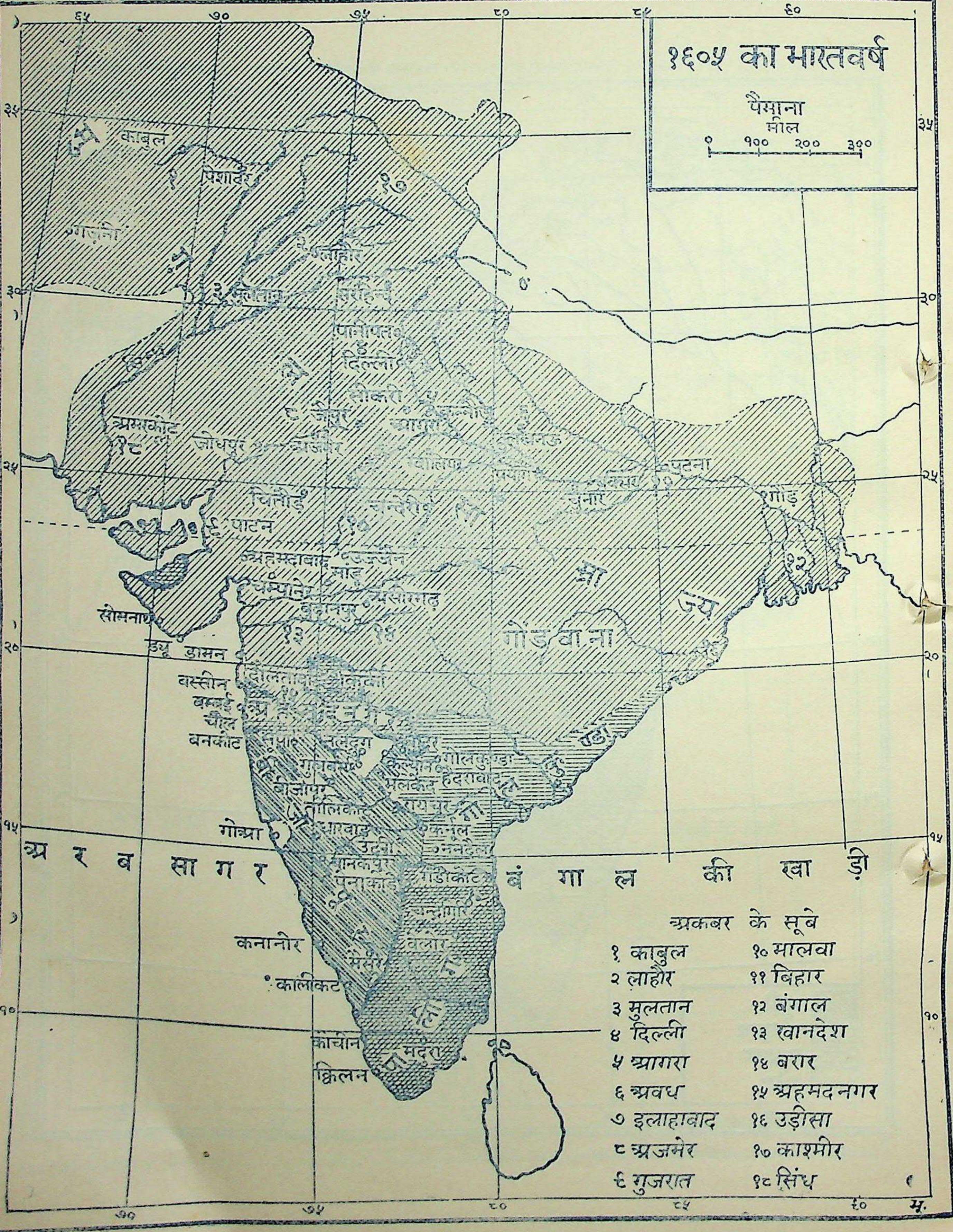

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्टि से एक राष्ट्र है। प्राचीन काल में इस तरह का सम्राट हर्ष वर्धन (६०६–६४८) हुआ है। हर्ष वर्धन के राज्य की सीमाएं उत्तर में नैपाल, दक्षिण में नर्मदा, पश्चिम में मालवा और गुजरात तक फैली हुई थीं और बाक़ी देश सम्राट हर्ष वर्धन को अपना अधिराज स्वीकार करता था। हर्ष वर्धन से भी पहले सम्राट समुद्र गुप्त ने चौथी शताब्दी में गंगा से लेकर तामिल नाड तक भारत की राजनैतिक एकता क़ायम की थी और उत्तर में आक्सस नदी तक और दक्षिण में सिंहल तक की शक्तियों के साथ उसकी मैत्री थी। समुद्र गुप्त से भी पहले ईसवी सदी पूर्व में सम्राट अशोक ने अफ़ग़ानिस्तान से लेकर मैसूर तक भारत को एक झंडे के नीचे इकट्ठा किया। सम्राट अशोक ने बाहर के अनेक देशों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किया। अशोक से भी पहले भारत का ऐतिहासिक सार्वभौम सम्राट चन्द्रगुप्त हुआ था जिसने भारत को राजनैतिक एकता की भावना दी।

किन्तु चन्द्रगुप्त के पूर्व भी भारत में चक्रवर्ती सम्राट की कल्पना हो चुकी थी। चक्रवर्ती सम्राट के अभिषेक के लिये वाजपेय और राजसूय यज्ञों का विधान था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वाजपेय और राजसूय के अतिरिक्त सार्वभौम अधिराज को ज़ाहिर करने के लिये दो और विधान थे जो 'पुनर्भिषेक' और 'अइन्द्र महाभिषेक' कहलाते थे। नीचे लिखे श्लोक से सार्वभौम सम्राट की कल्पना होती है—

अहं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छयें साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यं आधिपत्यमहं समन्त पर्य्यायीस्यां सार्व्वभौमः सार्व्वायुप आन्तादापराढ़ीत् पृथिव्यै समुद्र पर्य्यान्तलाया एक राड़िति।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सबमें बड़ा सम्राट "आसमुद्रक्षितीश" होता था जिसकी सरहदें समुद्र तक फैली हों। ऐतरेय ब्राह्मण इस तरह के सम्राटों की नीचे लिखी सूची देता है—

(१) जन्मेजय पारीक्षित
(२) सार्यात मानव
(३) सतानिक सात्रजित
(४) अम्बष्ठ्य
(५) युधान स्रौष्टि
(६) विश्वकर्मा
(७) सुदास
(८) मारुत्त अवीक्षित
(९) अरिग वैरोचन
(१०) भारत दौष्मन्ति
(११) दुर्मख पांचाल
(१२) अत्यराति जानान्तपि

सतपथ ब्राह्मण में १३ राजाओं के नाम दिये हैं जो राजा सार्व्वभौमोऽश्वमेधेन यजेत थे। सांखायन सूत्र में इस तरह के ७ राजाओं के नाम हैं। विविध पुराणों में अनेक सार्वभौम सम्राटों के नाम पाये जाते हैं।

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में सार्वभौम राजाओं का वर्णन आता है और उसमें इस तरह के राजाओं की सूची मिलती है जो सारे भारत के अधिराज रहे। इस तरह के सार्वभौम राजाओं को "चातुरन्तो राजा" कहा जाता था। उनके राज्य की सीमाएं देश के चारों कोनों को छूती थीं। देश के अन्दर उनकी सत्ता से इनकार करने वाला कोई न था। चारों ओर उनका सम्पूर्ण अधिकार था ("अनन्यां पृथिवीं भुक्ते")। उनके राज्य "चक्रवर्ती क्षेत्रम" होते थे। उनके राज्य की सीमाएं "हिमवत समुद्रान्तरं चक्रवर्तिक्षेत्रम" होती थीं। अर्थ शास्त्र में इस तरह के राजाओं के नामों की विस्तृत सूची दी गई है जिनमें युधिष्ठिर का नाम भी है। युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ के दरबार में भारत के कोने कोने से राजाओं को निमन्त्रित किया था ताकि वे सब आकर युधिष्ठिर को अपना अधिराज स्वीकार करें और उसे ख़िराज दें। महाभारत में उस समय के भारतवर्ष के राजाओं की सूची मिलती है जिनकी आपसी ईर्षा और दुशमनी ने महाभारत की लड़ाई कराई। राजा युधिष्ठिर ने इन सब लोगों को थोड़े काल के लिये एक सूत्र में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बाँध रखा। इन सब राजाओं को एकत्रित करने का विचार प्रकट करते हुए युधिष्ठिर ने कहा था।—

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियं कराः
न च साम्राज्य माप्तास्ते सम्राट शब्दो हि कृच्छ्भाक्

युधिष्ठिर के मार्ग में अखंड सत्ता स्थापित करने में अनेक रुकावटें थीं। चारों ओर स्वाधीन राज्य थे जो अपनी अपनी सत्ता के विस्तार के प्रयत्न में लगे हुए थे। उत्तर में कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर थी, पूर्व में मथुरा की नगरी में प्रबल राजा राज्य करता था, दक्षिण में मालवा का राजा भय और त्रास देता रहता था, पश्चिम में विराट का राज्य एक ईर्षालु राजा के हाथ में था; किन्तु इन सब में मगध का राजा जरासिन्धु सबसे अधिक पराक्रमी था! जरासिन्धु को क़ाबू में करना टेढ़ी खीर थी। भारतवर्ष के समस्त राजाओं को अपने अधीन करने के लिये युधिष्ठिर ने चारों दिशाओं में अपने चारों भाइयों को सेना सहित भेजा। अर्जुन उत्तर दिशा की ओर गये। अर्जुन ने कुलनीद, कालकूट, अत्रस्थ, स्वाकल द्वीप, भगदत्त, उलुक मोदपुर, वामदेव, सुदामन, सुसांकुल, देवप्रस्थ आदि को क़ाबू में करके किरातों और चीनियों को वश में किया। इसके बाद अर्जुन ने काशमीर और बलख को जीतते हुए कम्बोज और दर्द आदि को अपने अधीन किया। तदुपरान्त उन्होंने हिमालय, कम्पिलवर्स, हालक और मानस झील के पास के राजाओं को जीता। अन्त में उत्तर कुरु को विजय करते हुए वह वापस लौट आये। दूसरी सेना भीम के अधीन पूर्व में भेजी गई। भीम ने द्रुपद, दर्शार्ण, पुलिन्द, चेदि, कोसल, अयोध्या, उत्तर कोसल उल्लू, तराई, काशी, मत्स्य, मालदा, मदाधर, वत्सभूमिय, भंग, संतक वर्मक, मिथिला, मगध, कर्ण, वंग आदि को जीतकर और उनसे ख़िराज लेकर उन्हें अपने वश में किया। सहदेव दक्षिण की ओर गये, नर्मदा को पार करके किष्किन्धा, महीष्मती को जीत कर वे दक्षिण भारत की तरफ़ पहुँचे। वहां उन्होंने द्रविड़, सराभिरद्रन, ताम्र, तिमिंगल कलिंग, आन्ध्र, उद्र, केरल, तालवण, सिंहल और दूसरे देशों को अपने क़ाबू में करके लौटते हुए सूरत और गुजरात को भी अपनी अधीनता में किया। नकुल पश्चिम की ओर गये और उन्होंने रोहितक, दक्षिण राजपूताना, महेत्था, सिवि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मातव पंच, कई फटा, माध्यमका, वतधाम, पुश्कर, आभीर, पंजाब, पल्लव, बर्बर किरात, यवन और शक आदि जातियों को जीतकर बहुमूल्य वस्तुएं राज्यकर के रूप में लेकर इन्द्रप्रस्थ लौटे। इस तरह एक बार सारा भारतवर्ष पाण्डवों की सत्ता के नीचे आ गया। सारे भारत के राजाओं ने पाण्डवों को सार्वभौम राजा स्वीकार किया। समस्त प्रान्त इस प्रकार केन्द्रिय शासन के साथ एक सूत्र में बंध गये।

चक्रवर्ती सम्राट की वैदिक कल्पना पर बौद्ध विचार धारा ने एक दूसरा ही प्रभाव डाला। बौद्ध विचार धारा के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट वह है जो अच्छे विचारों से भरा हो। बौद्धों ने भगवान् बुद्ध के अन्दर पारलौकिक दुनिया का एक चकवर्ती सम्राट स्वीकार किया। धर्म के रथ में बैठकर भगवान् बुद्ध ने सारी दुनिया को अपने वश में किया। उनकी शिक्षाओं के मेघों ने कल्याण, भव्यता, और पवित्रता की बारिश की और लोभ, घृणा और अज्ञान की अग्नि को बुझाया।

इस बौद्ध विचार धारा की पटभूमिका में सम्राट चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठे। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत का वही सबसे पहला सम्राट था। उसको पूर्ण सफलता मिली। उस समय की एक पुस्तक नीति शास्त्र में 'राजराजेश्वर' के अधिकारों का विवेचन किया गया है। सारे देश को एक मंडल के रूप में देखा गया था जिसके अधिपति को मंडलाधिप कहा जाता था। अर्थशास्त्र में इन सब बातों की व्याख्या की गई है कि मंडलाधिप किस प्रकार 'एकैश्वर्य्य' प्राप्त कर सकते थे।

सबसे पहले हम कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव को अपने नाम के आगे 'महाराज' शब्द जोड़ते हुए

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाते हैं। यही तीनों राजा अपने नाम के पूर्व राजाधिराज' शब्द भी जोड़ने लगे। गुप्त वंश के सिक्कों में हमें 'महाराजाधिराज' 'परम भट्टारक' 'राजाधिराज' और 'चक्रवर्तिन' शब्द मिलते हैं। बाद में गुप्त वंश के अनेक सम्राट अपने नाम के पूर्व 'परमेश्वर' शब्द जोड़ने लगे। सिलादित्य सातवें के सिक्कों में हमें 'परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर और चक्रवर्तिन' शब्द मिलते हैं। बंगाल में पाल राजाओं के नाम के पूर्व भी 'परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' शब्द जोड़े जाते थे।

इस तरह इस बात के असंख्य प्रमाण हैं कि प्राचीन भारत भौगोलिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टि से एक देश था। विस्तार में महान और रीति रिवाजों में विभिन्न होते हुए भी भारत में एक मौलिक एकता थी। "भारत हमारी महान मातृभूमि है" यह विचार प्रत्येक भारतवासी के हृदय में व्याप्त था।

भारत की संस्कृति और सभ्यता ने, उसकी भौगोलिक परिस्थिति और उसके ऐतिहासिक अनुभवों ने, उसके धार्मिक विचारों और उसके आदर्शों ने उसे एकता और अखंडता दी है और उसके व्यक्तित्व को सम्पूर्ण बनाया है। इन्हीं गुणों ने काल के घातक हमलों से भारत की रक्षा की है और संसार के सांस्कृतिक इतिहास में मानवता को कल्याण और शान्ति पहुंचाने के महान उद्देश्य को भारत के सहृदय मानस में अद्भुत शक्ति के साथ जाग्रत किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय चित्रकला पर एक दृष्टि

श्री अजित घोष, एम. ए., बी. एल.

कला की जो सब में बहुमूल्य थाती आज भारत के पास है, वह है अजन्ता की गुफाओं की बौद्ध चित्र-कला। वह कितनी महत्त्वपूर्ण है इस दृष्टि से अब तक उसका अध्ययन नहीं किया गया, न इसी बात की कल्पना की गई है कि संसार के कला के इतिहास में अजन्ता की चित्रकला का कितना प्रमुख स्थान है। यूनानी कला के सर्वोत्तम स्मारक भी उससे आगे नहीं जा पाते। एक बार तो ऐसा मालूम होता था कि संसार के कला समीक्षक अजन्ता की चित्रकला को सर्वोच्च स्थान देंगे, किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हुआ और दुनियां के कला विशारदों ने चीनी कला को अपने अध्ययन का विषय बनाया। शायद पाश्चात्य कलाकारों के लिये चीनी कला सुगम और जल्दी समझ में आने वाली है। अजन्ता की चित्रकला जातक कहानियों के अनुसार भगवान बुद्ध के जीवन और उनके पूर्व जन्मों के दृश्यों का संग्रह है। अजन्ता की गुफाओं को केवल इसीलिये नहीं चित्रित किया गया कि उन्हें शोभनीय बनाना था, जैसा कि पाश्चात्य देशों में सार्वजनिक स्थानों और भवनों के चित्रण में किया जाता है; बल्कि जिन भिक्खुओं ने अजन्ता की गुफाओं की दीवालों को चित्रों से विभूषित किया, उनके सामने एक महान उद्देश्य और एक पवित्र कर्त्तव्य था। भगवान बुद्ध की पुण्य गाथाओं के प्रति उनमें अमित श्रद्धा थी। वह श्रद्धा उनके जीवन का अंग थी। अजन्ता के चित्रकारों ने गुफा की दीवालों को अत्यन्त पवित्र भावनाओं के साथ कूची से रंगा होगा। अजन्ता की चित्रकला धार्मिक विश्वास का साकार रूप है। अजन्ता की चित्रकला से हम यहां कुछ थोड़े से उदाहरण देंगे। गुफा नम्बर एक में महा बोधिसत्त्व की एक भव्य और आश्चर्यपूर्ण चित्र कल्पना है, जिसे केवल भक्ति भाव के साथ हम देखने को विवश होते हैं। यहां कलाकार ने प्रतिभा और दया का आश्चर्यमय चित्रण किया है। चित्र की पृष्ठभूमि में दूसरी आकृतियां घटते हुए परिमाण में दिखाई गई हैं। बोधिसत्त्व के अन्दर दया और भक्ति मानो केन्द्रित हो गई है और वह कलाकार की श्रेष्ठता को साबित करती है। चित्रों की लकीरों में एक गति और भव्यता है। इसी गुफा की बाईं दीवाल पर संखपाल की कहानी अत्यन्त सुन्दरता के साथ चित्रित की गई है। एक दूसरे चित्र में हम काशी के राजा को एक योगी से बात करते हुए देखते हैं। राजा हाथी पर शाही छत्र लगाये बैठा है। कलाकार ने इस कहानी को अत्यन्त सुन्दरता के साथ चित्रित किया है। सामने शाही जुलूस है, जिसमें राजा प्रमुख है, किन्तु पृष्ठभूमि में योगी की प्रमुखता है जिसके सामने बैठा हुआ नत मस्तक राजा फ़ौरन ध्यान आकर्षित करता है। चित्र के अन्दर तीन दृश्य हैं—अन्तःपुर की स्त्रियाँ, शाही जुलूस, योगी और उसके भक्त। एक ही चित्र में तीनों दृश्यों को अपूर्व सुन्दरता के साथ चित्रित किया गया है। विशेषता यह है कि हर दृश्य में प्रमुख व्यक्ति को यथेष्ट प्रमुखता दी गई है और यह सब अत्यन्त मनोहर और सुन्दर ढंग से किया गया है। अजन्ता के चित्रकार किसी पद्धति विशेष के साथ इस तरह नहीं बंधे थे जिस तरह उनके पदाधिकारी जैन कलाकार। इन बौद्ध भिक्खु कलाकारों ने जीवन के दृश्यों को उसकी सुन्दरता और उसकी भव्यता के साथ इन गुफाओं में चित्रित किया है। ये बौद्ध भिक्खु बाह्य जीवन को इतनी स्पष्टता के साथ अंकित करते थे कि वह सब अब भी जीती-जागती सी दीवारों के ऊपर उन गुफाओं में मौजूद है। अजन्ता की इस चित्रकला के निर्माण में अनेक शताब्दियां लगी थीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

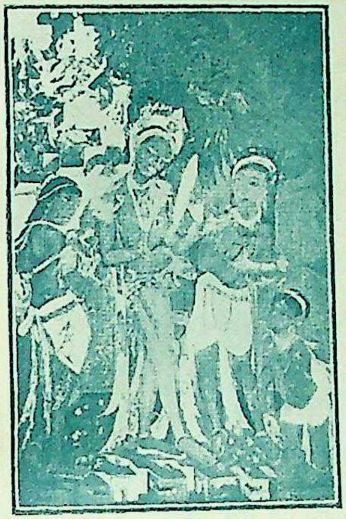

श‍ृङ्गार का एक दृश्य
[गुफ़ा न० १७, अजन्ता]

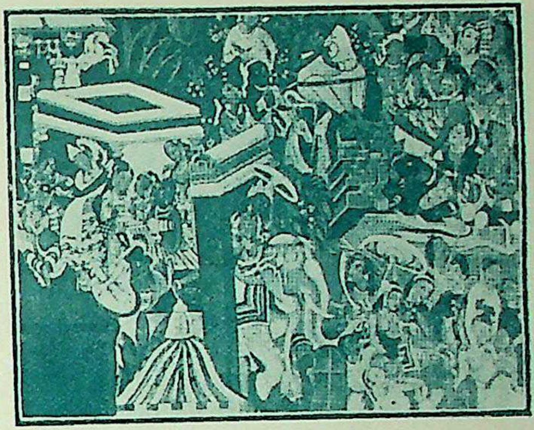

नागराज की कहानी
[गुफ़ा न० १, अजन्ता]

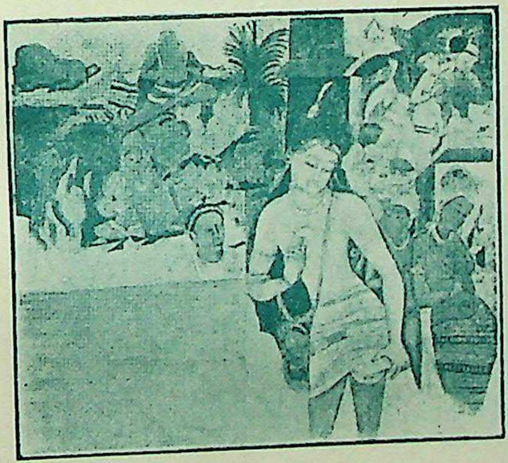

महाबोधि सत्व
[गुफ़ा न० १, अजन्ता]

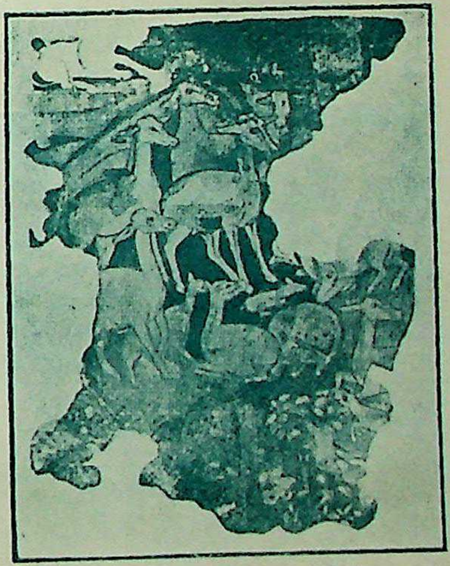

हिरनों का झुण्ड
[गुफ़ा न० ५, अजन्ता]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महावीर का जन्म
[कल्प सूत्र हस्तलिपि; १४८० ई०]

नैपाली हस्तलिपि का एक मिनियेचर चित्र

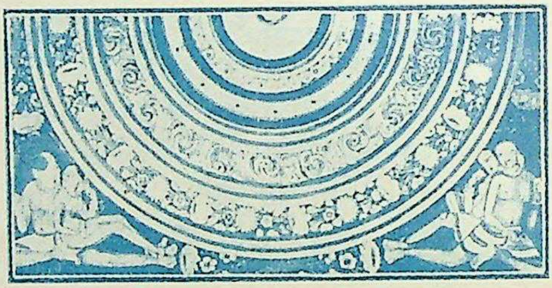

छत का पेनल [गुफा नं० २, अजन्ता]

आकाश गामी अप्सराएं और गन्धर्व
[गुफा नं० १७, अजन्ता]

बौद्ध हस्तलिपि का एक मिनियेचर चित्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और अजन्ता की चित्रकारी में इन कई शताब्दियों के जीवन के विविध पहलू सदा के लिये संसार के सामने चित्रित पड़े हुये हैं।

गुफा नम्बर १७ के एक दृश्य को लीजिये। यह शृङ्गार का एक दृश्य है और चित्रकार के अनुपम कला-कौशल को ज़ाहिर करता है। आकृति और पोज़ के लिहाज़ से यह चित्र अद्वितीय है। सारा चित्र सुन्दरता से पूर्ण है। चित्र की प्रमुख आकृति के आगे बाक़ी समस्त आकृतियां गौण हैं और यह बात एकदम हमारे ध्यान को आकर्षित करती है। चित्र में शृङ्गार करती हुई महिला की आकृति अत्यन्त कलात्मक ढंग से अंकित की गई है। अपने सुन्दर भाव, भव्य पोज़ और देवी रूप में वह उदासीन दिखाई देती है। गहन वस्तुओं को सहज लकीरों के रूप में ज्ञेय बनाया गया है। मानव आकृति और मानव जीवन को अत्यन्त सरल भावों में चित्रित किया गया है। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ये सुन्दर चित्र कलाकार की अपनी कल्पना के परिणाम थे। उनके सामने कोई साकार 'माडेल' नहीं था। उन कलाकारों ने अपने अपूर्व ज्ञान से सौन्दर्य की इन आश्चर्यमय प्रतिमाओं को अंकित किया, जो अनन्त सदियों से उसी प्रकार साकार सी बनी हुई हैं। यह स्वाभाविक था कि जिन कलाकारों को सौन्दर्य का इतना व्यापक बोध हो वे प्रकृति को भी सुन्दरतम रूप में चित्रित करेंगे। वे चित्रों को सजाने के महत्व को भी समझते थे, इसीलिये न केवल वृक्ष, पौधे और पशुओं को ही चित्रित किया गया है, बल्कि छतों में कई तरह की सुन्दर सजावटें बनाई गई हैं, फूलों के पेनल चित्रित किये गये हैं और पक्षियों को भी सुन्दरता के साथ अंकित किया गया है।

इण्डिया सोसाइटी ने अजन्ता के अन्तिम चित्रों और समकालीन बाघ गुफा की चित्रकारी को पुस्तक रूप में प्रकाशित किया है। बाघ गुफा में भी अजन्ता की चित्रपद्धति को अमल में लाया गया है। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकला हमारी खोई हुई कला की अन्यतम अवशेष है। बौद्ध चित्रकला का संसार में दूसरे देशों की चित्रकला पर क्या प्रभाव पड़ा इसका ज़िक्र हम यहां न करेंगे।

भारतवर्ष में बौद्ध चित्रकला का दूसरा रूप मिनियेचर चित्रकला यानी सूक्ष्म चित्रकला है। तीन शताब्दियों के बाद बौद्ध कला फिर से पुनर्जीवित हुई; लेकिन अबकी बार हस्तलिपियों और ग्रन्थों के चित्रों के रूप में। नेपाल के हस्तलिखित बौद्ध ग्रन्थ और बङ्गाल की 'अष्ट सहस्र प्रज्ञा पारमिता' के ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं। वह सूक्ष्म चित्रकारी हम आसानी से अजन्ता की सुन्दरतम पद्धति में ढूंढ़ सकते हैं, हालांकि इनमें से अधिकांश चित्र अजन्ता के बड़े भद्दे प्रतीक हैं। किन्तु एक बात ध्यान में रखनी होगी कि अजन्ता की भव्य दीवालों पर चित्रकला के टेक-नीक को विस्तार के साथ प्रदर्शन का मौक़ा मिला है और इन छोटे छोटे ग्रन्थों के लिये वैसा विस्तार सुलभ नहीं था। फिर भी इनकी सीधी सादी लकीरें और रंगों का चयन इस बात को साबित करते हैं कि सचित्र ग्रन्थों की चित्रकला का वह प्रारम्भिक काल था। ताड़पत्र की हस्तलिपि पर चित्राङ्कण की कल्पना एक चमत्कार है। इन छोटे-छोटे चित्रों को यदि हम यहां बग़ैर उनके असली रंगों में उद्धृत करें, तो यह उनकी सुन्दरता के साथ अन्याय होगा और हम इन दो-दो इंच के सुन्दर चित्रों का कोई मूल्य भी नहीं आंक सकेंगे। इनकी एकरंगी प्रतिलिपियों से, हम इनके रेखाङ्कण और इनकी सजावट को भली भांति समझ सकेंगे, लेकिन रंगों की सुन्दरता की कल्पना हम न कर सकेंगे। इन छोटे-छोटे चित्रों में पाल-युग की बौद्ध हस्तलिपि का एक मिनियेचर (छोटा) चित्र उस समय की इस चित्र प्रणाली का सब में सुन्दर और सब में अपूर्व नमूना है। एक पौराणिक उपाख्यान का यह चित्र-रूप अजन्ता-पद्धति से बिल-कुल मिलता-जुलता है। कोमल रेखाङ्कण, जिसमें सुन्दरतम रंग भरा गया है, चित्र को भव्यता प्रदान करता है और चित्र की आकृति सुन्दर तथा दिव्य दिखाई देती है। कलाकार ने आश्चर्यजनक सफलता के साथ आकाश और भावों को चित्रित किया है। बादलों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के ऊपर उड़ती और तैरती हुई आकृतियां दिखाई गई हैं। अजन्ता के कलाकारों ने भी हवा में उड़ने की गति-विधि को आश्चर्यजनक सफलता के साथ अंकित किया है। जैन ग्रन्थों की मिनियेचर चित्रकला में अंग प्रत्यंग उभरे और नोकीले दिखाये गये हैं। जैन चित्रकारों ने मुंह को अंकित करने में ख़ास दिलचस्पी दिखाई है। बौद्ध ग्रन्थों की चित्रकला में जिन रंगों का इस्तेमाल किया गया है वे लाल, नीले और पीले हैं। अजन्ता में जो रंग इस्तेमाल किये गये हैं, वे ख़ास तौर पर धातुओं द्वारा निर्मित रंग हैं। 'सित्तन-वसल' के फ़्रेस्को को छोड़कर हमें जैन चित्रकला का विराट रूप देखने को नहीं मिलता। सित्तनवसल फ़्रेस्को जैनों का ही बनाया हुआ है, इसमें भी काफ़ी सन्देह है। जैन चित्रकला मिनियेचर (छोटी) चित्रकला है। यह तेरहवीं शताब्दी से शुरू होती है। सबसे पुराना ताड़ पत्र का ग्रन्थ १२३७ ई० का है, किन्तु जिस ग्रन्थ में सब में सुन्दर मिनियेचर चित्रकला है, वह पन्द्रहवीं शताब्दी का है। ये हस्तलिपियां आजकल अप्राप्य हैं। हमारे म्यूज़ियमों में भी इस तरह का कोई ग्रन्थ नहीं पाया गया। मेरे पास पन्द्रहवीं शताब्दी के दो कलासूत्र हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। बौद्ध कलाकारों की कलात्मक कल्पना अधिकतर धार्मिक वस्तुओं के चित्रण में ही प्रकट हुई है। फिर भी वह कल्पना व्यापक थी, और उसके अन्दर विविध रूप चित्रित किये जाते थे; किन्तु जैन कलाकारों के चित्रों में केवल आध्यात्मिक चित्र ही मिलते हैं। यदि ग्यारहवीं सदी की नैपाल की बौद्ध हस्त-लिपियों, और बंगाल की पाल युग की हस्तलिपियों और जैन मिनियेचर हस्तलिपियों की तुलना की जाय, तो इन सब की चित्रकला का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। बौद्ध चित्र लिपियों की चित्रकला इन सबसे कहीं अधिक अच्छी है। वह किसी कला रीति या पद्धति से बंधी हुई नहीं है। वह अपने समय की चित्रकला का एक अद्भुत सन्तुलन और समन्वय है। भिन्न-भिन्न रंगों को एक साथ मिलाकर उसमें निश्चित प्रभाव पैदा करना बौद्ध चित्रकला की विशेषता है। बौद्ध चित्रकला भावनात्मक कल्पना पैदा करती है, किन्तु जैन चित्रकला इसके बिलकुल विपरीत है।

शुरू-शुरू के जैन मिनियेचर चित्र जहां तक उनके टेकनीक का ताल्लुक़ है, बेहद दिलचस्प हैं। ग्रन्थों के पृष्ठ पर मिनियेचर चित्रों के लिए जितनी जगह छोड़ी जाती थी, उसमें पहले स्वर्ण-रज का लेप किया जाता था और सोने की पत्तियां चिपकायी जाती थीं, उसके बाद गहरे अरुण रंग से चित्र में रंग भरा जाता था। यह भी सम्भव दिखाई देता है कि जैन कलाकार पहले स्कैच बना लिया करते होंगे। पहले स्वर्णिम डिज़ाइन की एक बड़ी रूप रेखा खींच ली जाती थी, फिर आंख, पलकें, कान और अंगु-लियां आदि बना ली जाती थीं। परिणाम यह होता था कि चित्र में मुख, वस्त्र, फूल और सजावट की चीज़ें ऐसी मालूम होती थीं जैसे स्वर्ण की बनाई गई हों। बड़ी बड़ी निकली हुई आंखें और उभरे हुए अंग-प्रत्यंग प्रारम्भिक जैन मिनियेचर कला की विशेषताएं हैं। और इन्हीं विशेषताओं ने उनको अस्वाभाविक बना दिया है। प्रारम्भिक जैन कला में सब में मूल्यवान् वस्तु है चित्रों के चारों ओर की अनुपम सजावट।

जैन चित्रकला के सम्बन्ध में जो मसाला प्राप्त हो सका है, उससे हमें तीन प्रकार की जैन चित्र पद्धति दिखाई देती है—

(१) सबसे प्रारम्भिक पद्धति १३ वीं से लेकर १६ वीं शताब्दी तक प्रचलित थी, और यह जैन कला में सब से प्राचीन पद्धति कही जाती है।

(२) जैन कला की दूसरी पद्धति १६ वीं सदी के मध्य से १७ वीं सदी तक की है जब कि जैन चित्र-कला मुग़ल चित्रकला के संसर्ग में आई।

(३) जैन चित्रकला की तीसरी पद्धति वह है जब १७ वीं शताब्दी के अन्त में जैन चित्रकला राजपूत चित्रकला से प्रभावित हुई, और १८ वीं सदी में, राजपूत चित्रकला के अवनति के काल में, पूरी तरह से उसमें घुल मिल गई।

इन तीनों कालों की पद्धति में जो सबमें प्रमुख अन्तर दिखाई देता है, वह मुख के चित्रण में है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हम मुख का केवल आधा भाग चित्रित पाते हैं। फिर मुग़ल काल में हम सुडौल अंग प्रत्यंग का चित्रण पाते हैं। जब राजपूत कला का प्रभाव शुरू हुआ, तब स्त्रियों का गोल चेहरा चित्रित किया जाने लगा और पुरुषों की मूंछें-डाढ़ी बनने लगीं। १५ वीं शताब्दी में मिनियेचरों में लाल और सुनहले रंगों की जगह सुन्दर नीला रंग और सुनहला रंग इस्तेमाल होने लगा। फिर अन्त में भद्दे से भद्दे लाल पीले रंग इस्तेमाल किये जाने लगे और सोना बिलकुल निकाल दिया गया। जैन मिनियेचरों की रेखाएं लचीली बनाई जाती थीं, इसीलिये वे रेखायें बुरी तरह मुड़ती हैं। देखकर मालूम होता है कि किसी अकुशल हाथों ने इन लकीरों को खींचा है। क़रीब क़रीब सभी हस्तलिपियों में ये मिनियेचर पाये जाते हैं। कभी-कभी ये बिलकुल एक दूसरे की नक़ल मालूम होते हैं। उनमें अच्छाई बुराई का अन्तर कलाकार का अपना व्यक्तिगत कौशल है। १५ वीं शताब्दी की हस्तलिपियों की जैन मिनियेचर कला उस समय की दूसरी चित्रकलाओं से बहुत घटिया ठहरती है। हस्तलिपियों के मिनियेचरों के मुक़ाबले में जैन पुस्तकों के कवर पर जो चित्रकलाएं होती थीं उनमें ख़ासी बाहुल्यता मिलती है। बाज़ बाज़ दफ़ा वही डिज़ाइनें थोड़े हेर फेर के साथ हमें इन पुस्तकों के कवर पर दिखाई देती हैं। पर इन कवर चित्रों में मौलिकता की अपेक्षा टैकनिक और सजावट को ज़्यादा महत्त्व दिया जाता था। इनमें जीवन के वास्तविक दृश्यों का चित्रण किया जाता था। ये सारे दृश्य समकालीन जीवन से लिये जाते थे। इनके प्रदर्शन में एक प्रतिभा होती थी। सुरुचि के लिहाज़ से भी ये चित्र बहुत सुन्दर ठहरते हैं। हमें अब तक जो कुछ ज्ञान हो सका है उससे यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि जैन चित्रकला का प्रादुर्भाव किस तरह हुआ। १५ वीं शताब्दी और उसके बाद तक की जो जैन चित्रकला हमें धार्मिक पुस्तकों में मिलती है वह साधारण जनता की ही उन्नत चित्रकला का रूप है। जनता की ही कला को विशेष रूप देकर एक ख़ास सांचे में ढाला गया है। यही कारण है कि जैन चित्रकला में स्त्री पुरुषों के आकार प्रकार रूढ़ि से जकड़े हुये हैं। जैन चित्रकला का स्वतन्त्र रूप से स्वयम् विकास नहीं हुआ। फिर भी वह अपने समय की वास्तविक और विशेष कला थी और अपनी वास्तविकता के ही कारण हम उसे जैन चित्रकला कहते हैं। इसके विपरीत जिस चित्रकला को रियलिस्टिक और भौतिक जैन चित्रकला कहा जाता है वह वास्तव में जैन चित्रकला है ही नहीं, और धार्मिक चित्रकला के मुक़ाबिले में उसे भौतिक कला का नाम देने का कोई कारण भी नहीं है। इसे हम जैन भौतिक चित्रकला कहें अथवा गुजराती चित्रकला कहें या चाहे जिस नाम से पुकारें, वास्तव में यह जनता की ही चित्रकला है। यह गुजरात की ग्रामीण चित्रकला है और इसके सम्बन्ध में श्री एन० सी० मेहता ने विस्तार के साथ सुन्दर ढंग से लिखा है।

बौद्ध, जैन और हिन्दू, इन तीनों चित्रकलाओं ने धार्मिक विश्वासों के अन्दर ही अपना मौलिक रूप पाया है। मुग़ल चित्रकला के साथ यह बात नहीं है। प्रारम्भिक मुसलिम चित्रकला पर जिसके साथ हमारा भारत में सम्पर्क हुआ, बेहद मंगोल प्रभाव था। उस समय के मिट्टी के बर्तनों और पाटरी से अधिक, चित्रकला पर मंगोल प्रभाव पड़ा। हमें इसके उदाहरण के लिये दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ के 'शाहनामे' के चित्रों को ही ले लीजिये। यह चित्रकला सादी और स्वाभाविक है, किन्तु सादगी और स्वभाविकता के साथ-साथ उस में ऊंचे से ऊंचे दर्जे की सजावट भी है। मुसलिम, मुग़ल या यूनानी चित्रकला के सुन्दरतम नमूने हमें १५ वीं शताब्दी में मिलते हैं, जबकि प्रसिद्ध चित्रकार बिहज़ाद की कूची ने मिनियेचर चित्रकला को गौरवपूर्ण शिखर तक पहुँचा दिया। बिहज़ाद रेखाओं के चित्रण और भावों के प्रकाशन में अपूर्व कुशल और सबसे अधिक मौलिक था। बिहज़ाद का ही अन्तिम दिनों का समकालीन ईरानी चित्रकार मीरक रंग भरने की दृष्टि से अद्भुत समझा जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ईरानियों को अपनी राष्ट्रीय चित्रकला पर वास्तविक नाज़ था। निज़ामी की हस्तलिपि में जो मिनियेचर हैं उनका स्पष्ट रेखाङ्कन, शानदार दृश्य और रंगों का सुन्दर चयन ईरानी मिनियेचर कला के भव्य नमूने हैं। इस तरह के मिनियेचरों ने प्रारम्भिक मुग़ल कलाकारों को कल्पना और प्रोत्साहन दिया। मुग़ल बादशाहों ने ईरानी कला के लिये बेहद उत्साह दिखाया और उसकी प्रशंसा की।

सम्राट बाबर अपने रोज़नामचे में विहज़ाद और दूसरे कलाकारों का ज़िक्र करता है। उसे पढ़कर स्पष्ट मालूम होता है कि सबसे पहला मुग़ल सम्राट ईरानी कला का कितना ज़बरदस्त प्रेमी और समर्थक था। अकबर के दरबार का सब से महान् और सबसे प्रसिद्ध ईरानी कलाकार ख़्वाजा अब्दुस्समद हुमायूं के साथ भारत आया था। हुमायूं ने उसे बालक अकबर को चित्र सिखाने का काम सुपुर्द किया था। इसी से स्पष्ट है कि हुमायूं भी कला का कितना प्रेमी था और कला को कितना प्रोत्साहन देता था। अकबर के चित्रकला प्रेम को अबुलफ़ज़ल ने सदा के लिये अमर कर दिया है। अकबर ही मुग़ल चित्रकला का वास्तविक जन्मदाता है। अकबर विद्वानों और पण्डितों का बहुत बड़ा संरक्षक था और उसने बेशुमार दौलत ख़र्च करके एक शानदार पुस्तकालय इकट्ठा किया था। अकबर का दरबार एक आश्चर्य-जनक और कला का महान भंडार था। ईरानी चित्रकला के और ईरानी मिनियेचर चित्रकला के सुन्दर से सुन्दर नमूने अकबर के पुस्तकालय में मौजूद थे। निज़ामी की प्रसिद्ध हस्तलिपि 'ख़मीरा', जिसकी अबुलफ़ज़ल ने बेहद प्रशंसा की है, मेरे पास है और उस पर सम्राट की मुहर है। इस पुस्तक की ऐसी कोई दूसरी प्रति अब तक उल्लेख में नहीं आई जिस पर बादशाह की मुहर हो। अबुलफ़ज़ल केवल चार मुसलिम कलाकार और एक दर्जन से अधिक हिन्दू कलाकारों का वर्णन करता है; किंतु वह ख़ास तौर पर कहता है कि ख़्वाजा अब्दुस्समद अकबर के कला-भवन का डाइरेक्टर था और वह कलाकारों को चित्रकला की प्रेरणा देता था और उनका मार्ग प्रदर्शन करता था। इम्पीरियल लाइब्रेरी में ईरानी कलाकारों के सुन्दरतम चित्रों से अलंकृत जो पुस्तकें हैं, उन्हें देखकर यह प्रतीत होता है कि अब्दुस्समद और उसके कलाकार विद्यार्थी ईरानी चित्रकला के सुन्दर चित्रकार थे। अब्दुस्समद के निरन्तर और सम्राट अकबर के संरक्षण में बनाये हुए ९ चित्राङ्कित ग्रन्थों का ज़िक्र अबुलफ़ज़ल करता है। इनमें 'हमज़ा नामा', 'रज़्म नामा' और 'अकबर नामा' ख़ास ग्रन्थ हैं, कि जिनके अन्दर कला की सर्वोत्तम और सुन्दरतम सामग्री भरी पड़ी है। किन्तु अन्य ग्रन्थों का पूरा पता नहीं चलता।

इन चित्रों में शाही दरबार की शानो शौकत का चित्रण किया गया है। इनमें राजसी ऐश्वर्य, शोभा, शिकार और युद्ध आदि के दृश्य मिलते हैं। 'अकबर नामा' के चित्र जिन्हें अकबर के कलाकारों ने चित्रित किया है, कला संग्रह के सर्वोत्तम नमूना हैं। उसके एक चित्र में दिखाया गया है कि एक शिकारी नौजवान एक जलभैंसे का शिकार करके अकबर के पास लाया है। उसे देखकर अकबर को जो कौतूहल होता है उसे कलाकार ने बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। सामने का दृश्य तरह-तरह के सुन्दर चमकदार रंगों से अंकित किया गया है। इन चित्रों के पीछे मुसलिम मीर इमाद के अपने हाथ की लिखी हुई कुछ पंक्तियां हैं। मीर इमाद की सुन्दर लिखावट की बेहद इज़्ज़त थी। साम्राट अकबर को मीर इमाद से इतना प्रेम था कि जब उसे इमाद की मृत्यु का समाचार मिला तो वह फूट-फूट कर रोने लगा।

मुग़ल चित्रकला प्रारम्भिक रूप में ईरानी चित्र-कला के पद-चिन्हों पर चलती रही। मुग़ल चित्रकला ने दस्युवृत्ति से ईरानी चित्रकला का कभी अनुसरण नहीं किया किन्तु मुग़ल चित्रकला में अपनी ही एक विशेषता थी। अबुल फ़ज़ल के अनुसार इस विशेषता के ही कारण ईरानी-मुग़ल-कला को भारतीय ईरानी कला के नाम से पुकारा गया। हालाकि उस भारतीय ईरानी कला का मुख्य ध्येय दृश्यों का चित्रण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करना था, फिर भी व्यक्तियों के चित्रण ने भी कलाकारों का ध्यान अपनी ओर खींचा। अबुल फ़ज़ल अनेक उमरावों और दरबारियों के चित्रों के संग्रह का ज़िक्र करता है। 'हमज़ानामा' की शानदार चित्रकला के बाद मुग़ल चित्रकला ने एक विशेष रूप धारण किया। मुग़ल चित्रकला से तमाम विदेशी असर मिट गये। ख़ास तौरपर ईरानी चित्रकला का प्रभाव बिलकुल लुप्त हो गया। उसके बाद की चित्रकला वास्तविक भारतीय मुग़ल चित्रकला है। वह ख़ास तौर पर व्यक्ति विशेष का चित्रण है जिसे पोरट्रे कहा जाता है। जहांगीर के समय में मुग़ल चित्रकला ने सम्पूर्णता पाई। सम्राट जहांगीर चित्रकला का सबसे बड़ा संरक्षक माना जाता है। चित्रकारों द्वारा जहांगीर की बुढ़ापे की चित्रण की हुई बहुत सी तसवीरें मिलती हैं। ईरानी चित्रकला में जबकि रेखा और रंग का प्रभाव अधिक होता था मुग़ल चित्रकार भावों के प्रदर्शन पर ज़ोर देते थे। मुग़ल चित्रकर पोरट्रे खींचने में हमें बहुत कुशल दिखाई देते हैं। उसी तरह मुग़ल चित्रकला का सब में ख़ास पहलू है उसकी नाज़ुक और लहराती हुई लकीरें जो सफल पोरट्रे के चित्रण के लिए बेहद ज़रूरी हैं। रंगों की जो चमक हमें, हमज़ानामा, रज़्मनामा और अकबरनामा में दिखाई देती है वह जी को लुभा लेती है। किन्तु जहाँगीर के समय की चित्रकला में अनेक उमरावों के चित्रों में हमें हलके रंगों की प्रधानता दिखाई देती है। निस्सन्देह उस समय तक भारतीय मुग़ल चित्रकला अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुंच गई थी।

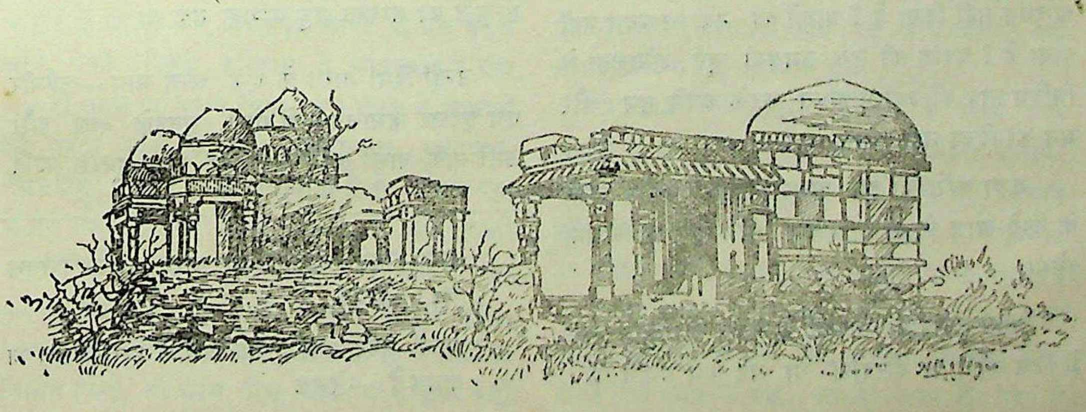

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गंगा काँठे की संस्कृति[1]

श्री राय कृष्णदास

कह नहीं सकते, कालिदास ने जिस समय हिमालय को 'अनेकरत्नप्रभव' कहा उस समय उनका ध्यान हिमालय-प्रसूत सर्वश्रेष्ठ रत्न गंगा की ओर गया था या नहीं। जो हो, हिमालय जिन आदर्शों को लेकर इतना ऊँचा उठा है और अटल, अचल, अलच खड़ा है, उन्हीं को हमारे जीवन में ढाल देने के लिये उसका अन्तस गंगा का प्रवाह बनकर गंगोत्री से गंगासागर तक व्याप गया है।

इस प्रकार गंगा एक विस्तीर्ण शस्य श्यामला उर्वरता की ही जननी नहीं है, वह एक ऐसी महान् संस्कृति की जननी भी है जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति अर्थात् मानवता के हाथ, मस्तिष्क और हृदय की शक्तियों का ऐसा विलक्षण समन्वय हुआ है कि, जब उसके पहले उपजी नील नद की संस्कृति और उसकी समकालीन उफ्रेतु तट की संस्कृति तथा इनसे बहुत इधर वाली कार्थेज, यूनान और रोम आदि की संस्कृतियां जाने कब की धराशायी हो चुकी हैं तब, गङ्गा काँठे की संस्कृति कुचली जा जाकर भी अपने अक्षयवट की भांति "फूलत फलत नित पल्लवित" है। गङ्गा के अमृत प्रवाह ने अपनी संस्कृति को भी अमरता प्रदान कर दी है। ऋषीकेश और हरद्वार में गङ्गा का अवगाहन करके किसने इस अमरता का अनुभव नहीं किया है? प्राणों का नया स्पन्दन नहीं पाया है? प्रवाह की उस उमड़ती हुई शीतलता से त्रिविध ताप की ज्वाला शान्त करके अपने तन और मन को दिव्य नहीं बनाया है?

गङ्गा काँठे की इस अमर देन का दर्शन करने के लिये आज के पांच हजार वर्ष पहले से चलना पड़ेगा—

ईसवी पूर्व तीसरी साहस्री में भारत के समतल भाग में जिस जाति का दौरदौरा था वह कर्म प्रधान थी।

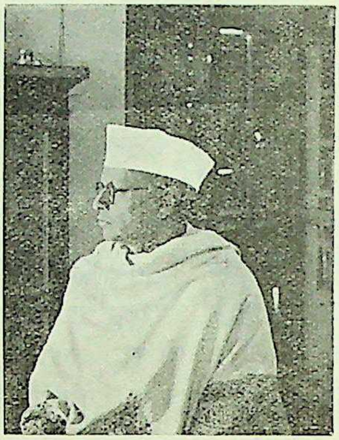

श्री राय कृष्णदास

अपने हस्त-कौशल से उसने जो उन्नति की थी उसे आज हम उसके बड़े बड़े नगरों के ध्वंसावशेषों और रँगे चुंगे मिट्टी के बर्तनों में पाते हैं, जो हाथ की शक्ति की ही, 'कर्म'[2] की ही साख भरते हैं। इस संस्कृति को हम सिन्ध काँठे की संस्कृति के नाम से पुकारते हैं क्योंकि, इसके मुख्य अवशेष उस समय वाले सिन्ध के खातों के किनारे मोएन-जो-दड़ो और हड़प्पा आदि में ही मिले हैं, किन्तु संभवत: यह अपने देश की और नदियों के कछारों में भी फैली हुई थी। इस संस्कृति का सम्बन्ध लघु एशिया तक था।

उन्हीं दिनों भारत के एक अन्य भाग—कश्मीर एवं बृहत्तर हिमालय—में गोरी, सुनहले बाल और उठी नाक वाली लम्बे कद की एक दूसरी जाति

---

१ एक रेडियो भाषण का परिष्कृत और विस्तृत रूप।—लेखक

२ 'कर्म' अपने पारिभाषिक अर्थ में हस्त-कौशल का वाचक है।—लेखक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बसती थी, जिसका निजस्व ज्ञान—मस्तिष्क का विकास—था। उदाहरण के लिये, इस आर्य जाति के सिन्ध काँठे वाले पड़ोसी जिस भाले को हाथ से चलाकर वा हाथ ही से फेंककर आघात करते थे, आर्य मस्तिष्क ने उसे यान्त्रिक रूप देकर वाण बना डाला था, जिसे चलाने वाला यन्त्र (धनुष) कमानी का आदिम पुरखा है—कमानी जो यन्त्र-विद्या की सबसे बड़ी शक्तियों में से है। उनके इस आविष्कार का यह करिश्मा था कि जहां एक आदमी अधिक से अधिक चार छः भाले अपने संग रख सकता और उन्हें अधिक से अधिक मिनट में दो तीन भाले के हिसाब से, दूर से दूर तीन सौ फुट तक फेंक सकता वहां, अब एक व्यक्ति तीर के रूप में हजारों भालों से लैस हो जाता, उन्हें मिनट में तीस चालीस के हिसाब से चला लेता और अपेक्षाकृत कम आयास पूर्वक हजार पाँच सौ फुट की दूरी तक पहुंचा देता।

उनका मस्तिष्क कुछ मूर्त विषयों की उन्नति तक ही सीमित रहा हो सो नहीं, वह अमूर्त का भी चिन्तन एवं अन्वेषण करता। इसी दिमागी सक्रियता ने उन्हें एक ठिकाने पड़े रहने से भी विरत किया। 'चरैवेति चरैवेति' उन्होंने अपना सिद्धान्त बनाया और अपने मूल केन्द्र से नये नये प्रदेशों में फैलने के लिये वे निकलने लगे।

गंगोत्री से चलकर गङ्गा कई धारों में बिखर जाती है। फिर बदरीनाथ के पहाड़ों में इन बिखरी धारों के संगम होने लगते हैं। बृहत्तर हिमालय—पामीर के पठारों—से निकलकर आर्यों के एक प्रमुख जत्थे, ऐलों (पिछले इतिहास के चन्द्रवंश) ने एक ऐसे ही संगम पर पड़ाव किया। इन संगम के ठिकानों को प्रयाग कहते हैं, जैसे नन्दप्रयाग, रुद्रप्रयाग, देवप्रयाग इत्यादि। इन्हीं प्रयागों में से किसी एक में उस समय के ऐल राजा पुरूरवा ने एक बस्ती बसाई जिसका नाम प्रतिष्ठान पड़ा। बस यहीं से गङ्गा की देन का प्रभाव ऐलों पर पड़ना आरम्भ हुआ, जिस प्रभाव ने आगे चलकर उस महान् संस्कृति का निर्माण किया, जो आज दिन भारतीय संस्कृति कही जाती है, क्योंकि वह बदरीनाथ से रामेश्वर और जगन्नाथ से द्वारका तक व्याप्त है। इतना ही नहीं, यह व्यापकता एशिया के एक बहुत बड़े भू भाग और भारत महासागर के द्वीप समूहों तक पहुंचती है। किन्तु सच पूछिये तो पूर्वी गोलार्द्ध के प्रायः आधे भाग को अपनी छत्रच्छाया में आश्रय देने वाली यह संस्कृति वस्तुतः गङ्गा काँठे की संस्कृति है।

प्रतिष्ठान के प्रदेश में उस समय आर्यों का एक और जत्था पहले से ही बसता था जिसका नाम गन्धर्व था। मस्तिष्क का निजस्व तो उसके दाय में था ही, गङ्गा के पावन परोस ने उसके साथ उनके हृदय को भी सक्रिय बना दिया। आर्य मूलतः भयावने वरुण के उपासक थे जिसके आगे वे डरते कांपते रहते और उसका दाक्षिण्य प्राप्त करने के लिये नरबलि तक चढ़ाते एवं उसकी सिद्धि के लिये घोर तपस्या द्वारा अपने तन को छार खार कर डालते अर्थात् उनकी उपासना की प्रेरक शक्ति भय की भावना थी। गन्धर्वों के हृदय में श्रद्धा की भावना उपजी। वे अपने आराध्य को प्रेम की दृष्टि से देखते एवं श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र द्वारा उसकी पूजा अर्चा करते। इस प्रकार गङ्गा के परोस ने उनके हृदय में यह प्रेम की तरंग लहरा दी। अब उनके आराध्य उनके लिये अघोर और शंकर थे। दानवी बर्बरता का स्थान अब मानवी श्रद्धा ने लिया। आसुर भाव से वे दैव भाव में आ गये। संस्कृति के विकास में यह एक बहुत बड़ा डग था। इस सम्प्रदाय को पुरूरवा ने भी अपनाया और यही आगे चलकर यज्ञ सम्प्रदाय के रूप में पल्लवित हुआ।

प्रतिष्ठान से ऐल आर्य और नीचे उतरे तथा अंबाले के पास टिके। यहीं कश्मीर के मानव (सूर्यवंशी) आर्य भी आ बसे थे। वहां से ये लोग पंजाब और गङ्गा के दोआबे की ओर छिटके। गङ्गा तट पर उनकी सबसे पुरानी बस्ती कन्नौज प्रान्त में बसी। यज्ञ सम्प्रदाय का उस समय दौरदौरा था। गङ्गा किनारे अनेकों यज्ञ होने लगे। ऐसा समझा जाता है कि उस समय के जह्नु नामक राजा ने गङ्गा से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक नहर निकाली थी। यह नहर संसार की सबसे पुरानी नहरों में रही होगी। आज भी उन्हीं दिनों की याद में गङ्गा का नाम जाह्नवी चला आता है।

जह्नु के सात आठ पीढ़ी बाद विश्वामित्र हुये। उन्हें गङ्गा तट ने ही इस सत्य का दर्शन कराया कि शारीरिक बल हेच है, वास्तविक बल आध्यात्मिक है—धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मणस्तु बलं बलम्। उन्होंने इस सत्य को ग्रहण ही नहीं किया, सिद्ध भी कर दिखाया। अपनी साधना द्वारा वे एक बहुत बड़े सम्राट से एक महर्षि हो गये और उन्होंने ईश्वर से वह माँगन माँगा जिससे बड़ा माँगन मनुष्य माँग ही नहीं सकता—"हे भगवान, तू मेरी बुद्धि को उचित प्रेरणा दे।" यह गायत्री, जिसकी जन्मभूमि गङ्गा की कछार है, आज भी करोड़ों भारतवासियों का महा मन्त्र है।

इसी काँठे में, विश्वामित्र के नाती भरत बहुत बड़े राजा और विजेता हुये। पहले पहल इस देश को एक इकाई का रूप उन्होंने ही दिया, और इसी कारण, उनके नाम पर इसका नाम भारत वा भरतखण्ड पड़ा।

अब गङ्गा के काँठे में आर्य मेरठ से भागलपुर तक फैल चुके थे, जहां उन्होंने भरत के कुछ ही पीढ़ी बाद, बड़े बड़े नगर बसाये जिनमें मुख्य मेरठ ज़िले में हस्तिनापुर, रुहेलखण्ड में अहिच्छत्रा, फर्रुखाबाद के पास काम्पिल्य और पूरब में वाराणसी (आज दिन का बनारस) थी। आर्य मूलतः गाँवों के बसने वाले थे, नगर की रीति उन्होंने यहाँ की पूर्व सभ्यता से सीखी थी। उस संस्कृति के और भी कितने ही अंग उन्होंने अपना लिये। इस प्रकार अब उनकी संस्कृति में ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों ही का संगम हो गया। यह सांस्कृतिक त्रिवेणी जिसमें भक्ति की 'सुरसरि धारा' ज्ञान की सरस्वती और कर्म की यमुना मिलकर बह रही हैं, हमारे जीवन को निरंतर 'सकल मुदमंगल देनी' है। यही गङ्गा काँठे की संस्कृति की पूर्णता एवं विशेषता है, जिसने उसे सारे संसार की संस्कृतियों में 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्' बना रखा है।

वैदिक मन्त्रकारों की विशद कल्पना ने इस त्रिगुण संस्कृति के विकास और व्यापकता का दर्शन विष्णु के त्रिविक्रम रूप में किया, जिन्होंने अन्धकार के असुर बलि को पाताल पठाकर अपने तीन डगों के विक्रम से सारे भूर्भुवः स्वः को उनके तले कर लिया। पुराणों ने इस चित्र को और समग्र किया। उस बौने का दुर्लभ चरणकमल जब आकाश चढ़कर लहलहाया तो आनन्दमग्न ब्रह्मा ने उसे धोकर अपना कमण्डलु भर लिया और प्रेमविह्वल भोलानाथ ने अपने मस्तक पर चढ़ा लिया तथा यह त्रिवेदमय गङ्गा की धारा त्रिलोक में व्याप उठी।

अस्तु; आर्यों के उन नगरों से उनकी नावें दूर दूर तक जाने लगीं, जिससे उनमें व्यापार की मंडियाँ बनीं। अच्छे अच्छे माल, विशेषतः काम्पिल्य, काशी और भागलपुर की ओर नामी और दामी कपड़े बनने लगे। इन नगरों के चारों ओर वाले जंगल साफ कर करके आर्य बस्तियां बसाने लगे। ऋग्वेद का बहुत बड़ा भाग उन्हीं प्रदेशों में बना। उसके अनेक मन्त्रों में इन प्रदेशों के राजाओं की दान स्तुतियाँ भरी हैं, जिनसे उस समय की गङ्गा काँठे की समृद्धि का अच्छा पता चलता है। उन दिनों से आज तक भारत की राष्ट्रभाषा गङ्गा काँठे की वाणी ही बनी हुई है जिसमें वेद, महावीर और बुद्ध के उपदेश, अशोक के धर्मलेख और अनेकानेक कवियों और साहित्यकारों की वाणी निरन्तर प्रस्फुटित होती रही है।

आर्य बस्तियों के छोर वाले जंगलों में ऋषियों के आश्रम होते, जहां की आध्यात्मिकता समूची भारतीय संस्कृति पर अपनी प्रभा डाला करती। इस प्रकार के हरे भरे शान्त, सुहावने तपोवन गंगोत्री से गङ्गासागर तक फैले थे, जिनके कारण हमारी संस्कृति एकांगी नहीं होने पाई अन्यथा, आज हमारी संस्कृति भी 'यूनानो मिस्र रोमा' की संस्कृतियों की भांति केवल इतिहास के पन्नों में रह गई होती।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उन्हीं दिनों रामचन्द्र के पूर्व पुरुष भगीरथ ने गङ्गा के ओर छोर की खोज कर डाली, जिसके कारण गङ्गा आज भी भागीरथी कही जाती है। पुराणों ने अपनी पद्धति के अनुसार, इस घटना को एक लोकोत्तर रूप में ढाला है। इस भगीरथ प्रयत्न की दुष्करता ने उसे एक कहावत बना दिया है और भगीरथ की यह कीर्त्ति हमारी पीढ़ी पर पीढ़ी में उत्साह तथा साहस भरती आई है।

गङ्गा की चर्चा में यमुना भी आप से आप आ जाती है। ये दोनों बहिनें हिमालय की पास पास वाली चोटियों से उतरती हैं और कुछ दूर तक पास ही पास दौड़ती रहती हैं। किन्तु यमुना से वह अन्तर नहीं सहा जाता। अपनी बड़ी बहन के आँचल में दुबककर वह गङ्गा बन जाती है और गङ्गा भी अपनी छोटी बहन की प्रीति से उसकी रंगत अपने पर चढ़ा लेती है। इसलिये हम यह कहे बिना आगे नहीं बढ़ सकते कि ई० पू० दूसरी साहस्री के मध्य में यमुना तट ने भारत का सबसे बड़ा व्यक्तित्व उत्पन्न किया।

कृष्ण ने अत्याचारी कंस का नाश करके अपने यादवों में पुनः पारं-परीण संघ शासन चलाया और आततायी कौरवों तथा उनके सहयोगी जरासंध और शिशुपाल आदि के संहार द्वारा देश को साम्राज्यवाद की भीषणता से बचा लिया। किन्तु उनका धार्मिक और आध्यात्मिक सन्देश इन राजनैतिक सुधारों से कहीं बढ़कर था। उस समय लोग या तो, स्वर्ग की लालच में, यज्ञ के नाम पर पूरे कसाई बन गये थे या घोर तपश्चर्या में प्रवृत्त होते, या फिर सब करना धरना छोड़कर अजगरी वृत्ति धारण कर लेते। कृष्ण ने इन तीनों अतिचारियों का तीव्र सक्रिय विरोध करके सिखलाया कि स्वर्ग कौन बड़ी चीज है, मनुष्य मात्र परमात्मा से एक हो सकते हैं क्योंकि आत्मा और परमात्मा, जिसका विराट रूप यह इन्द्रियगोचर ब्रह्माण्ड है, दो नहीं। लगन से अपना अपना कर्म करना और उसका फल परमात्मा को चढ़ा देना ही उसकी सच्ची पूजा है, तथा सब आडम्बरों को छोड़कर उसकी शरण में जाना मोक्ष का एकान्तिक मार्ग है। कृष्ण के इस सन्देश ने एक नया चक्र प्रवर्त्तन किया। धर्म के नाम पर हिंसा का यह पहला सफल विरोध तो था ही इसने विश्व मात्र का बन्धुत्व और आत्मा का परमात्मा से एकत्व भी स्थापित किया तथा मनुष्य को कर्ममय भक्ति मार्ग में प्रवृत्त किया। गङ्गा की प्यारी बहन यमुना के कछार की यह देन निःसन्देह संसार की सबसे बड़ी देन है।

महाभारत युद्ध के बाद कृष्ण का यह महान् प्रवर्त्तन कई रूपान्तरों से देश भर में फैलता रहा। उपनिषदों में उस समय के अध्यात्मवाद और परमार्थ चिन्तन की चर्चा भरी पड़ी है। विशेषतः गङ्गा तटवर्त्ती कुरुपांचाल के याज्ञवल्क्य कुल ने इस विषय का गंभीर मनन किया और आत्मा की अमरता उद्घोषित की। इतना ही नहीं, उन्होंने वेद की एक नई शाखा भी स्फुटित की और, आचार व्यवहार तथा दाय का वह मार्ग प्रवर्त्तित किया, जिसके पल्लवित रूप याज्ञवल्क्य स्मृति द्वारा आज भी प्रायः समूचे भारत का एक बहुत बड़ा जनसमुदाय अनुशासित होता है।

गङ्गा-काँठा इस समय आर्य बस्तियों से गछ गया था। उसके सोलह बड़े बड़े प्रदेशों में से ग्यारह इसी काँठे में थे। यही मध्यदेश भारत का हृदय था, जिसके विषय में यहां तक माना जाता कि महापुरुष, विद्वान्, शूरवीर और धनिक जब उत्पन्न होंगे, मध्यदेश में ही। इस मध्यदेश में काशी प्रदेश उस समय बड़ा उन्नत हुआ। यहां आयुर्वेद का जन्म तो बहुत पहले हो ही चुका था, अब कला, संगीत, संगतराशी, बढ़ईगीरी और वस्त्रों की बुनाई में भी विशेष उन्नति हुई। सुनहले कपड़े, काशी में उसी समय से बनते आ रहे हैं। यहां के वस्त्रों की बारीकी उस समय एक लोकोक्ति होगई थी, जिनका मूल्य दस दस हजार पण (एक सिक्का) तक होता।

इस सांसारिक उन्नति के साथ साथ आध्यात्मिक उन्नति में भी काशी अग्रसर थी। उपनिषदों में यहां के राजर्षियों के आख्यान मिलते हैं। यहीं तेईसवें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने कृष्ण के अहिंसावाद को जोरों से दोहराया तथा तप एवं साधना का उपदेश दिया और बुद्ध भगवान ने भी अपने दया, सदाचार और विश्व बन्धुत्व वाले मत का प्रचार यहीं से आरंभ किया। बुद्ध के निर्वाण से कुछ पहले ई० पू० छठीं शती में गङ्गा तटपर संस्कृति के एक बहुत बड़े नये केन्द्र का जन्म हो रहा था, जो अगले एक हजार वर्ष तक इस पद पर प्रतिष्ठित रहा। मगध में गङ्गा के दक्षिणी तट पर पाटली गांव महानगर पाटलिपुत्र के रूप में परिवर्त्तित किया जा रहा था। बुद्ध उधर से होकर निकले थे और पाटलिपुत्र को बसते हुये देखा था, तथा उसे आशीर्वाद दिया था।

यह पाटलिपुत्र भारत की राजधानी हुआ। यहीं ई० पू० पांचवीं शती में नन्दों ने सिक्कों और तौलों का प्रचलन किया तथा पाणिनि-के-से संसार-श्रेष्ट वैयाकरण को समादृत किया। यहीं चौथी शती में चन्द्रगुप्त मौर्य हुआ, जिसने भारत में यूनानियों के पैर नहीं जमने दिये। यहीं से उसके पथ-प्रदर्शक चाणक्य ने अपनी गंभीर नीति द्वारा उसका विशाल साम्राज्य बनाया तथा अर्थशास्त्र लिखा, जो आज भी राजनीति का नया से नया ग्रन्थ बना हुआ है और सबसे ऊपर यहीं चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक हुआ जिसने अपना शान्ति का सन्देश और धर्म-विजय भारत में ही नहीं, आधे एशिया तक प्रचारित किया। इस काल की विशाल प्रस्तर कला भी गङ्गा कछार की देन है। उसका सुदृढ़ पत्थर, उसकी सजीव गढ़न और उसका अप्रतिम ओप, तीनों ही चुनार के हैं। मौर्यों के बाद पाटलिपुत्र पर शुंग अधिष्ठित हुये जिन्होंने अपने सम्राट-सत्ता-सूचक अश्वमेध पर अश्वमेध किये, जिनके समय में महाभाष्यकार पतंजलि हुये, भारत के सर्व प्रमुख समाज शास्त्र मनुस्मृति की रचना हुई और मूर्ति तथा चित्रकला को एक देश व्यापी शैली प्रचलित हुई।

ईसवी दूसरी शती में विन्ध्य की पहाड़ियों से निकलकर भारशिव राजवंश ने शकों का सैकड़ों वर्ष पुराना उपद्रव निर्मूल किया। गङ्गा की संस्कृति के रक्षणार्थ उन्होंने कमर कसा था, अतएव गङ्गा को ही उन्होंने अपना राजचिन्ह बनाया। गङ्गा तट पर किये गये उनके दश अश्वमेधों की स्मृति आज भी प्रयाग के दशाश्वमेध में जीवित है।

भारशिवों ने जो काम आरंभ किया था वह बराबर बढ़ता गया और चौथी शती में गङ्गा तट पर महान् गुप्तवंश का उदय हुआ, जिसकी राजधानियाँ प्रयाग तथा पटना थीं। उन्होंने देश को उदात्त, समृद्ध और सुव्यवस्थित बनाया, उन्होंने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया और उन्होंने बड़े बड़े यज्ञ किये। उन्होंने बहुत ही कलापूर्ण स्वर्ण मुद्रायें चलाईं। हूणों की आंधी को उन्होंने बैठ नहीं गँवाया, अपना अतुल पराक्रम लगाकर उसे देश बाहर धकेल दिया। इस काल में हमारी कला, संगीत, वाङ्मय और सामाजिक व्यवस्था की सब से अधिक उन्नति हुई एवं उन्हें देशव्यापी एकरूपता मिली, जो गङ्गा के काँठे से चलकर आस पास वाले द्वीपों जावा, सुमात्रा आदि तक फैल गई। गुप्तों के राजाश्रय ने ही संसार को कालिदास प्रदान किया। यदि गुप्तवंश इस देन के सिवा और कुछ न भी दे जाता तो उसकी कीर्त्ति मानव संस्कृति के इतिहास में अमर रहती।

सदा से गङ्गा तट पर धार्मिक, सामाजिक, व्यापारिक और आमोद प्रमोद के मेले होते आये हैं। ७ वीं शती में प्रयाग—त्रिवेणी तटपर—कन्नौज के सम्राट हर्षवर्द्धन की संरक्षकता में एक इसी प्रकार का धार्मिक मेला प्रति पांचवें वर्ष हुआ करता। हर्ष के सुव्यवस्थित साम्राज्य में ब्राह्मण और बौद्ध संप्रदाय बहुत कुछ हाथ में हाथ डाले चल रहे थे। उस मेले में सभी पन्थों के साधु महात्माओं का धार्मिक सम्मेलन होता और सम्राट् बहुत कुछ दान पुण्य करता। आज भी यह मेला प्रयाग वाले कुंभ के रूप में चला आता है, जिसमें लगभग आधे करोड़ तक की भीड़ हो जाती है। संसार का एक और बहुत बड़ा मेला गङ्गा-गंडकी के संगम पर हरिहर क्षेत्र (सोनपुर, बिहार)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में होता है, जहाँ भाँति भाँति के पालतू पशु भी बिक्री के लिये बहुतायत से आते हैं, और यों तो गंगोत्री से गङ्गा सागर तक पचासों बड़े बड़े मेले लगते हैं।

अब तुर्क और पठान विजेताओं का समय आया। भारत में आकर वे यहां के हो गये। जहां उन्होंने अपनी राजधानी बनाई उसका नाम देहली इस कारण है कि वह गङ्गा काँठे के प्रवेशद्वार की देहली है। फलतः उन्होंने गङ्गा काँठे की संस्कृति अपना ली। वे गङ्गा जल पीने के भी प्रेमी थे। मुहम्मद तुगलक, अकबर और औरंगजेब गङ्गा के पास हों वा दूर—उनके लिये गङ्गा जल पहुँचाया जाता। औरंगजेब के समय में तो उसके सब उमरा तक ऐसा ही करते। बिहार में गङ्गा किनारे से ही सोलहवीं शती के आरंभ में शेरशाह ने देश के माल-बन्दोबस्त का वह क्रम चलाया जो आज भी चालू है।

गुप्तकाल से ही गङ्गा का काँठा व्यापार और विद्या का बड़ा केन्द्र है। उस समय काशी और मगध से कपड़े इत्यादि तैयार होकर योरप में रोम तक और दक्षिणी समुद्र में बर्मा, स्याम, जावा, सुमात्रा तक पहुँचते थे तथा वहाँ के माल यहाँ आते थे। भागलपुर के पास विक्रमशिला वाले अद्वितीय विद्यापीठ के सामने गङ्गा लहराया करती और सर्वोपरि काशी थी जहाँ समूचे भारत और बृहत्तर भारत के लोग विद्याध्ययन तथा आध्यात्मिक साधन के लिये आया करते। पिछले मध्यकाल में यहां बड़े बड़े विद्वान् और ग्रन्थकार तो हुये ही, यहीं से रैदास और कबीर ने अपनी संत वाणी देश में गुंजाई और अकबर काल में गोसाईं तुलसी दास ने रामचरितमानस आन्दोलित किया, जिससे महत्त्व की दूसरी रचना अपने देश में पिछले हजार वर्ष से नहीं हुई है और जो तीन सौ वर्ष से भारत के एक बहुत बड़े भूभाग के विचार और आचार को ढालती आ रही है।

१७ वीं शती में प्रयाग के पास कड़ा-मानिकपुर में गङ्गा तट पर संत मलूक दास हुये, जिनकी वाणी का अलबेलापन अनूठा है। मनुष्य की निजी स्वतन्त्रता को, जिसे पूंजीवाद के अभिशाप ने जकड़ रक्खा है, उन्होंने विश्वास दिलाया—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गये, सब के दाता राम॥

१८ वीं शती में गङ्गा किनारे कलकत्ता महानगर बसा। यहीं विलियम जोन्स के हाथों एशियाटिक सोसायटी की स्थापना हुई और प्रिन्सेप ने ब्राह्मी अक्षर पढ़े। ये दोनों घटनायें हमारे लिये १८ वीं शती की सबसे बड़ी घटना हैं, क्योंकि इनके कारण महाभारत काल से तुर्क काल के आरंभ तक का हमारा तीन हजार वर्ष लम्बा विगत हमें पुनः मिल चला, जो हमारी दृष्टि की संकीर्णता दूर होने का प्रमुख कारण हुआ। यहीं से राजा राम मोहन राय ने पहले पहल भारत को नये युग का सन्देश सुनाया और यहीं फोर्ट विलियम में हिन्दी और उर्दू गद्य का बीज रोपा गया। यहीं रवीन्द्र और अवनीन्द्र अवतरित हुये, जिन्होंने हमारे साहित्य और कला में नया जीवन प्रवाहित किया।

इस प्रकार ई० पू० तीसरी साहस्री से आज तक की हमारी चिरंतन साथ ही चिरनूतन संस्कृति की जननी गङ्गा है, तभी वह हमारी 'गङ्गा मैया' है, विज्ञान में गङ्गा जल मे रोग-कीटाणु के नाश का प्रबल सामर्थ्य पाया है। गङ्गा का यह गुण उसकी उस आध्यात्मिक शक्ति का भौतिक प्रतीक है, जिसका अन्वेषण आयुर्वेद ने किया है—

तृष्णा-मोह-ध्वंसनं दीपनं च
प्रज्ञां धत्ते वारि भागीरथीयम्।

गङ्गा की इसी मोहध्वंसन और प्रज्ञाधारक शक्ति ने उसे इस संस्कृति की, जिसमें हृदय, हाथ और मस्तिष्क का अतुलित संतुलित समन्वय हुआ है, जननी बनाया है। गङ्गा में एक आकर्षण है जिसने बड़े से बड़े नगरों की भीड़ को ही नहीं, बड़े से बड़े व्यक्तित्वों की भीड़ को भी अपने किनारे खींचा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिस प्रकार भारत का सब से पुराना जीवित नगर बनारस और सबसे नया नगर उसी बनारस का बढ़ाव, काशी विश्व विद्यालय की बस्ती है, जिससे हमारे भविष्य को बहुत कुछ आशा है, उसी प्रकार वैदिक मन्त्रों के गाने वाले ऋषियों से लेकर गीतांजलि गाने वाले रवीन्द्र तक इसी के तट पर हुये हैं। भरत से लेकर समुद्रगुप्त तक सम्राटों ने इसी के काँठे में से समूचे भारत को एकता के सूत्र में बांधा है और बुद्ध से लेकर दयानन्द तक के प्रचारकों ने इसी के तट पर से अपने सन्देश वितरित किये हैं। इस प्रकार गङ्गा हमारे लौकिक और पारलौकिक संस्कृति की एक मात्र जननी है, फिर हम उसे क्यों न साक्षात् ब्रह्मद्रव मानें और कैसे न दावा करें—

भागीरथी! हम दोस भरे, पै भरोस इतेक-परोस तिहारे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय संस्कृति की अखण्डता

डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त

आजकल हिन्दुस्तान में लोगों को यह आदत हो गई है कि वे अलग अलग मज़हबों के लोगों की अलग अलग संस्कृतियाँ समझने और बयान करते हैं। इस देश में 'संस्कृति' शब्द आजकल सामाजिक और राजनैतिक भूलभुलैयाँ में फंस गया है। कोई 'हिन्दू संस्कृति' की बात करता है, कोई 'इस्लामी संस्कृति' की, कोई 'बङ्गाली संस्कृति' की और कोई 'मराठा संस्कृति' की। अलग अलग राजनैतिक दलों के लोग हमेशा अपनी अपनी साम्प्रदायिक, फ़िरक़ेवाराना, जातीय, या प्रान्तीय संस्कृतियों की दुहाई देते रहते हैं और बार बार यही सुनने में आता है कि इन सब की संस्कृतियाँ ख़तरे में हैं!

इसलिये यह ज़रूरी है कि हम इस बात का पता लगाने की कोशिश करें कि मानव संस्कृति क्या चीज़ है; और साथ ही साथ हिन्दुस्तान की संस्कृति या संस्कृतियाँ क्या चीज़ हैं? अंग्रेज़ी में संस्कृति को 'कलचर' कहते हैं। कलचर शब्द का निकास लातीनी भाषा से है और उसका मतलब मनुष्य की तालीम और उसका परवान चढ़ना है। इसीलिये किसी जाति या क़ौम की कलचर का मतलब उस जाति या क़ौम की तालीम या उसका परवान चढ़ना है। किसी भी मनुष्य समूह के उन सब कारनामों को उस समूह की कलचर या संस्कृति कहते हैं, जिन कारनामों के द्वारा वह समूह मानव उन्नति की सीढ़ी पर ऊपर को चढ़ता है। जो संस्थायें किसी क़ौम को शुरू की प्राकृतिक अवस्था से ऊपर उठाती हैं, वे उस क़ौम की संस्कृति की पैदावार समझी जाती हैं। जो मनुष्य समूह शुरू की क़ुदरती या असभ्य अवस्था से जितना ऊपर उठ चुकता है, उतनी ही उसकी संस्कृति ऊंची मानी जाती है।

सभ्यता के लिये अंग्रेज़ी ज़बान में 'सिविलीज़ेशन' शब्द काम में लाया जाता है। अंग्रेज़ों ने सिविलीज़ेशन और कलचर दोनों को मिलाकर क़रीब क़रीब एक कर दिया है। सिविलीज़ेशन शब्द भी लातीनी ज़बान से ही निकला है। सिविलीज़ेशन या सभ्यता का मतलब मनुष्य का उन दस्तकारियों, हुनरों और कलाओं में शिक्षा पाना है, जिनके ज़रिये कोई क़ौम या उसकी सभ्यता उत्तरोत्तर उन्नति करती है। लेकिन जर्मन भाषा में 'कलचर' शब्द का अर्थ ज़रा भिन्न है। जर्मन भाषा में कलचर का मतलब मनुष्य की मानसिक शक्ति की उपज से लिया जाता है। इस तरह की किसी उपज से जब आम लोग फ़ायदा उठाने लगते हैं, यानी जब कोई इस तरह की ईजाद सबके काम में आने लगती है, तब वह चीज़ या वह ईजाद क़ौम की सभ्यता का अङ्ग बन जाती है। इसलिये जर्मन परिभाषा के अनुसार मनुष्य के किसी कारनामे या उसकी किसी ईजाद का सब किसी के काम में आने लगना ही सभ्यता या सिविलीज़ेशन है। इसलिये किसी क़ौम के अन्दर कलचर की इस तरह की पैदावारें मनुष्य के अधिकाधिक सभ्य होने में जितनी ज़्यादा काम में लाई जावेंगी, उतनी ही उस क़ौम की संस्कृति अधिक उच्च मानी जावेगी; और क़ुदरती तौर पर उतना ही दूसरे लोग उस क़ौम को ज़्यादा 'सभ्य' समझेंगे।

यूरोप में लोग यूरोपियन सभ्यता की बात करते हैं। यह वह सभ्यता है जो यूरोपियन महाद्वीप की सब जातियों और सब क़ौमों को एक समान अपनी गोद में लिये हुए है। शुरू में यूरोपियन सभ्यता की ये चीज़ें यूनान और रोम की मिली हुई संस्कृति से ली गई थीं। उसके बाद यूरोप की जो जो क़ौम उन्हें अपनाती गई, वह क़ौम उतना उतना ही मनुष्य-जीवन में अधिकाधिक उन्नत और अधिकाधिक सभ्य होती चली गई। आगे चलकर मानव जाति के ये कारनामे तमाम यूरोपियन क़ौमों की संयुक्त सम्पत्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बन गये। इन इनसानी कारनामों की ताज़ा से ताज़ा पैदावारों को जो क़ौम जितना ज़्यादा अपनाती गई, उतना ही वह मानवता में ऊपर उठती गई। इसकी सबसे अच्छी मिसाल उन्नीसवीं सदी ईसवी के बलकान के देश हैं। बलकान के अलग अलग देश जितना जितना अपने को तुर्कों की अधीनता से आज़ाद करते गये, और जितना जितना वे अपने यहाँ पश्चिमीय यूरोप की संस्थाओं और शिक्षा के तरीक़ों को जारी करते गये, उतना उतना ही वे मध्यकालीन अज्ञानता और पतन के बन्धनों से आज़ाद होते गये। नतीजा यह हुआ कि यूनान और बलगारिया के लोगों में आजकल की नई संस्थायें और जीवन का नया दृष्टिकोण फैलता गया और दूसरी ओर उनके पुराने मालिकों—साम्राज्यप्रेमी तुरकों—में अज्ञानता, अन्ध-विश्वास, हठधर्मी और पतन बढ़ता गया। यहां तक कि तुर्कों को 'यूरोप का रोगी' (सिकमैन आफ़ यूरोप) कहा जाने लगा। ठीक यही दृश्य पूर्वीय एशिया में देखने को मिला। यहां पर जापान ने आजकल की सभ्यता और शिक्षा के नये नये तरीक़ों को अपनाकर अपने अन्दर नई जान पैदा करली और दुनिया की क़ौमों की अग्रतम श्रेणी में जगह ले ली। दूसरी ओर जापानियों ही के सह-जातीय कोरिया निवासी और उनके पुराने गुरू चीनी पीछे ढकेल दिये गये, यहां तक कि आजकल के जापानी उन सबको जंगली कहने लगे। इस बीसवीं सदी में सोवियत् यूनियन और तुर्की के कमाल अतातुर्क के कारनामों की मिसालें भी चमकती हुई मिसालें हैं। कहते हैं कि लेनिन जब रूसी सोवियत् प्रजातन्त्र का पहला प्रेज़िडेण्ट बना, तो उसने कहा—"रूस को अपनी एशियाई बर्बरता (असभ्यता) से बाहर निकल आना चाहिये।" इसी-लिये रूस ने पुराने ज़माने की यादगारों के खण्डहरों को हटाकर, अपनी नई समाजवादी रचना के अनु-कूल नये तरीक़े अपनाकर एक नई सभ्यता को जन्म देना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि सोवियत् यूनियन आज अनेक बातों में दुनिया का अग्रगामी है। इसी तरह तुर्की में जब कमाल अतातुर्क के हाथों में सत्ता आई, तो कमाल ने कहा—"तुर्की के कन्धों के ऊपर जो एक पहाड़ जैसा बोझ (पुराने ज़माने का) पड़ा हुआ है उसे हटाना होगा।" इसीलिये कमाल ने मध्यकालीन पुराने ज़माने की ज़ंजीरों को तोड़ फेंका और नई तुर्की की रचना करने में उसने मनुष्य की नई से नई ईजादों से काम लेना शुरू किया। फिर भी उस देश में इसलामी कलचर को कोई नुक़सान नहीं पहुंचा। यही बात अब ईरान, अफ़-ग़ानिस्तान और जावा में हो रही है। ये सब देश इसलामी देश हैं। लेकिन वहां कहीं धर्म या कलचर को कोई ख़तरा नहीं!

अब हम भारतवर्ष की तरफ़ आते हैं। यह देश एक छोटा सा महाद्वीप है। इसकी एक अपनी संस्कृति है, जिसे लोग आमतौर पर 'एक विशेष संस्कृति' कह कर बयान करते हैं। मोह में आकर कुछ लोग इसे "हिन्दू संस्कृति" भी कहते हैं। एक समय था जब कि "भारतीय" और "हिन्दू" दोनों का एक ही अर्थ था। लेकिन इसलाम के आने के साथ यहां के लोगों के अलग-अलग हिस्से हो गये। कुछ विदेशी मुसल-मान भारत में आकर बस गये और भारतवासियों की एक बहुत बड़ी संख्या ने इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस घटना ने इस देश में मनुष्य के जीवन को दो टुकड़ों में बांट दिया। लोग धर्म या मज़हब के नाम पर दो अलग अलग गिरोह बना बैठे, और इसी तरह सोचने लगे।

यह ठीक है कि भारतीय जीवन में इसलाम के साथ साथ नई चीज़ें दाख़िल हुईं। लेकिन सवाल यह है कि इनमें से कितनी चीज़ें हिन्दुओं ने अपने में हज़म करलीं और कितनी नहीं कर सके। इतिहास से पता चलता है कि शुरू के मुसलमान आक्रामक इस देश में खपकर हज़म हो गये। यहां तक कि मलिक काफ़ूर नाम के एक आदमी ने, जो हिन्दू से मुसलमान हुआ था, अलाउद्दीन खिलजी के लिये दक्षिण भारत को विजय किया; और इसी तरह का एक दूसरा व्यक्ति ख़ुसरो दिल्ली के तख़्त पर बैठा। ग़यासुद्दीन तुग़लक भी, जिसने ख़ुसरो को तख़्त से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हटाया और ख़ुद उसकी जगह ली; एक हिन्दू जाट माता के पेट से पैदा हुआ था। हेमू नाम के एक हिन्दू ने अपने अफ़ग़ान स्वामी के नाम पर मुग़लों के हाथों से दिल्ली का तख़्त छीनने के लिये युद्ध किया!

शुरू के विदेशी मुसलमान इस देश की भूमि में पूरी तरह हिल मिल गये, और इसलाम भारतीय संस्कृति का एक अङ्ग बन गया; यह बात इस चीज़ से भी साबित है कि हिन्दुस्तान के एक हिस्से को उसी समय से मुसलमान अपने ख़ास पवित्र तीर्थों में शुमार करने लगे। सिंहल द्वीप (लङ्का) में "आदम की चोटी" नाम का एक पहाड़ है, जहां मुसलिम रिवायत के अनुसार कहा जाता है कि मनुष्य जाति के सब से पहले पुरखा हज़रत आदम स्वर्ग से उतरे; और उनके साथ साथ वह मोर उतरा था, जो उन्हें स्वर्ग से बहका कर पृथ्वी पर लाया था। दुनिया के मुख़्तलिफ़ हिस्सों से आकर बहुत से मुसलमान अपने इस पवित्र तीर्थ की यात्रा करते हैं।[१] इसलिये उस ज़माने के हमारे सबसे पहले राष्ट्रीय कवि मीर ख़ुसरो ने अपने एक फ़ारसी पद में कहा है—"ये बात सच है कि हिन्दुओं का रंग सांवला है, लेकिन यह देश सब देशों से अच्छा है।" बहिश्त और इस देश में कुछ न कुछ सम्बन्ध ज़रूर रहा होगा, नहीं तो हज़रत आदम और वह मोर स्वर्ग से इस देश में न उतरते। इसके अलावा मुसलमान सूफ़ियों, हिन्दू सन्तों और नवीन वैष्णवों का एक दूसरे पर जो प्रभाव पड़ा, वह इस बात का ज़बर्दस्त सबूत है कि इन दोनों धर्मों के विचार और आदर्श किस तरह भारतीय संस्कृति में मिलकर एक हो गये। इस एकता की अन्तिम और अमिट मिसालें हमें उन तरह तरह की कलाओं के अन्दर मिलती हैं, जो मनुष्य की आत्मा की उपज और उसका ज़हूर मानी जाती हैं। भारतीय इतिहास के मुसलमान-काल की चित्रकला, गान-विद्या और निर्माण-कला में हमें दोनों तरफ़ की कल्पनाओं और आदर्शों का इतना सुन्दर मेल दिखाई देता है कि दोनों मिलकर साफ़ एक "भारतीय संस्कृति" की रचना करते हुये मालूम होते हैं। इसी तरह मुसलिम भारत की नई संस्कृति में हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति का ही विकास दिखाई देता है। लोग आगरे के ताज को देखकर आनन्द के उन्माद में चिल्लाने लगते हैं—'ताज एक मोजज़ा है, चमत्कार है; ताज एक स्वप्न है!" लेकिन हैवेल के अनुसार ताज हिन्दू और बौद्ध कला का वह विकसित रूप है, जिसने इसलाम की नई ज़रूरतों के अनुसार नया रूप धारण किया।[२] कला की यह प्रगति सबसे पहले सहसराम में शेरशाह के मक़बरे में दिखाई देती है और उसकी पराकाष्ठा ताज में नज़र आती है। इससे पहले गौड़ की अदीना मसजिद और अहमद नगर की मसजिद दोनों में पहले की शुद्ध हिन्दू कला दिखाई देती है। इसी तरह बाद के ज़माने के बनारस के शिव-मन्दिर, नदिया के महाराज कृष्णचन्द्र की बनाई हुई शिव-निवास की इमारतें तथा और बहुत से मन्दिर साफ़ हिन्दू और मुसलिम कलाओं के मेल के नमूने हैं। इस तरह संस्कृति के मैदान में यानी मनुष्य के कारनामों के मैदान में हम इस समय हिन्दू असर को मुसलिम असर से अलग नहीं कर सकते।

भारत एक देश है और सदा एक रहा है। दिल्ली या गौड़ के तख़्त पर चाहे कोई बैठा हो या न बैठा हो, अलग अलग धर्मों और सम्प्रदायों के लोग यहां हमेशा मिल जुल कर एक ही तरह जीवन बिताते रहे हैं। दस्तकारियों में, तिजारत और उद्योग धन्धों में धर्मों या सम्प्रदायों के अनुसार कभी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। जो दस्तकारियां यहां विदेशी दस्तकारों ने आकर जारी कीं, उन्हें भी सब धर्मों और सम्प्रदायों के भारतवासियों ने अपनाया और बढ़ाया। उदाहरण

१ Travels of Ibn Batuta, translated by H. A. R. Gibb.

२ E. B. Havell—History of Indian Architecture.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के लिये सोने चांदी के काम, रेशम के काम, सलमे-सितारे के काम और इसी तरह की दूसरी नफ़ीस दस्तकारियों में हिन्दू और मुसलमान का कोई फ़र्क़ नहीं।[3]

सामाजिक जीवन में दोनों धर्मों के लोग पूरी तरह हिल मिलकर रहते रहे हैं और दोनों का एक दूसरे पर काफ़ी असर पड़ा है। विशेषज्ञों की राय है कि इसलाम के सम्पर्क में आकर हिन्दुओं की संस्थायें इस तरह बदली हैं, और इस तरह नया रूप धारण किया है कि उनमें इसलाम के असर साफ़ दिखाई देते हैं। दूसरी तरफ़ मुसलमानों ने हिन्दू संस्थाओं और रिवाजों को इस दर्जे तक अपनाया है कि उनकी ये संस्थायें और रिवाज बिलकुल हिन्दू रिवाजों की नक़ल मालूम होते हैं।[4] हिन्दुस्तान के मुसलमानों के सामाजिक विकास की खोज अभी तक गहराई के साथ नहीं की गई। फिर ज़ाहिर है कि बहुत सी जातियों ने मुसलमान हो जाने के बाद भी अपनी पुरानी सामाजिक संस्थाओं, रिवाजों और विश्वासों को ज्यों का त्यों क़ायम रखा।[5] मसलन यहां के मुसलमानों में भी वैसी ही अलग अलग जातियां हैं, जिनमें एक दूसरे के साथ शादियां नहीं होतीं, जैसे 'अशराफ़' और 'अतराफ़'; बिलकुल उसी तरह जिस तरह हिन्दुओं में ब्राह्मण और शूद्र। बहुत सी अछूत जातियों के मुसलमान हो जाने पर भी उनके साथ वैसा ही सलूक जारी रहता है जैसा हिन्दुओं में होता था, जैसे लालबेगी इत्यादि। इसी तरह हिन्दुओं में 'कालू' यानी तेली जाति के लोग मुसलमान होकर 'खालू' कहलाने लगे और उसके बाद भी उन्होंने अपनी अलग जाति और अपनी पंचायत को उसी तरह क़ायम रखा (Vide Gaits' Ethnolgical Report in the Census of India)। हिन्दू 'जुगी' मुसलमान होकर 'जुलाहे' या मोमिन हो गये, लेकिन उनकी अलग जाति और पेशा दोनों उसी तरह क़ायम रहे। 'हलालख़ोरों' को जिनकी एक अलग जाति ज्यों की त्यों क़ायम है, मर्दुमशुमारी में कभी मुसलमान लिख लिया गया है और कभी हिन्दू। बंगाल के 'पटनियों' को जो एक तरह के दस्तकार हैं, मुसलमान लिखा जाता है; लेकिन उनके सबके नाम आज तक हिन्दू नाम होते हैं। जो राजपूत मुसलमान हो गये वे मुसलमान होने के बाद भी 'ख़ानज़ादे' या 'रांगड़' या 'राजपूत' ही कहलाते रहते हैं! यही हालत जाटों और गूजरों की है।

गुजरात और कच्छ के जो 'बोहरे', 'ख़ोजे' और 'मैमन' हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान हो गये हैं और जो पहले वहां के बनिये थे, उनके पुश्तैनी पेशे उसी तरह क़ायम हैं और आज तक याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार इन लोगों के सब काम काज चलते हैं; उसी के अनुसार उनकी सम्पत्ति का बटवारा होता है और उसी के अनुसार अदालतों में उनके मुक़दमे फ़ैसल होते रहे हैं। अब हाल में दिल्ली की सेण्ट्रल असेम्बली ने एक क़ानून पास किया है, जिससे आइन्दा के लिये इन लोगों के मुक़दमे मुसलिम शरीयत के मुताबिक़ तय किये जाया करेंगे। जो लोग हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल न हो सकने की बात करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि पञ्जाब और गुजरात के बहुत से मुसलमान आज तक शरीयत के क़ानून को नहीं मानते थे। इसके अलावा बहुत सी, ऐसी सम्प्रदायें मौजूद हैं, जो मुसलमान गुरुओं की क़ायम की हुई हैं और जिनमें बहुत से हिन्दू शामिल हैं। इसी तरह बहुत सी हिन्दू गुरुओं की क़ायम की हुई सम्प्रदायों में मुसलिम चेले शामिल हैं। कबीर पन्थियों और दादू पन्थियों दोनों में, हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल हैं। नदिया (बंगाल) की 'साहबधानी' सम्प्रदाय एक मुसलिम

३ History of India—by James Mill.

४ Edward Gait—Ethnological Report, Census of India 1931.

५ See Gait, Amir Ali—Musalmans of India Mazharul Haque's Writings etc.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भक्त की चलाई हुई है।[६] जहां तक खाने कपड़े जैसी छोटी छोटी चीज़ों का सम्बन्ध है, हिन्दुस्तान के मुसलमान वह कपड़े नहीं पहनते, जो दूसरे देशों के मुसलमान पहनते हैं। पाजामा कोई मुसलमानी पोशाक नहीं है। मुसलमानों के हमले से पहले इस देश के हिन्दू (सरहदियों के से) थैलेनुमा पाजामे पहनते थे।[७] लुंगी जो दक्षिण एशिया की सब क़ौमें पहनती हैं, धोती ही का एक रूप है। लुंगी का रिवाज एक बौद्ध देश बर्मा से इस देश में आया और आजकल बंगाल के हिन्दुओं में भी इसका रिवाज बढ़ता जा रहा है! अचकन और चपकन दोनों ख़ास भारतीय पोशाकें हैं। दूसरे किसी मुसलिम देश में ये नहीं पहनी जातीं। ये दोनों चीज़ें पुरानी हिन्दू पोशाक के ही ज़रा बदले हुए रूप हैं।[८] यूनानी यात्री मेगस्थनी ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में क्षत्रिय लोग एक लम्बा कोट पहनते थे, जो पैरों तक आता था। बहुत मुमकिन है कि आज कल जिसे हम पारसी कोट कहते हैं, वह उसी पुराने लम्बे कोट का एक रूप हो! वेद में लिखा है कि वरुण देवता एक क़ीमती समूर (फर) का कोट पहिना करते थे।

खाने पीने के मामले में बहुत से लोगों को और ख़ासकर विदेशियों को यह भ्रम है कि हिन्दू निरामिष भोजी हैं। सच है कि अधिकांश हिन्दू मांसाहारी हैं। सीख़ के क़बाब, भुने हुए गोश्त और पुलाव इन सब का प्राचीन हिन्दुओं में काफ़ी रिवाज था।[९] 'शल्य मांस' यानी सीख़ के क़बाब और 'पलौना' यानी पुलाव दोनों पुराने भारतीय भोजन हैं। इन बातों में लोगों को बड़े अजीब अजीब भ्रम रह जाते हैं। स्वर्गीय प्रोफ़ैसर आज़ाद ने अपनी पुस्तक 'आबे हयात' में लिखा है कि पुलाव इस देश में ईरान से आया था। यह बात बिलकुल ग़लत है। जर्मनी के एक प्राच्य विशारद हेन (Hehn) ने पता लगाया है कि चावल के लिये अंग्रेज़ी शब्द 'राइस' कहां से निकला।[१०] उनका कहना है कि यह शब्द भारत से गया है। उन्होंने लिखा है कि संस्कृत में चावल को 'व्रीहिः' कहते हैं। यूनानी इसे यहां से ईरान ले गये वहां वह 'व्रि' (Vries) कहलाने लगा। अरबी में भी उसका यही नाम पड़ा। ईरान से चावल यूरोप गया। वहां जर्मन भाषा में उसका नाम 'रीस' (Reis) और फ्रेंच भाषा में 'रिज़' (Riz) पड़ा। चावल दक्षिण भारत की पैदावार है। शुरू में वेदों में इसका ज़िक्र नहीं मिलता। प्राचीन ईरान में भी चावल नहीं होता था और न प्राचीन ईरानी चावल खाते थे,[११] और न चावल अरब में होता है! पुराने हिन्दू साहित्य में 'पलौना' का, यानी चावल और मांस मिलाकर पकाने का, ज़िक्र है। सोलहवीं सदी की लिखी हुई बंगला महाभारत में भी 'पलौना' का ज़िक्र आता है। मुसलमानों के सीख़ के क़बाब और पुलाव पुराने हिन्दुस्तानी खानों की नक़लें हैं।

प्रोफ़ैसर आज़ाद ने ही यह भी लिखा है कि चपाती इस देश में बाहर से आई थी। यह बात भी सन्देह की है। सिकी हुई रोटी का ईरानी नाम 'नान' है। नान तय्यार करने में ख़मीर इस्तेमाल किया जाता है और उसे तन्दूर में सेंका जाता है। पश्चिम एशिया में यूरोपियन ढङ्ग की रोटी इस्तेमाल होती है अर्थात् आटे में ख़मीर मिला लिया जाता और फिर उसकी रोटी सेंकी जाती है। बल्कि यह कहना चाहिये कि यूरोप की डबल रोटी पश्चिम एशिया की रोटी का एक उन्नत रूप है। हिन्दुस्तानी 'रोटी' एक शुद्ध हिन्दुस्तानी चीज़ है। इस लेख के लेखक के

६ नदिया काहिनी—कुमुद विहारी मल्लिक।
७ Reports of Arab Travellers and Alberuni's Prolegomena of India.
८ Rajendralal Mitra—Indo-Aryans.
९ 'हरिवंश' और अन्य संस्कृत नाटक।
१० Hehn—Kultur Pflan Zendes Ostens.
११ M. N. Dhalla—History of Zoroastrianism, P. 370.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुसार हिन्दुस्तानी शब्द 'रोटी' वैदिक शब्द 'पुरोदा' से बना है। पुरोदा से ही आजकल का हिन्दुस्तानी 'परौठा' या 'परेठा' बना है, और इसी से 'रोटी' शब्द निकला है। लेखक जब तुर्की में था तो उसने रोटी शब्द के निकास के बारे में तहक़ीक़ात की। यह शब्द न अरबी है न ईरानी। चपाती या उसकी छोटी शक्ल रोटी बिना ख़मीर की चीज़ें हैं। इनमें से किसी में ख़मीर काम में नहीं आता। ये दोनों चीज़ें शुद्ध हिन्तुस्तानी हैं। रोटी शब्द किसी यूरोपियन भाषा से नहीं निकला। इसके लिये लातीनी शब्द 'पानिस' (Panis) है, जिसका फ्रेंच रूप 'पाँई' (Pain) है। पुर्तगाली शब्द 'पाव रोटी' हिन्दुस्तानी और यूरोपियन दोनों शब्दों के मेल से बना मालूम होता है। हिन्दुस्तानी इसे 'डबलरोटी' कहते हैं।

इसी तरह 'हलवा' शब्द है। इसमें सन्देह नहीं कि शुरू में यह मिठाई हिन्तुस्तान की नहीं थी। लेकिन जिस शक्ल में हिन्दुस्तान में हलवा बनता है, उस शक्ल में तुर्की इत्यादि में उसे कोई नहीं जानता। हिन्दुस्तानी शक्ल का हलवा 'मोहन भोग' कहलाता है। (शायद मोहन भोग शब्द वैष्णव है और बाहर से आये हुये हलवे का वैष्णव रूप है)। हलवा अब शुद्ध हिन्दुस्तानी हो चुका। यह हिन्दू संस्कृति का एक अङ्ग है और इसकी विदेशी शक्ल भी बदल चुकी।

इस तरह आजकल के हिन्दुस्तान में हम हिन्दू रहन सहन और मुसलिम रहन सहन में भेद नहीं कर सकते। इन पंक्तियों का लेखक जब पंजाब और दिल्ली की यात्रा कर रहा था, तो जगह जगह उसे वही खाना हिन्दू घरों में मिला, जो मुसलमान घरों में। वहां के हिन्दू और मुसलमान दोनों शुरू में मीठी चीज़ खाते हैं। बंगाल में न हिन्दू ऐसा करते हैं न मुसलमान। डाक्टर और वैज्ञानिक लोग वैज्ञानिक ढङ्ग से ख़ून की परीक्षा करके देख चुके हैं कि इस देश के हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही ख़ून, एक ही नस्ल और एक ही जाति से हैं।[१२]

अन्त में हम देखते हैं कि हर प्रान्त के साहित्य को बढ़ाने में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने एक बराबर और मिलकर हिस्सा लिया है। बंगला साहित्य, हिन्दी साहित्य और उर्दू साहित्य तीनों, हिन्दू और मुसलमान साहित्यकों की मिली जुली कोशिशों से पैदा हुए और फले फूले हैं। मज़हबी उसूलों और मज़हबी रिवाजों में थोड़ा बहुत फ़र्क़ है। लेकिन भारतवर्ष का हमेशा ही यह सिद्धान्त रहा है कि दुनिया इस तरह के सब मत-मतान्तरों और रस्म रिवाजों के भेदों के लिये काफ़ी बड़ी है। किन्तु इसमें भी जगह जगह हिन्दुस्तान के मुसलमानों के आम रस्म रिवाज बहुत कुछ वही हैं, जो हिन्दुओं के। भारतीय समाज विज्ञान के मशहूर विद्वान प्रोफ़ैसर विनय कुमार सरकार ने लिखा है—"यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हिन्दुस्तान के मुसलमानों के बहुत से रस्म रिवाज और उनके तौर तरीक़े ठीक वैसे ही हैं, जैसे हिन्दुओं के संस्कार। दोनों के रिवाज उस समय से शुरू होते हैं, जबकि न कोई हिन्दू था और न कोई मुसलमान, जबकि बंगाल में और सारे भारत में वह आदिमवासी रहते थे, जिन्हें अभी उस समय तक हिन्दू नाम भी नहीं दिया गया था।"[१३] इस तरह मज़हबी उसूलों का फ़र्क़ और अलग अलग रस्म रिवाज एक संयुक्त क़ौम या एक राष्ट्र के बनने में रुकावट नहीं हो सकते। यूरोप के विविध देशों में, चीन में, जापान में हर एक में कई कई धर्मों के लोग मौजूद हैं। किन्तु इससे उनकी एकता, राष्ट्रीयता, अखंडता और उनकी शक्ति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

फिर भी हमारे इस देश में हिन्दू संस्कृति और मुसलिम संस्कृति की अलग अलग आवाज़ें उठाई जाती हैं। अलग अलग मज़हबों का होना एक दूसरी चीज़ है। इनमें अन्तर हो सकता है, लेकिन इनसे संस्कृति के एक होने में बाधा नहीं पड़ती और न एक राष्ट्रीय संस्कृति की उन्नति रुक सकती है।

---

१२ P. Macfarlane's Paper (Indian Science Congress 1937).

१३ Villages and Towns as Social Patterns, P. 350

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति का मूल सम्बन्ध देश और उसकी आर्थिक स्थिति से होता है। हर देश की वैज्ञानिक, औद्योगिक और आर्थिक ईजादें और कारनामे सब के भले के लिये होते हैं और सब की मिली जुली सम्पत्ति होते हैं। सब का उनमें हिस्सा होता है। हर देश, और समाज की बुनियाद देश की इसी आर्थिक स्थिति पर होती है। आर्थिक उन्नति का मज़हब या सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं। जो समाज आर्थिक तरक़्क़ी करेगा और अपनी संस्थाओं को उन्नति देगा उसे सब को अपनी गोद में लेकर चलना होगा। इससे भी बढ़कर यह बात है कि संस्कृति और सभ्यता अन्तर्जातीय चीज़ें हैं, वे अन्तर्राष्ट्रीय हैं। इन्हें इन छोटी छोटी हदों के अन्दर बांधकर नहीं रखा जा सकता।

समाज-विज्ञान के विद्वान हमें बताते हैं कि मनुष्य की सभ्यता किस तरह बढ़ती है। मनुष्य पहले एक दूसरे की नक़ल करते हैं, एक दूसरे की चीज़ों को अपनी तबियत और अपनी ज़रूरत के अनुसार ढाल कर अपनाते हैं और सब मिलकर फिर नई नई ईजादें करते रहते हैं।[१४] एक मानव समूह के कारनामों की दूसरा समूह नक़ल करता है, फिर उन्हें अपनी ज़रूरत के मुताबिक़ बदलता है और फिर आगे बढ़ने के लिये नई ईजादें करता है। इस तरह मानव संस्कृति दुनिया भर में फैलती रहती है और एक गिरोह की संस्कृति दूसरे-गिरोह की सम्पत्ति बनती रहती है।[१५] यही प्रगति भारतवर्ष के इतिहास में बराबर दिखाई देती रही है।

भारतीय विद्वान पहले अपनी सभ्यता का प्रारम्भ वेदों के काल से गिना करते थे। लेकिन जब से सिन्धु नदी की उपत्यका में एक और प्राचीन सभ्यता का पता चला है, तब से भारत की सभ्यता का सिलसिला तीन हज़ार साल ईसा से पहले तक पहुंचने लगा है। यदि भारतीय सभ्यता का प्रारम्भ यहीं से हुआ हो तब भी वह सभ्यता केवल भारतीय नहीं थी। सर जान मार्शल ने उस प्राचीन भारतीय सभ्यता का ज़िक्र करते हुए उसे प्राचीन यूरो-अफ़्रीकन संस्कृति का एक हिस्सा बताया है[१६] और पुरातत्व की दृष्टि से उन्होंने उस पुरानी भारतीय सभ्यता और बाबुल के ज़माने से पहले की इराक़ की सुमेरी सभ्यता में अनेक समानतायें दिखाई हैं। इसके अलावा वेदों की छानबीन करने से भी हमें पता चलता है कि वैदिक सभ्यता उन संस्कृतियों के समूह का एक अङ्ग थी, जिनमें ईरान, मध्य एशिया (अनान) और उत्तर भारत सब शामिल थे। प्राचीन वैदिक समय के भारतवासी और प्राचीन ईरानी दोनों की संस्कृति बहुत दरजे तक एक संस्कृति थी। इसके बाद जब हम ऐतिहासिक समय में आते हैं, तो हम देखते हैं कि प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान इन दोनों में भी गहरा सांस्कृतिक सम्बन्ध था। यूरोप के पुरातत्त्ववेत्ता इस बात पर ज़ोर देते हैं कि भारतीय बौद्ध मूर्तिकला पर ईरान और यूनान की कलाओं का काफ़ी असर पड़ा।[१७] इसके बाद भारत ने ईरान की सासानी संस्कृति को प्रभावित किया।[१८] और ख़लीफ़ाओं के ज़माने की अरब सभ्यता पर भी भारत का गहरा असर पड़ा। यूनानी संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर जो असर पड़ा उसे अभी तक भारत के इतिहास में ठीक ठीक महत्त्व नहीं दिया जाता। यह एक अजीब बात है कि बहुत से यूनानी शब्द संस्कृत

१४ Tarde—Imitation.

१५ Elliot Smith—The Diffusion of Culture.

१६ Mahen-jo-Daro and Indus Valley Civilization.

१७ A. Grundwedet—Buddhist Art in India, translated by A. C. Gileson, 1901.

१८ Dr. Dhalla—History of Zoroastrianism, P. 278.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में आकर मिल गये हैं।[१९] प्राचीन भारतवासी दूसरों से नई चीज़ें सीखने में सकुचाते नहीं थे। ज्योतिष विद्या में उन्होंने "यवन आचार्यों" को अपने से बढ़कर माना है। सच यह है कि जब से हिन्दुस्तानियों में अहंकार और अहमन्यता बढ़ी[२०] तभी से भारतीय मस्तिष्क दूसरों से अलग हो गया और तभी से भारत का पतन होने लगा। मुसलमानों के हमले ने हमारी इस संकुचित मनोवृत्ति को तोड़ा और भारत का फिर से दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध जोड़कर उसे दुनिया का एक अङ्ग बनाया। अङ्गरेज़ों के आने के साथ और अंगरेज़ी भाषा के द्वारा आज कल की शिक्षापद्धति के फैलने के साथ साथ[२१] हिन्दुस्तान फिर अपने असली रूप में आ रहा है। भारत ने फिर बाहर से ज्ञान संचय करना और साथ ही साथ दुनिया के संस्कृति-समूह में अपनी संचित सम्पत्ति को शामिल करना शुरू कर दिया है।

किसी भी देश या जाति की संस्कृति केवल वहीं की उपज से नहीं बनती। प्रारम्भिक समय की सीधी सादी मनुष्य जातियां, जो अपने छोटे मोटे लकड़ी पत्थर के देवी देवताओं को पूजती रहती हैं, अपना एक अलग रूप धारण कर लेती हैं। लेकिन थोड़े ही दिनों में बाहर से एक दूसरे के असर उनपर पड़ने शुरू हो जाते हैं। राजनैतिक उलट फेर और क्रान्तियाँ उनकी दीवारों को तोड़ देती हैं। उन्हें दूसरों की चीज़ें और दूसरों के विचार अपनाने पड़ते हैं। जब ये छोटे छोटे गिरोह या क़बीले मिलकर बड़े बड़े राष्ट्र बनते हैं, तो वे एक दूसरे के सीधे सादे धार्मिक विचारों और तरीक़ों को अपनाते हैं। यही प्रगति पहले भारत में रह चुकी है और अब भी यही प्रगति जारी है। वेदों से पहले के विचार, विश्वास और रस्म रिवाज, जो इसी देश के अन्दर पैदा हुए थे, वैदिक विचारों और विश्वासों के ज़रिये बदल गये या उनमें रल मिलकर एक होगये। भाषा विज्ञान के विद्वान बताते हैं कि वेदों के अन्दर आर्यों और द्रविड़ों से पहले के भी शब्द मौजूद हैं। 'तबू' (Taboo) शब्द भी, जो पॉलीनीशिया की भाषा का माना जाता है, अथर्ववेद में मिल चुका है।[२२]

इस बात की अनन्त मिसालें दी जा सकती हैं कि जिसे हम हिन्दू संस्कृति और हिन्दू सभ्यता कहते हैं वह कोई ख़ास वैदिक चीज़ें नहीं हैं बल्कि आर्यों से पहले की शुद्ध भारतीय चीज़ों, आर्य चीज़ों, और बहुत सी विदेशी चीज़ों से मिलकर बनी हैं। यहां तक कि यह सवाल उठाया जा सकता है कि वैदिक संस्कृति में से कितना अंश 'इएडो-एर्यिन' था और कितना 'इएडो-यूरोपियन'। मानव-जाति-विज्ञान और समाज-विज्ञान के निष्पक्ष पढ़ने वालों के लिये सारी मनुष्य जाति एक है। अलग अलग समूह या क़ौमें केवल एक ही तने की शाखें हैं। दुनिया में आज कोई अलग अलग तरह की जातियां या बुनियादी तौर पर अलग अलग नसलें नहीं हैं, ये सब केवल अलग अलग समूह (Ethnic groups) हैं।[२३] इसी तरह भारतवासी भी केवल एक एथनिक ग्रूप या समूह हैं। स्व०, एच० एच० रिज़ले ने लिखा है—"भारतीय जीवन की अनेक विभिन्नताओं के पीछे एक बुनियादी एकता है जो भारतवासियों को दुनिया के दूसरे देशों से अलग करती है।"[२४] इस प्रकार भारतवासी एक अलग समूह, एक अलग एथनिक ग्रूप हैं। साथ ही हम यह भी देख चुके हैं कि ऐतिहासिक समय से पहले और

१९ (a) R. L. Mitra—Indo-Aryans, (b) G. N. Bannerji—Hellenism in India.

२० अलबेरूनी आदि।

२१ Marx and Engels on India, Edited by Dr. Mulkraj Anand.

२२ S. Levi—Pre-Dravidinism and Pre-Aryanism in the Vedas, tr. by P. Bagchi.

२३ Haddon and Huxley—The Europeans.

२४ H. H. Risley—Peoples of India.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐतिहासिक युग में भी इस देश के लोग बाहर की संस्कृतियों से बहुत कुछ लेते रहे हैं और एक बड़े अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति-समूह का अङ्ग रहे हैं। मानव-जाति-विज्ञान के एक यूरोपियन विद्वान ने दिखाया है कि जिस तरह का हल भारतवर्ष के लोग खेती के काम में लाते हैं, उसी तरह का दक्षिण रूस के प्रान्तों के किसान इस्तेमाल करते हैं,[२५] यानी इस मामले में भारतीय संस्कृति उस संस्कृति का एक अङ्ग है, जो अब भी भारत से दक्षिण रूस तक फैली हुई है। इस से यह बात और अच्छी तरह ज़ाहिर होती है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति कभी केवल भारत तक ही सीमित नहीं रही।

फिर भी कुछ लोग यह कहते हैं कि हिन्दू संस्कृति एक अलग संस्कृति है क्योंकि उसमें वर्णाश्रम धर्म, आचार के ख़ास नियम और शुद्धता के अजीब अजीब क़ायदे मौजूद हैं जो दूसरों में नहीं हैं। लेकिन इस तरह के आचार और शुद्धता के नियम और विचार बहुत सी पुरानी क़ौमों में रह चुके हैं और आज भी बहुत सी पुरानी और अर्ध सभ्य क़ौमों में मौजूद हैं।[२६] चार वर्णों की सामाजिक व्यवस्था भी कोई ख़ास हिन्दू या भारतीय आर्य पद्धति ही नहीं थी। ज़रथुस्त्री, ईरानी, बाबुल निवासी, मिस्री, और पुराने टयूटन तक कभी न कभी इस तरह के चार वर्णों की प्रथा को मानते थे।[२७] और बहुत से इसी तरह के सामाजिक रिवाजों के बारे में, जो ख़ासतौर पर हिन्दू रिवाज समझे जाते हैं, राइस डेविड लिखता है—"अपनी बिरादरी के अन्दर विवाह करने या बिरादरी से बाहर विवाह करने के नियम, ख़ास ख़ास जातियों के विशेष अधिकार, एक साथ खाने या न खाने का अधिकार, ये सब रिवाज सिर्फ़ भारतीय या आर्य रिवाज ही नहीं हैं बल्कि दूर दूर तक फैले हुए मिलते हैं। आजकल के हिन्दुस्तानी जाति भेद की भावना और बहुत दरजे तक उसके व्यवहार और नियम भी दूसरे देशों की इन प्राचीन और व्यापक प्रथाओं से मिलते हुए हैं।"[२८]

जिस तरह हिन्दुस्तान में एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों के साथ भोजन नहीं कर सकते इसी तरह चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी के जर्मनी में भी लोग एक दूसरे के साथ खाने से परहेज़ करते थे। जर्मनी में उन दिनों पुरोहितों की बिरादरी जो 'कैलेण्ड गिल्ड्स' कहलाती थीं मामूली लोगों के साथ एक ही मेज़ पर बैठकर खाने से इनकार करती थीं,[२९] ठीक उसी तरह जिस तरह ब्राह्मण पुरोहित अपने अ-ब्राह्मण यजमानों के साथ खाने से इनकार करते थे।

फ़र्क़ यह है कि आजकल के दूसरे सभ्य देशों के लोगों ने इस तरह के पुराने छुआछूत और शुद्धाशुद्धि के रिवाजों और विश्वासों को छोड़ दिया है; परन्तु हिन्दू जो बाहर की हालत के कारणों से एक हज़ार

२५ Feitschrift der Ethnologic (Berlin).

२६ (a) Crowley—Mystic Rose (b) B. N. Datta—Taboo in Various Peoples of the world (Calcutta Review 1940).

२७ (a) Dr. Dhalla—History of Zoroastrianism, (b) Brested—History of Ancient Egypt, (c) Ramsay Muir-Asianic Elements in Greek Religion (d) Bluktschli The state, (e) Jastrow—Aspects of Religious Beliefs and Practice in Babylonia and Assyria, P. 366.

२८ Rhys Davids—Dialogues of Buddha, P. 97.

२९ (a) Wilda—Das Gilderwesen in Mittelalter, (b) Brentano—On the History and Development of Guilds and the Origins of the Trade Unions, Pt I.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष से मृतःप्राय हो रहे हैं, अभी तक उन पुरानी चीज़ों को और अपनी इस पृथकता को चिपटे हुए हैं। वे समझते हैं कि ये रूढ़ियें और रस्म रिवाज जिनका निकास अत्यन्त प्राचीन समय के प्रारम्भिक अनगढ़ और अनुन्नत विचारों से है, उन्हें बाहर के हमलों से बचाये रखती हैं। अपनी अज्ञानता में वे इन रूढ़ियों और रस्म रिवाजों को सनातन और ईश्वरीय समझ बैठे हैं, जब कि उनके चारों तरफ़ की दूसरी क़ौमें अपने अपने यहां राष्ट्रीयता की इन प्राचीन अनुन्नत बुनियादों से ऊपर उठ चुकी हैं और उठती जा रही हैं। जब कि दूसरी क़ौमें अपने अपने यहां के समाज को अधिक उच्च, अधिक योग्य और अधिक शक्तिशाली बनाने के प्रयत्नों में लगी हुई हैं। इस देश के हिन्दू और मुसलमान अपनी पुरानी रूढ़ियों को चिपटे हुए हैं और उन्हीं को अपने ऐहिक और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार समझते हैं!

आजकल की दुनिया के इतिहास को देखने से यह मालूम होता है कि जिस क़ौम में जितनी अधिक सामाजिक क्षमता होगी, उतना ही वह जीवन संग्राम में अधिक देर तक ठहर सकेगी। अधिक सामाजिक क्षमता के लिये उच्चतर सांस्कृतिक योग्यता ज़रूरी है और किसी भी गिरोह के बहैसियत एक क़ौम के ज़िन्दा रहने के लिये सब से बड़ी और आख़िरी ज़रूरत सांस्कृतिक योग्यता है। इसलिये हमें भारतीय संस्कृति का मूल्य अपनी और उस संस्कृति की उन्नति की दृष्टि से करना चाहिये। इलियट स्मिथ ने प्राचीन क़ौमों की सभ्यताओं की उन्नति और अवनति को रेखा-चित्रों से प्रकट किया है और यह दिखाया है कि इन रेखा-चित्रों में कई बार उन्नति की चोटियां दिखाई देती हैं। अंग्रेज़ों से पहले के भारतवर्ष में उसने इस तरह की दो चोटियां दिखाई हैं। इलियट स्मिथ के इस चित्राङ्कण पर एतराज़ भी किया जा सकता है। लेकिन यह बात बिलकुल सच है कि भारतीय संस्कृति की रेखा फिर एक बार ऊपर को जा रही है। इस मामले में इलियट स्मिथ ने हिन्दुओं और मुसलमानों के लिये अलग अलग चित्र या अलग अलग रेखायें नहीं खींचीं। इलियट स्मिथ के अनुसार तुर्कों के हमले से भारतवर्ष में एक नया युग प्रारम्भ हुआ और मुग़लों के समय में भारतीय सभ्यता की रेखा फिर एक बार ऊपर को बढ़ती हुई दिखाई दी।

लेकिन अगर हम यह कहें कि मुसलमानों और हिन्दुओं के लिये इस तरह के चित्र में अलग अलग दो रेखायें खींची जानी चाहियें, क्योंकि मुसलमान और हिन्दू दो अलग अलग सम्प्रदाय हैं और भारत केवल एक "भौगोलिक शब्द" है तो हिन्दू और मुसलिम समाजों की जातियों और उपजातियों के लिये भी और उनकी संस्कृतियों लिये हमें अलग अलग रेखायें खींचनी पड़ेंगी; अन्यथा ये रेखायें बिलकुल ठीक न होंगी और न ठीक स्थिति को चित्रित कर सकेंगी। ऐसी सूरत में हिन्दू संस्कृति के अन्दर हमें अलग अलग प्रान्तों और जातियों और बिरादरियों के भेद दिखाने होंगे। यदि हम हिन्दू संस्कृति की बात करते हैं तो हमें हिन्दुओं के अन्दर अलग अलग जातीय संस्कृतियों की भी बात करनी होगी। वास्तव में साम्प्रदायिकता के पुजारी जिस तरह संस्कृति शब्द का उपयोग करते हैं, उस तरह हमें मानना होगा कि हिन्दुओं की अलग अलग जातियों की अलग संस्कृतियां हैं, जिनमें से हर एक की अपनी अपनी विशेषताएं हैं और मुसलमानों की भी अलग अलग सामाजिक श्रेणियों में और अलग अलग प्रान्तों में अलग अलग संस्कृतियां और विशेषताएं दिखाई देंगी। ऐसी हालत में हिन्दू संस्कृति और मुसलिम संस्कृति की बात करना बिलकुल बे मायने है।

भारत की संस्कृति एक संस्कृति है, ठीक उसी तरह जिस तरह भारत एक देश है और भारतवासी एक राष्ट्र हैं। ज़्यादा से ज़्यादा यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति के अलग अलग युग और अलग अलग पहलू हैं। निस्सन्देह यह सच है कि इस देश में अलग अलग धर्मों के लोग हैं, जिनके एक दर्जे तक अलग अलग समाज हैं। लेकिन इन भेदों के होते हुए भी इन अलग अलग मज़हबों और समाजों ने अनेक तरह से एक दूसरे पर असर डाला

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है ! इस सच्चाई से कोई भी इनकार नहीं कर सकता कि हिन्दू विचारों का तरह तरह से सूफ़ी विचारों पर असर पड़ा है और ठीक उसी तरह हिन्दुओं के सुधार आन्दोलनों पर इसलाम का असर पड़ा है। आपस के इस सांस्कृतिक मेल का ही नतीजा है कि बख़्तावर सिंह और ग़ाज़ी राम जैसे हिन्दुओं के नाम होते हैं और बाबू लाल, शेख़ मोहम्मद लाल,[३०] रामदयाल और देवजी पीरजी जैसे मुसलमानों के नाम होते हैं। बंगाल के मुसलमान किसानों में काली, दुःखी, कन्हई और तीनकौड़ी जैसे नाम भी होते हैं। बहुत से भारतीय मुसलमानों के नाम इसलाम से पहले के ईरानी नाम हैं। बहुत सों के इसलाम से पहले के अरबी नाम हैं जैसे रुस्तमख़ाँ, हातिमताई इत्यादि। बहुत से ऐसे रस्म रिवाज जो हिन्दुस्तान के मुसलमानों में पाये जाते हैं और हिन्दुओं में नहीं पाये जाते और जिन्हें मुसलिम संस्कृति के अङ्ग बताया जाता है, वास्तव में इसलाम से पहले के अरब और ईरान के रिवाज हैं, जैसे चटाई या फ़र्श पर बैठकर खाना ज़रथुस्त्री रिवाज था।[३१] पुराने ज़माने के हिन्दू एक नीची छोटी लकड़ी की तिपाई पर खाना रखकर खाया करते थे, जैसा कि अभी तक पंजाब और राजपूताने में खाते हैं। मिलते वक्त हाथ मिलाने का रिवाज भी किसी न किसी शक्ल में प्राचीन भारत में मौजूद था। जहां तक जनता का सम्बन्ध है बङ्गाल में 'सत्य पीर' की पूजा, युक्त प्रान्त में 'ग़ाज़ी मियां' और 'पांच पीर' की पूजा, इसी तरह पंजाब[३२] में किसी और पीर की पूजा और आमतौर पर देश में पीरों के लिये भक्ति; चेचक की देवी 'शीतला' की पूजा[३३] 'ओला बीबी' की पूजा और सुन्दर बन में 'बन-बीबी' की पूजा, इन सबका, हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों में एक समान रिवाज है। एक विचित्र बात यह है कि 'ओला बीबी' और 'बन बीबी' इन दोनों देवियों के पुरोहित केवल मुसलमान ही होते हैं! इसके अलावा जिन तरीक़ों की वजह से हिन्दुस्तान के मुसलमान हिन्दुओं से अलग पहचाने जा सकते हैं वे अधिकतर ग़ैर इसलामी ईरानी तरीक़े हैं।

इस प्रकार यदि हम भारतीय सभ्यता के सब पहलुओं को मिलाकर देखें तो यह नहीं कहा जा सकता कि इस देश में अलग अलग संस्कृतियां एक साथ एक दूसरे के पास पास मौजूद हैं। यहां पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस चीज़ को हिन्दू संस्कृति कहा जाता है उसका कितना अंश भारतीय है, और जिसे भारतीय मुसलिम संस्कृति कहा जाता है उसका कितना अंश हिन्दुस्तान से बाहर का है? यदि कुछ ऊपरी रस्मों और रिवाजों की बिना पर साम्प्रदायिकता के पुजारी भारतीय सभ्यता को टुकड़ों में बांटना चाहें और उसकी बिना पर एक दूसरे के गले काटने लगें, तो अन्त में छान बीन करते करते हमें यह मानना पड़ेगा कि ये ऊपरी फ़र्क़ की चीज़ें या रिवाज शुद्ध अशुद्ध, पाक-नापाक जादू टोने इत्यादि के प्रारम्भिक विचारों पर क़ायम हैं। किन्तु कोई क़ौम जितनी ज़्यादा सभ्य या 'संस्कृत' होती जाती है उतना ही वह इस तरह के प्रारम्भिक विचारों और विश्वासों से ऊपर उठती जाती है। सच यह है कि हिन्दुस्तान की सभ्यता इस मामले में अभी मध्यकालीन युग से बाहर नहीं निकली। अत्यन्त पुराने समय के सब रिवाजों और रूढ़ियों को हम नित्य और सनातन कहकर पुकारते हैं। और ऐसा ही समझते हैं। भारतवर्ष और औद्योगिक यूरोप में यही बड़ा फ़र्क़ है; एक अभी तक एक युग में है और दूसरा दूसरे में। इसी को हिन्दुस्तान अपनी विशेषता समझ बैठा है! किन्तु जब यह देश उन्नति करेगा और औद्योगिक मैदानों में

---

३० Ram Babu Saxena—A History of Urdu Litrature.

३१ Dr. Dhalla—Zoroastrian Civilization.

३२ राहुल सांकृत्यायन—मेरी लद्दाख यात्रा।

३३ एक मित्र के अनुसार इलाहाबाद जिले में कड़े में भी हिन्दू मुसलमान दोनों शीतला देवी की पूजा को जाते हैं और जहां के पण्डे हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आगे बढ़ेगा तो उस समय की सामाजिक शक्तियां नई समाजिक नैतिक व्यवस्था को जन्म देंगी और दुनियां के बारे में हमारे नये विचार होंगे।

इस तरह हमारी आशा भविष्य पर है। हमें अपनी हर रूढ़ि या रिवाज को नित्य और स्थायी नहीं समझ लेना चाहिये और न अपनी कठिनाइयों के हल से निराश होना चाहिये। मनुष्य समाज एक सदा तेज़ी से आगे बढ़ते रहने वाली चीज़ है। जो समाज इस तरह से नहीं बढ़ता वह दुनियाँ के जीवन संग्राम में रास्ते से भटक जाता है। भारत को यदि उसकी इस मृतःप्राय अवस्था से बाहर नहीं निकाला जा सकता, यदि भारत अपनी समस्त पुरानी रूढ़ियों को चिपटा रहा, तो वह इस दुनिया में सदा के लिये जीवन के मार्ग से हटाकर एक ओर फेंक दिया जायगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने भूतकाल के ही राग न अलापते रहें और प्राचीनतम ज़माने की रूढ़ियों को ईश्वरीय मान कर न चिपटे रहें, बल्कि दुनियां के इतिहास पर नज़र डालें। इस बात को समझें कि दुनियां की सभ्यता और सामाजिक संस्थायें कभी एक सी नहीं रहतीं बल्कि सदा तेज़ी से बदलती रहती हैं। नये भारत को काल और वस्तुस्थिति के अनुसार नई संस्थायें विकसित करनी होंगी। हमारी आशा नव भारत पर अवलम्बित है। वही भविष्य की रचना करेगा। हमें पुरानी भारतीय संस्कृति या इस समय की भारतीय संस्कृति पर ही नहीं अटकना चाहिये, बल्कि भविष्य की तरफ़ और भावी संस्कृति की तरफ़ निगाह डालना और उसी का विचार करना चाहिये। हमारे सौभाग्य से नव भारत ने इस तत्व को जान लिया है। हमें पुरानी रूढ़ि पूजा के खण्डहरों को साफ़ कर देना होगा। हमें अब "भारतीय संस्कृति" के भावी रूप की ही बात सोचनी चाहिये। उस भारतीय संस्कृति की जो सदा एक और अखंड रही है और एक और अखंड ही रहेगी।

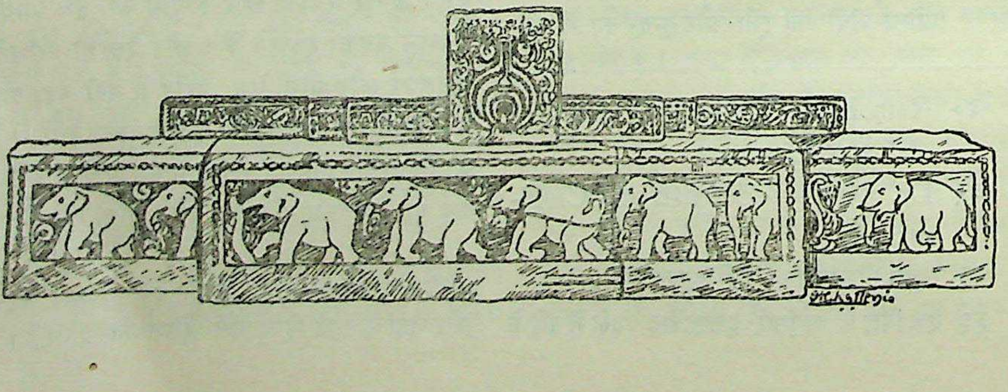

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मुहब्बत का रङ्ग

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी

[इस कहानी के पीछे भी एक लम्बी कहानी है। पण्डित जी ने इसे बिलासपुर डिस्ट्रिक्ट जेल में सन १६२१ में राजवन्दी की स्थिति में लिखा था। वहीं से पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के पास 'प्रभा' में प्रकाशित होने के लिये भेजा। पण्डित जी के पास इसकी कोई दूसरी प्रतिलिपि न थी और दुर्भाग्य से 'प्रभा' कार्यालय से यह बिना छपे ही खो गई।

कहानी खोगई किन्तु कहानी का छाट पण्डित जी की स्मृति में चक्कर काटता रहा। सन १६३० में जब पण्डित जी जबलपुर सेण्ट्रल जेल में थे, तब उन्होंने दुबारा इस कहानी को लिखा और श्री हरि प्रसाद जी के द्वारा 'विशाल भारत' में प्रकाशित होने को भेजा, किन्तु दुर्भाग्यवश कहानी फिर लापता हो गई। ऊब कर पण्डित जी ने कहानी का कथानक एक तरुण मित्र को दिया, पर वे उस कथानक के साथ समुचित न्याय न कर पाये। अन्त में मार्च सन १६४० में पण्डित जी ने तीसरी बार इस कहानी को काग़ज़ पर उतारा। इस तरह २० वर्षों के बाद अपने चौथे जन्म में यह कहानी हिन्दी पाठकों के सामने आ रही है।]

(१)

छरहरा जवान। गोरा बदन। चेचक के दाग़। कानों में सोने के दो बहुत पतले बाले पड़े हुए। आंखों में कल रात काजल लगाया था, जो अभी, दूसरे दिन के तीसरे पहर तक धुला नहीं था; मानों खाये हुए प्याज़ की बू हो, जो मिटने के लिये और वक्त मांगती हो। मांग पट्टी के बाल। हाथ में चांदी की, एक कांच का टुकड़ा लगी हुई अंगूठी। बोलने में उबासी आ रही थी, मानों कहीं से थक कर आया हो, और सोने की तैयारियां कर रहा हो। कुछ ग़ुस्सैल स्वभाव,—मानों सारा संसार उसके रूप की हाट में रहन रखा हुआ हो। गर्व से कुछ बनकर, कुछ मटक कर चलने की आदत। बैलों जैसे कांधे हिलें, और हाथी जैसे बेकाबू पांव धूलवाली सड़क पर पड़ें कि धुएं जैसी कुछ धूल मुंह तक उड़े, और अंगारे जैसे पांवों पर कुछ धूल राख जैसी चढ़ जाय। आदमी होकर, ज़रा में चिढ़ पड़ने, और थोड़े में रो पड़ने की आदत। झट से चमक उठने का स्वभाव। अपनी औरों पर की हुई भलाइयों की लांबी फेहरिस्त अपनी स्मृति की जेब में; किन्तु उससे दस गुनी बड़ी औरों द्वारा अपने पर किये गये अपकारों की फेहरिस्त। और इस बात का अल्हड़ अज्ञान कि अपकारों के औरों द्वारा होने पर भी, उपकारों की फेहरिस्त अपनी ही तबीयत में छोटी होने के क्या मानी होते हैं। बनकर, सजधज कर, शहर की बीच सड़क पर से निकलने का स्वभाव। विदेशी व स्वदेशी और सर्वदेशी के भाव से परे, बिलकुल ठेठ देसी। वो पतली, लाल किनारेदार, पर दाहिने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

घुटने पर पैबन्द वाली धोती। कुरता ज़रा कुछ मैला-सा, पर सफेद मलमल का, जिसके नीचे लाल रेशम की जाकिट। सफेद कुरता मैल से, और रेशम की जाकिट से संयुक्त झांई खाकर, सफेद कम दीखे, बैंगनी ज़्यादः। पान ठूंसकर खाने, उसकी लाली की अंगुलियां दीवारों पर पोंछने, और उससे बिगड़े ओंठ, कुरते से, संभाल कर पोंछने की दक्षता! ओंठों पर पानी। मूछों का कुछ कुछ आरोप-सा हो ऐसी उम्र,—शायद मर्दाने कपड़े बदन पर होने के कारण। भोपाली ज़ुल्फ़ रखने की ख़बरदारी, और मुड़ी ज़ुल्फ़ के गालों पर आने पर, उन्हें मुड़ा हुआ रखने के लिये, पीले चन्दन की, दोनों गालों पर दो बूंदें। सिर पर पाग, ज़रा टेढ़ी, बनक कुछ इन्दौरी। रियासत अनुराधा पुर के निवासियों के सर पर प्राय: ऐसी ही पाग होती है। पाग का रंग मोतिया, पीलेपन की झांई मारता हुआ। किन्तु उसकी नोक पर, कपाल पर लटकने वाली नई सभ्यता की 'द्वितीय चोटी' की कृपा से, तेल की कालिमा। दांतों में, सोने की कीलें। हाथ में, अंगुलियों की पोरों पर मेंहदी लगी हुई। प्रश्न पूछने पर, गुर्राकर घूरने, उपेक्षा से जवाब देने, और फिर शरमा जाने का लहज़ा। हाथ में बुंदेलखंडी लाठी; पूरबी नहीं जिसमें ऊंची गांठें होती हैं, और नीचे लोहे की सिमियां लगी होती हैं। सीधी, सादी, पीली लाठी; जिसमें ऊपर सूत का, श्रावण की राखी फैशन का, रंगीन बुंदा लगा हुआ, और बीच बीच में चार चमड़े के बन्द लगे हुए। ठिगना क़द, उम्र को छुपाने का संयुक्त हथियार सा; आकर्षण का विक्रम अमर रखने का रामबान नुसख़ा सा। देखने में गुस्सा, किन्तु बोलने में मुसकाहट; मानों सतपुड़ा की इन दो घाटियों के बीच, कोई समथर ज़मीन ही न हो, जहां स्टेशन बन सके, और आदत की गाड़ी ठहर सके। पड़ौस में रहने वाले जासौन गांव के मालगुज़ार के बिगड़ैल लड़के द्वारा फेंके हुए, काग़ज़ के चित्रों वाले सिगरेट केसों को जेब में संभाल कर रखने की सावधानता। कपड़े रंगने और उन्हें संवारने की अच्छी थियोरेटिकल जानकारी, और उस पर जहां तहां मुंह मारना। गुलेल रखने, और उसे अपनी नज़र ही की तरह, बेगुनाहों पर, छुपकर आज़माने की कुछ सफल, और अधिक असफल आदत।

और यह कहानी, मैं उन लोगों के लिये तो लिख ही नहीं रहा, जिन्हें दुनियां में फ़ुरसत नहीं है; या फ़ुरसत कम है। इसका चरित नायक कोई हो, पाठक किसी को भी मानें, किन्तु इसका पाठक, और इसका आत्मा तो वही हों, जिसे जल्दी नहीं पड़ी है।

हां तो, कपड़े रंगने की जानकारी, मगर जात तेली। नाम भोला, वल्द बच्चू। साकिन अनुराधा पुर राज का अनुराधापुर शहर। किराये से गाड़ी चलाने का रोज़गार। अनुराधा पुर, गांव होकर, 'राज' होने से शहर। महल में शहर चमके, सड़कों पर गांव। रेल से दूर—६७ मील। हीरापुर स्टेशन से बैलगाड़ी चौथे दिन पहुंचे। सड़क कच्ची।

(२)

तो सुस्ती किस बात की आती है? नसीबन ने कहा, ज़रा संभल कर यों सोचते हुए, मानों अपना हक़ आजमाती हो।

रमज़ान बोला, तुम तो बस वैसी ही हो, बेल जैसी—बेर देखा न बबूल, सर चढ़ने को दौड़ पड़ीं।

जो लिपटता है, वह तो सर तक चढ़ेगा ही। कांटे में बदन कंटवाना, क्या कोई यूंही अपना रोज़गार बनायेगा। दस बीस चुभने वाली बातें सुनाते हो, और फिर सफेद लम्बी डाढ़ी हिलाकर मुसकरा देते हो—यह सर चढ़ाने का न्यौता जो देते हो—अरे हां। जानते हो, आख़िर लड़का है! उसमान फ़ौत हुआ है, तब उसे मुंह लगा रखा है। और आज ज़रा सी बात पर उसे नाराज़ करते हो। खिलौना तुम न ले दोगे, तो कौन लेदेगा?

रमज़ान रंगरेज़ है। नसीबन उसकी स्त्री है—रंगरेज़िन। उनके एक ही एकलौता लड़का था—उसमान। कोई ११ बरस हुए, वह आठ बरस की उमर में मर गया। करीमन, उसमान की मां, और रमज़ान की दूसरी औरत, सौर से बाहर होते ही मर चुकी थी। उसमान को, उसकी 'बड़ी मां' नसीबन ने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाला था। उसमान के मरने के बाद, रमज़ान की तबीयत कहीं नहीं लगती थी। वह कपड़े रंगता तो, हौज़ों के बने रंग की तरफ ही देखता रहता, और तीसरे पहर से शाम हो जाती। रंगे कपड़े सुखाते समय दरख़्तों की तरफ देखता तो, दरख़्तों, उनकी डालियों, उनके पत्तों, और दरख़्त पर बैठे पक्षियों की तरफ ही देखता रह जाता। नसीबन ने देखा, पुत्र शोक, एक ऐसा नाला है, जो उतरती उम्र के रमज़ान से लांघा न जायगा। उसने रमज़ान की याद के पैर रखने, और संकट के आरपार आने जाने के लिये, एक सजीव बुत ढूंढ़ दिया। वह था—बच्चू तेली का लड़का भोला। बड़ी बड़ी आंखें, गोरा बदन, कोई १०-११ बरस की उमर। रमज़ान से बाबा कहता। और मुहल्ले में यदि कोई उसे डांटता तो रमज़ान से आकर लिपट जाता। एक खूंटे से बंधते बंधते पशुओं को, घर और घरवालों से मुहब्बत हो आती है; भोला तो आदमी का बेटा था।

(३)

अब भोला बीस वर्ष का हो चला था। वह रमज़ान से जब बोलता, अधिकार की भाषा में। रमज़ान दिन भर उससे विनोद करता रहता। विनोद ऐसी तदबीर की, जिससे भोला की बेवक़ूफ़ी की बातें टालने में सहारा मिलता, देरी से की जा सकने वाली बातों को जल्दी से करने की ज़िद करने पर देरी लगाने के लिये समय निकल आता, और किसी अटपटी और अनहोनी सी बात की ज़िद यदि भोला करता, तो विनोद वह समय का वह खाली मैदान था, जो समस्याओं पर सोचने और उन्हें सुलझाने का समय दे देता। विनोद, अकरणीय कार्यों पर, न करने की बात कहने पर, जी पर ठेस न लगने देने, अधिकार का सिंहासन डांवाडोल न होने देने, और चेहरे पर गुस्से से शिकन न पड़ने देने का मुलायम मसाला था।

भोला को उसके एक दोस्त ने न्यौता दिया है कि, अनुराधापुर रियासत से लगी, विशाखापुर रियासत के एक गांव, सोनामाटी को, वह अपने दोस्त की बारात में जावे। तारुण्य, बारात में जाना, मित्र का न्यौता, जाति में 'कुछ हूं' दिखलाने की साध, और ख़ूबसूरती—इन सबके साथ अगर हो चरम दारिद्र्य, तो वह गांवों-खेड़ों की, ख़ून में रवानी और बदन पर मांस रखने वाली तरुणाई को, मौत के घाट ले जाने तक विद्रोहिनी बना डालता है! भोला, अपने चाचा के यहां रहता था, जो ग़रीब था, और चोरी के अपराध में दो बार सज़ा पा चुका था। उसके न मां थी, न उसके बाप था। नसीबन ही उसकी अम्मा थी, और रमज़ान उसका बाबा। अधिकार की यह बुरी आदत है कि वह अपनी मर्यादा सदैव ही लांघता आया है।

आज, रमज़ान से भोला ने कहा—बाबा, आज हमारी पगिया रँग दो!

'वाह रे लाट साहब के बेटे, न ढंग के कपड़े, न पैरों में जूतियां, और पगिया रँग दो!' जबाब पाया।

ना बाबा, जूतों में तो तेल देकर रख दिया है। जूते तो ख़रीद लिये। कपड़े को रेशम की 'जाकट' क्या बुरी है—हां मलमल का कुरता मैला है, उसे मैं धो लूंगा। न हो, उसे भी तुम रँग दो।

'रँग दो! अरे लाट साहब, शादी तेरी है, या तेरे दोस्त की! ब्याह में रँगा कुरता तो दूल्हा पेहना करता है। तेरा कुरता कैसे 'रँग दो'। बारात में जाकर तो तू दुलहिन मांगने लगेगा।

भोला या तो ख़ुश होना जानता था, या ग़ुस्सा होना। विवेक का कोई मध्य विन्दु उसके स्वभाव के ठहरने के लिये न था! उसने अपनी बाजी गिरती देख, नसीबन से कहा—देखा न अम्मा तुमने! आज बाबा, मेरी बात के पैर न जमने देंगे।

रमज़ान ने क़हक़हा लगाया—अरे तेरी बात के पैर न सिर, जमें तो कौन जमें, और कैसे जमें।

नसीबन ने कहा—अच्छा कुरता न रँगो। वह दूल्हा का ही रँगा रहने दो। पगिया तो उसकी रँग दो।

और भोला की ओर मुख़ातिब होकर कहा—
बेटा, तेरी पाग ले आ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुरुष पर स्त्री के अधिकार की बात पर, मानव जन्म से ही विश्वास करता है। भोला तो बरसों की २० वीं २१ वीं सीढ़ी पर था।

नसीबन उठी, उसने हुक्के में तम्बाकू भरी। अंगारे चढ़ाये। हुक्के की नाल, अपनी ही फूंक से ठीक की। और रंगीन घर की उस साम्राज्ञी ने, तम्बाकू की वह नियामत अपने बूढ़े सम्राट के सामने पेश की।

रमज़ान ज़रा खांसा, फिर उसने अपना मुंह अपने गले पर पड़े गमछे से पोंछा, और हुक्के की गुड़गुड़ी मुंह में लेकर धीरे धीरे इस तरह गुड़गुड़ाने लगा, मानों जाड़े के दिनों, देर से लौटकर आया हुआ कबूतर, अपने घोंसले में, अपने परिवार को पंखों में दबा, प्यार से गुरगुरा रहा हो।

बचपन में, एक स्वस्थ बच्चा, अनेक बड़े आदमियों की दौड़ और फुर्ती अपने में रखता है। हुक्के की तम्बाकू अभी सुलगी भी न थी, कि भोला अपनी पाग लेकर आ गया। और उसे रमज़ान के पैरों पर फेंक दिया—मानों वह उसकी आत्ममर्यादा हो, जो पगिया रँगवा लेने के लिये रिश्वत की तरह, पैरों पर बिखेरा गया हो।

रमज़ान ने हुक्के की गुड़गुड़ी मुंह से न हटाते हुए, पाग समेटी, और उपेक्षा से नसीबन की तरफ़ फेंकी। और कहा—यही आठ-नौ जगह फटी पगिया है न, जिसे महज़ अच्छा रँग देने से वह इस तेली के बेटे को, ब्याह में रँगीला दीखने वाला छैला बना देगी।

"देखो अम्मा, बाबा कैसी बातें करते हैं"— भोला ने कुढ़कर कहा। और आंसू बहाते हुये अपनी पाग ख़ुद समेटने लगा।

नसीबन बोली—ठहर, ज़रा ठहर तो। आंसुओं से रँगने से तो यह पाग, रंगीन होने से रही। इसे तो रँग से ही रँगना होगा। अच्छा कौनसा रंग चाहिये पाग का?

भोला बोला—बनिया बैठने तो देता नहीं, और कहे झुकता सा तौलना! बाबा कुछ बोलें भी तो!

अरे तो बाबा के बेटे, आज तो रंग तैयार नहीं है। रंग के तैयार करने में चौबीस घण्टे लगेंगे। वक्त की घड़ियां भी क्या कोई बिस्तरा है, जिसे जब चाहा लपेट लिया, और जब चाहा फैला दिया! और तेरी अम्मा क्या हो गई—

'मैंने तो अभी कुछ नहीं कहा'—नसीबन ने ज़रा तमक कर कहा। और कहा, यह चीनी मिट्टी की मांट में रंग तैयार जो रखा है?'

रमज़ान, ज़रा खांसकर बोला—वहतो मोतिया रंग है।

भोला का मन, निराशा के बरसाती नाले में डूबते, थाह पा गया। बोला—मुझे भी तो मोतिया रँग का ही पाग चाहिये।

नसीबन बोली—लो अब तो रंग दो।

रमज़ान ने हुक्का हटा दिया। और अपनी मिरजई के बन्द खोलते हुए बोला—भोला लड़का है। मगर तुम तो नन्हीं नहीं हो। जानती हो कि वह चीनी मट्टी की मांठ है। रियासत के फरमांरवां की पागें रँगने के लिये वह रंग तैयार किया गया है। घोड़ा बादशाह का हिन हिनाये और कल्लू मोदी अपनी खुड़जी उस पर रखने दौड़े,—अजब मसल है! भोला को बारात में क्या जाना है, तुम्हें उसे सिंगारने के लिये चारों खूंट जागीर भी छोटी मालूम होती है।

नसीबन ने, पगिया उठाई और पानी में भिगोने लगी।

भोला बोला—अम्मा, मैं एक तो पगिया मोतिया रंग में रँगवाऊंगा, दूसरे बाबा जान, मुझे मेरी पाग वैसे ही बांध कर देंगे, जैसी नवाब साहिब की पागें बांधा करते हैं और तीसरे स्वयं बाबा रँगेंगे, तो पगिया रँगी जायगी—नहीं तो भोला बारात न जायगा।

सन्धि की शर्तें रखदी गईं। बूढ़ा रमज़ान, अपना निर्मल हास्य बखेर कर बोला—बादशाह सलामत की पागें, भिनसारी रात रँगी जायंगी। और तेरी तो पहले रंगी जानी चाहिये। फिर नसीबन से बूढ़ा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बोला—यह क्या मज़ाक करती हो? यह पगिया कैसे रँगी जायगी?

नसीबन बोली—नवाब साहब की पगिया ज़िन्दगी भर रंगी हैं, और ज़िन्दगी भर रँगेंगे। क्या उस रंग में एक डोब, किसी ग़रीब की पगिया को नहीं मिल सकता? और आखिर नवाब साहब की पागें भी तो तुम्ही बंधी-बंधाई, डब्बों में बन्द करके दोगे? तब क्यों न तुम, एक पाग इस 'छोरे' की, उसी ढब पर बांध दो।

रमज़ान चिढ़ा—बोला औरत जात जो हो! क्या जानो नमक की क़ीमत, और रोटियों के हीले को। मैं तो रईस की पाग के रँग में, भोला की पाग नहीं डुबोऊंगा।

नसीबन ऐसे चौंकी, जैसे उसकी आंखें खुल गईं। बोली तुम मर्द हो।

और भोला की पाग उठाकर गीली ही, भोला के पास फेंक दी। और कहा जारे बेटा। बिना माँ बाप के छोरों को, पाग रँगते वक्त रंगरेज़ भी यह मालूम कर देना चाहते हैं, कि वे बिना मां बाप के हैं, और ग़रीब हैं। ग़रीब, ग़रीब को धुतकारे, और अमीर अमीर की सी कहे, इसे दुनियां कहते हैं।

भोला के मुंह को लकवा मार गया। गीली पाग, नसीबन की देहरी पर ही पड़ी छोड़कर वह चुपचाप चला गया।

(४)

रमज़ान बोला—लड़के की आंखों पर गुस्सा भरा था।

नसीबन ने कहा—गुस्सा किस पर करेगा अभागा।

रमज़ान—क्यों?

नसीबन—पूछते क्यों हो? पगड़ी पीछे बारह आने ही तो मिलते हैं। इन पैसों भी क्या भोला महंगा है?

रमज़ान—वह रईस है। उसके रंग में मैं इसकी पाग कैसे डुबा दूँ?

नसीबन—कैसे? वैसे ही, जैसे मैं ज़रूरत पड़ने पर अपने बेटे उसमान की पाग डुबो देती। उसमान—

बूढ़ा हिल उठा—उसमान!

नसीबन ने कहा—भोला ने तुमसे उसमान का दुलार पाया है। तब आज पाग रँगवाने और बंधवाने कहां जावे।

(५)

दलील वज़नदार थी। हाईकोर्ट का फैसला था। दावा मय ख़र्च के स्वीकृत हो गया।

× × ×

अनुराधापुर के रईस, सोना माटी के पास के अपनी रियासत के गांव, गोलन डोह से शिकार करके लौट रहे थे। नवाब साहब के साथ, धारनी गढ़ के राजा शार्दूल सिंह, दो शिकारी, दो सरदार, और एक घुड़सवारों की टुकड़ी थी। जब मोहन पुर के नाले से, सरकारी सवारी गुज़र रही थी, तब बैल-गाड़ियों के पास खड़े लोगों के झुण्ड के बीच, एक गोरे से छोकड़े को उन्होंने अपनी सी, ठीक अपनी सी पाग बांधे देखा। पाग का बाँध वही था, बनक वही थी, पेच वैसे ही कसे थे, रंग भी वही था। रईस ने अपने सर से पाग उतारी और देखा। यह रईस की पाग थी, जो सर से उतर रही थी। दोनों मिलाया! दो पागें, एक भीड़ में खड़े किसी ख़ूबसूरत उठाईगीरे की और दूसरी अपनी—दोनों, आपस में, अगर राई बढ़ती न थीं, तो तिल घटने के लिये भी तैयार न थीं। दुखती चोट, और अनहोना दुर्भाग्य मानों ऐसी चीज़ें हैं जो होकर रहें। जब रईस ने अपनी पाग उतारी तब भोला मुसकरा दिया। दो घंटे के बाद जिबह किये जाने वाले जानवर भी हरी घास को, बड़े स्वाद से खाते हैं।

एक सिपाही घोड़े से उतरा। उसने नाले की घाटी पर चढ़ती हुई बैलगाड़ियों को रास्ते ही में ठहराया। उन सब गाड़ियों में तीन ऊपर चढ़ चुकी थीं। दो घाटी से फिसलकर नाले में वापस नीचे आ गिरी थीं। और दो अभी चढ़ी ही न थीं। अब इसके बाद से पूंछ तांछ शुरू हुई।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किस गांव की बारात है ?

अनुराधापुर की ग़रीब परवर !

कौन ज़ात हो ?

तेली सरकार !

क्या पेशा करते हो ?

अपना ही पेशा—तेल बेंचते हैं !

कहां जा रहे हो ?

घर—अनुराधापुर ही तो चल रहे हैं ।

फिर, मोतिया पाग के छैल छबीले की तरफ़ घूम कर, सिपाही पूछने लगा—

तू कहां रहता है वे लौंडे ?

वहीं अनुराधापुर !

किसका लौंडा है ?

तेली का लड़का हूं ।

क्या नाम है तेरा ?

भोला ।

बाप का नाम

बच्चू

तेरा बाप क्या करता है ?

दूल्हे के बाप ने, बीच ही में कहा, इसके मां बाप कोई नहीं है सरकार । ग़रीब है बेचारा ।

सिपाही ने फिर पूछा—

तेरी पाग किस रँगरेज़ ने रँगी है वे ?

रमज़ान बब्बा ने ।

सिपाही ने चट से पाग उतारी और एक सा रंग, एक सी बनक, एक सी सुन्दरता देखकर भी यह ग़रीब की पाग थी, जिसे सिर से सदा के लिये उतारते हुए भी, सिपाही के हाथ में, झिझक की जगह न थी ! सिपाही ने घूर कर लड़के को इस तरह देखा, मानों खा जायगा । भोला सहम गया ।

दोपहर होता आ रहा था । मज़दूर, खेतों में गेहूं काटने में जुटे हुए थे । छोटे बच्चे, पशु धन को पानी पिलाने नाले पर ले जा रहे थे । आमों के मौर महँक भी रहे थे, और झर भी रहे थे । सड़क की धूल उड़कर, राहगीरों के मुंह, उनकी आंखों और आंखों की पलकों के बालों तक को मटमैला किये हुए थी । गांव की मज़दूरिनें, गेहूं की पूलें बांधते हुए गा रही थीं—

जी में एक पहेली दूखी
दुनिया आज हरी कल सूखी ।

और शास्त्रों को रटे हुए पण्डित जी गेहूं के फूलों की भीख मांगते हुए, एक हाथ में सुलगी हुई चिलम और बगल में डंडा दबाये अपने ज्ञान को तुलसी की इस वाणी के द्वारा औंधाये चले जा रहे थे।

'धरा को सुभाव इहै तुलसी
जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना'

और खेतों में, छोटे छोटे बच्चे, वृक्षों पर चहकते पक्षियों को ढेले मार मार कर उड़ा रहे थे । हर इंच, हर मंज़िल, दर पर दर, और पग पर पग, मौसम की तरह बैल गाड़ियां धीरे धीरे चली जा रही थीं ।

(७)

सीतलासहाय कांस्टेबल रमज़ान को खोजता हुआ बोला—चलो बब्बा तुम्हें दरबार ने बुलाया है !

नसीबन ने पूंछा—क्या नवाब साहब बहादुर आ गये ।

सिपाही—हां, अभी लौटे हैं ।

रमज़ान—हमारा रईस बड़ा नामी है । परसूं कहीं पागें देखी, तबियत बहाल हो गई । फरमाया—इस बार पागों की रंगाई नहीं मिलेगी, इनाम मिलेगा । रमज़ान बब्बा, धारनीगढ़ के राजा साहब, इन पागों की रंगाई-बंधाई देखकर बाग़ बाग़ हो गये हैं । कल आकर इनआम ले जाना । सो उसी का बुलावा आया दीखे है । यह कहकर, कांस्टेबल से कहा—हवालदार साहब, बैठो, चलता हूं ।

हवलदार बोला—सरकार ने जल्दी ही याद किया है । चलो । वे इस वक्त दफ़्तर में हैं ।

रमज़ान ने मिरजई पहनी । वह उसके पास उसके ईमान की तरह एक थी । जिस पर, उसकी बात की तरह एक ही रंग चढ़ा था । और उसके अनुभव की तरह पुरानी थी । और डाढ़ी पर हाथ फेर कर, वह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने पेट की मज़दूरी की लाचारी से रँगे हाथों, चल पड़ा महल की तरफ़।

× × ×

फ़रमा रवां, कुर्सी पर बैठे थे। और एक टेबल पर सजाकर ६ पागें रखी थीं। कहना न होगा, कि इन छै पागों में से रईस की एक पाग, हटा दी गई थी, और भोला के सर से उतारी हुई पाग, इनमें मिलाकर रख दी गई थी। नवाब साहब ने पूछा—ये सब पागें हमारी ही हैं न रमज़ान ?

रमज़ान—आप ही की तो दीखती हैं हुज़ूर छै पागें ही तो परसूं रंग कर, ख़ादिम दे गया था।

नवाब—तब, तुम चोर हो, बेईमान हो।

रमज़ान का स्वभाव, इस वक्त आंवलों की मोट था, जो फैल गया था, और समेटे न सिमट रहा था। उसने धीरज संभाला और कहा—

रमज़ान से हुज़ूर का नमक खाया है। उसकी पीढ़ियों में बेईमानी नहीं है।

नवाब—दरबार के पागों की धुलाई रंगाई बंधाई तुम्हें क्या दी जाती रही है ?—

रमज़ान—बारह आना फ़ी पाग ग़रीब परवर

नवाब—और उस तेली के लौंडे ने क्या धुलाई दी थी।

रमज़ान की गांठ अब सुलझ गई। वह धीरज से बोला हुज़ूर वह छोटा सा बच्चा है।

धारनीगढ़ के राजा ने इसी वक्त कहा—आपका रँगरेज़ आपको भी छोटा बच्चा समझता है, और बहलाने की कोशिश कर रहा है !

नवाब—बेईमान, साफ़ साफ़ बता। तेली के लौंडे की पाग का रंग, और बनक, दरबार की पाग के रंग की क्यों है ?

रमज़ान—ख़ता माफ हो सरकार, यह नमक का, रोटियों का, रंग है, और वह मुहब्बत का रंग है। वह मेरे बेटे की तरह है।

इरादों के काले, ज़बान के खूंख़ार, क़लम के शाहंसा; पैसों के भरपूर, रहम के ख़ाली, और टूट पड़ने में जंगली जानवर को अधिकारी कहते हैं।

घोड़े का हंटर उठा नवाब ने कहा—मुहब्बत का रंग हरामज़ादे। ले तुझे इस शायरी का मज़ा चखाऊं।

रमज़ान ने छत की तरफ़ देखा—मानों शैतान के घर में खुदा को ढूंढ़ रहा हो। सिर ऊंचा किया—मानों प्रेम सर्वनाश के समय भी दामों से ऊपर उठ कर खड़ा रहना चाहता हो।

रमज़ान ने कहा, माफ़ करो ग़रीब परवर, ग़रीबों को बेटे बेटी समझें अन्नदाता। रईस, समुद्र की तरह इस समय, अपने आवेश में ख़ुद डूब चुका था। रमज़ान पर—

हंटर, फिर हंटर, फिर हंटर ! रमज़ान खड़ा रहा। महल के पत्थर पिघल उठना चाहते थे। सारे अधिकारी मानों सोचते थे कि आज राजधानी के सुहाग इन्साफ़ पर हंटर पड़ रहे हैं। पर बिकी जीभ, और कायर कलेजे से टुकुर-टुकुर देख रहे थे।

चोर हमारी पाग चुराकर उस तेली के लौंडे को दे दी ?

रमज़ान धक्के मार कर निकाल दिया गया। उसकी मिरज़ई ख़ून से लथ पथ थी।

मसजिद में नमाज़ पढ़ी जा रही थी। मंदिर में पूजन हो रहा था। गिरजा घर का घंटा बज रहा था। और रमज़ान अनुराधापुर की सड़क पर इस तरह जा रहा था, मानों हिमालय शिखर से ठुकराया हुआ हिम-खंड है, जो गङ्गा बनाता चला जा रहा हो।

गाड़ियां लौटीं कि, ख़बर देने भोला, रमज़ान बब्बा के घर गया। कान्स्टेबल द्वारा बुलावा सुनते ही वह राजमहलों की ओर दौड़ा।

रास्ते में लड़खड़ाता, कराहता, और आंसू और ख़ून साथ साथ टपकाता रमज़ान मिल गया। उसे ख़ून से लथ पथ देख कर भोला उसके पैरों में लिपट कर बोला यह क्या है बाबा—

रमज़ान बोला—मुहब्बत का रंग ऐसा ही हुआ करे है बेटा !

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाञ्चाल पथ

श्रीमती सत्यवती मल्लिक

बहिन सत्यवती मल्लिक का शैशव और कौमार्य काश्मीर में ही बीता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच ही उनकी सहज आत्मा विकसित हुई है। उनका हृदय सदा प्रकृति के बीच ही तोष पाता है। प्रस्तुत लेख उनका डायरी के रूप में लिखा हुआ पांचाल शिखर की यात्रा का वर्णन है, जहां वे गत वर्ष अपने पुत्र चि० केशव मल्लिक और अन्य बाल-मित्रों के साथ गई थीं। रावलपिंडी से श्रीनगर जाते हुए पांचाल शिखर की मनोहर चोटियां देखने का अवसर बहुतों को मिला होगा किन्तु यह बहिन सत्यवती का ही साहस और सौभाग्य था कि वे उस शिखर तक पहुँचीं।

रावलपिंडी से श्रीनगर, मोटर बस में
१६ मई, १६४१ ई०

ऊंचे ऊंचे पांचाल शिखर की ओर।

वह धूल धूसरित झाड़ झंखाड़, वन बीहड़ों युक्त धरातल, ऊंचे से अब कितना मनोमोहक लगने लगा है।

दोनों ओर के महान भूधरों की विस्तृत ढलान पर जलमग्न खेतियाँ और चरणों तले मानों अंजलि भरे आरती उतारती-सी चन्द्रभागा।

प्रभात किरणें अभी फूटी नहीं, किन्तु पश्चिम की ओर सुदूर में हिम जड़ित मुकुट धारण किये वे नोकीली चोटियां किस अदृश्य आलोक का आभास पा झलमला उठी हैं!

प्रत्येक मोड़ के बाद उठती ऊंचाई, और उन्हीं गिरि-शृगों का बढ़ता व्यवधान तनिक भयावना गहन रूप धारण कर रहा है। इस विस्तृत गहनशून्यता के ऊपर एक बड़ा सा पक्षी पंख फैलाए मानों अगाध सागर में तैर रहा था।

दो ही दिन में तो, मेरे सिमटे प्राणों ने इतना भव्य रूप! इतनी विराटता पाई है। चूने पत्थरों की प्राचीरों में से सीमित क्षितिज के टुकड़े और गमलों में लगे किंचित फूल पत्तों अथवा कभी कभी उन पर अकेली मंडराने वाली तितली को नित्य प्रति देखते देखते मेरा बद्ध मानस क्या इसी भव्यता के लिये आकुल हो उठता था!

वाणी जहां मौन हो जाती है, पलकें जहां झपक नहीं ले पातीं, तन मन की समस्त क्रियाएं रोमाञ्चित हो केवल दो बूंद अश्रु भर लाती हैं; ऐसे पुलक के क्षण मेरे भीतर छा रहे हैं। उस पक्षी के डैनों-सी शक्ति प्राप्त करने को, उन झिलमिलाते किरीटों के अतुल सौन्दर्य को, अमर शान्ति को क्षण भर स्पर्श करने को भुजाएं व्यग्र हो उठती हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाञ्चाल का काल्पनिक रूप* मेरे बाल नेत्रों के सम्मुख सदा ही निर्मम रहा है। जम्मू काशमीर के ऐन मध्य में हिमपूरित ऊंची बृहत् प्राचीर, जिसकी ढलान पर बरफ में दबे कहीं कहीं घोड़े का कान, कहीं पूंछ और कहीं मनुष्यों की अस्थियां, पर पीछे तो स्वयं इस शिखर पर ४० फुट तुषार देखी है। पतझड़ के दिनों में आंसू भर कर अनेक बार विदा ली है, लू से तपते हुए थके हारे यहीं पहुंच कर शीतल सांस ली है—पांचाल शिखर के पास जाते ही सदा ऐसा लगा है कि मानों घट का पट खोल दोनों भुजाएं फैलाये जननी आंचल में लेने को आतुर हो।

किन्तु आज का रुचिर परिधान! ऐसा सौन्दर्य! नेत्र मानों आज कुछ विशेष पा रहे हों। हिम के दोशाले सम्भवतः अभी अभी उठे हैं और उनके स्थान पर श्वेत गुलबहार (डेज़ी), पीले फूल (बटर कप), जंगली गुलाब हरित पल्लवों पर इठला रहे हैं—नव पल्लव युक्त तरुओं से लिपटी वन लताएं! और इसकी गोद में दुलार पाती हुई नव जात शिशु सी वितस्ता।

× × ×

वर्षों के उपरान्त बहार के दिनों में इस सजला श्यामला भूमि के अन्तर से उठी सौरभमय मत्त पवन, दूर तक खिले लाल पोस्त, श्वेत नीले शोषन के फूल देख देख अल्हादित हो रही हूं—किन्तु जाने क्यों पर्वतों से हटकर नीचे समतल पर अंकुर विहीन धान की जलमग्न खेतियों में बार बार उन किरीटों की प्रतिच्छाया आकर्षित कर रही हैं, मानों रह रह कर—

दूर कहीं अज्ञात दिशा से इङ्गित आवाहन हो

सिद्धिपुर
१४ जुलाई ४१

बाहर भयङ्कर तूफान! निविड़ नीरव अँधियारी निशा, ऊंचे ऊंचे पेड़ों से घिरा सघन वन। इन्हीं के काष्ठ से निर्मित घोंसले में पड़ी हूं। साथी दिन भर के थके और क्षुधा से विकल हैं। उन्हें मुझसे काफ़ी आशा है। किन्तु इस समय तो हिला तक नहीं जाता। उनमें से दो साहसी व्यक्ति स्वयं ही बड़ा सा पतीला चाय का बना लाये हैं और बाकरखानियां (काशमीरी कुलचे) डाल कर खा रहे हैं। चाय से कुछ नहीं बना तो बादामों पर धावा बोल दिया। यहां आकर पता लगा कि इधर आगे खाने को कुछ भी नहीं मिलेगा। सो मुझे हिसाब लगा कर साथ लाई हुई रसद में से चार दिन की व्यवस्था करनी है। सब्ज़ी में केवल थोड़े से आलू, प्याज़, बैंगन और थोड़े से टमाटर हैं। खैर कड़म का साग तो कहीं मिल ही जायगा······

तूफ़ान मानों लकड़ी की दीवार को भेदकर भीतर आना चाहता है। वृक्षों से सांय सांय की भीषण ध्वनि, जिसका आकर्षण ही प्रायः वनों में घेर लाता है, उठ रही है।

साथी सो गए हैं, लैम्प धीमा जल रहा है, ज्योत्सना भरी एवं ग्रह-नक्षत्रों से पूर्ण रात्रियों में वन की शोभा अनेक बार देखी है। किन्तु जी होता है खुली खिड़की में से आज इस झंझा की रात में वसुन्धरा के दृश्य से उठे अत्यन्त गोपनीय द्वन्द को देखती रहूं। इस गहन तमो सागर में हमारा यह घोंसला मानो तैर रहा हो। जंगली जानवरों के भय से सहसा खिड़की बन्द कर लेती हूं।

आज का सारा दिन पलट-पलट कर आ रहा है। मोटरबस में बैठे बैठे श्रीनगर से शुपइयाँ तक के ३५ मील, बैत वृक्षों पर झुकी हुई अंगूर की बेलों से शोभित वितस्ता के तीर पर कई गांव······

पुनः—

घोड़े सब आगे निकल गये हैं, एक अज्ञात दिशा की ओर। बिना पूरा प्रबन्ध किये चल पड़ने की चिन्ता से घिरी पैदल जा रही हूं। किन्तु आधा मील आगे, जैसे ड्योढ़ी के भीतर क़दम रखते ही वही विराटता। थोड़ी दूर पश्चिम में किसी बबर सिंह की बृहत् पीठ

* जम्मू काशमीर वैली रोड बनने से पूर्व यह मार्ग पैदल अथवा घोड़ों द्वारा बहुत कठिनता से पार किया जाता था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के आकार सी चील वृक्षों से घिरी पहाड़ी, नीचे दूर समतल में रेत पत्थरों पर झलकती दो तीन धाराएं।

सहसा एक सुमधुर गीत की गूंज—

आश्चर्यचकित हो चारों ओर देखती हूं, गाने वाले मुझे दिखाई नहीं पड़ते। शब्द भी स्पष्ट नहीं उतरते। एक स्वर पहले ऊंचे से तान भर कर उठता है। पुनः उस एक ही चरण को द्रुतलय में बार बार दुहराते हुए अनेक स्वर। ओह! इन ऊंची मेढ़ों के पार शाली (धान) फूट आई है और वहीं से मानों स्वतः मां प्रकृति के मुंह से यह मधुर लय गुञ्जरित हो रही है।

कुछ क़दम आगे—

दीर्घ लय में एक करुण गान। सांझ घिर आई है। अन्तिम किरणें नीचे समतल धाराओं पर, सामने सिंह की पीठ जैसी पहाड़ी पर नव वधू के अंचल सी झलमला रही है। इधर पास ही ढलान पर अखरोट के पेड़ तले तीन व्यक्ति बैठे मस्त तान में गा रहे हैं। इस गीत के अर्थ भी नहीं समझ सकी। किन्तु मेरे मन प्राण रोमांचित हो उठे। नीरव स्थान में संगीत का कितना महत्व है। नदी की छल छल, वायु की सांय सांय, पक्षियों के कलरव की भाँति मानव हृदय से प्रस्फुटित इस शुद्ध सान्ध्यगीत को प्रकृति का करुण विहाग कहूं या महाकवि के शब्दों में

याखुन बेलार शेषेर छाया, पाखिराजाय,
आपन कूलार माझे……
सन्ध्या पूजा घण्टा याखुन बाजे
… जैले दिवस गेले……

दो क्षण खड़े होकर सुनती हूं पर रुकने को समय कहां है? साथी आगे जा चुके हैं। संगीत की गूंज से फैले कम्पन को वहीं छोड़ तेज़ चाल से आगे बढ़ जाती हूं। एक छोटे पुल को पार कर दोनों ओर धानी रंग के पक्के गेहूं के खेतों में से होता हुआ सीधा नीरव पथ। दो पैदल जाने वाले साथी मिल गये हैं।

'शिव है शिव! तभी तो उसके गले में चांदी की सी रेखा है।" साथी का संकेत ऊपर अनन्त की ओर जहां एक बृहत् श्याम घन शिव लिङ्ग के आकार को रजत-रेखा लपेटे है।

चील वृक्षों में से पुनः नीलाकाश तले मादक पवन में मानों तैरते हुए से छै मील कट चुके हैं। सातवें मील में कुछ बस्ती के चिन्ह नज़र आने लगे। हम सबके कानों में एक बृहत् प्रपात की काल्पनिक ध्वनि गूंज रही है। हमारी इच्छा है रात भर वहीं प्रपात के समीप ही कलकल निनाद सुनते रहें!

किन्तु "रात घनी होती जा रही है। आगे मील तो चार ही हैं पर रास्ता ख़तरनाक है। यहीं सिद्ध पर, बंगला में विश्राम कीजिये।" अपने पथ प्रदर्शक घोड़े वालों का कथन स्वीकार करना पड़ा है।

प्रभात होने से पूर्व ही हमें इस पान्थशाला को छोड़कर चल देना है। अब भी मेरी आंखों के सामने 'प्रताप पुस्तकालय' (श्रीनगर) में सुरक्षित वह सौ वर्ष पुरानी पुस्तक का पन्ना खुला पड़ा है, जहां से काशमीर उपत्यका के इस बृहत् प्रपात का वर्णन ही मुझे निमंत्रित कर लाया है।

× × ×

उजाला होने लगा है, साथियों के जागने से पूर्व ही दूर तक देख आई हूं। रात का भयावना सुनसान वन देवदारु के आकाश तक ऊंचे उठे वृक्षों में छिपे पक्षियों के मधुर संगीत से गूंज उठा है। घोसला वास्तव में दो कमरों की कोठी की शक्ल में परिवर्तित हो गया है। रजत अवगुण्ठनों के मध्य में से स्वर्ण रश्मियां फूट फूटकर मील भर के घेरे में उगे वन कुसुमों पर पड़ रही हैं। सामने ओस-बिन्दुओं से जगमगाते ऊंचे कद तक के पीले फूलों में खड़ी देवाङ्गना-सी एक सुन्दरी वन कन्या गौओं को आहाते से बाहर कर रही है। ऐसे अनुपम सौन्दर्य का आवेग मेरे भीतर न समाकर छलक उठा है। क़लम लेकर सुदूर कहीं किसी स्नेही तक मानों यह रस धारा उड़ेलना चाहती हूँ।...

१५ जुलाई, प्रभात

"कौंसिल नाग नामक झील की यात्रा कर रही हूं। मेरे साथ के०, अ०, सु०, इ०, ब्र०,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भा० हैं। इस समय बरामदे में बैठी सूर्योदय का......

"सामान तय्यार है ?" "घोड़े वालों ने मानों मेरे मुंह को चेतावनी देकर झटक दिया। दूर जाना है, स्थान स्थान पर छिटके सौन्दर्य को एक दृष्टि भर देख लेना ही पर्याप्त है।"

गुलमर्ग का तरह हरे भरे मैदानों और घने वृक्षों में से छनछन कर आती हुई प्रभात किरणों में से होते हुए एक ऐसे स्थान पर आ पहुंची हूं, जहां मार्ग दो ओर को विभक्त हो गया है। साथी जाने किस ओर को चले गये हैं। किससे पूछूं ? नितान्त अपरचित निस्तब्ध पथ मौन उत्तर देते हैं। मील भर तक एक ओर निराश लौट आने पर तनिक उतराई में दूसरी ओर को।

झर झर ! झर झर ! झर झर ! हा ! हा ! हा !

उल्लसित ध्वनियां, सुरम्य पवन में वन्य पल्लवों को दोलायमान करती हुई, मानों साक्षात् वन लक्ष्मी नृत्य कर कर रही हो।

निश्चय ही प्रपात उन्हों ने देख लिया है।

अहरबल प्रपात
दोपहर

राशि राशि अति स्वच्छ जल धाराएं नर्तन करती हुई ऊपर से आती हैं, पुनः मिलकर छोटी सी झील के आकार में हो जाती हैं और वह पूरी की पूरी झील लगभग सौ फुट से दोनों ओर के बृहत् चट्टानों के कपाट में से हो वेगपूर्वक गिर रही है। इसी कपाट पर बैठे बैठे इन चंचल तरंगों के आने जाने और विलीन होने का क्रम देख एक हलका व्यथित भाव उठ खड़ा हुआ है। किन्तु इसी क्रम में तो प्रभा का सौन्दर्य निहित है और मेरे चिर पिपासित नेत्र इस निरन्तर प्रवाह के आदि स्रोत की ओर लगे हैं। प्रपात की ध्वनि में, उसके बृहत् रूप में कुछ रौद्र भाव हैं। पर वह सामने शिला पर छाया में (जहां प्रपात के छींटे मानों पुनः ऊपर लौट आना चाहते हैं) एक सुन्दर पक्षी गम्भीर भाव में किसी असीम आनन्द का स्पर्श कर रहा है।

साथी वस्त्र उतार कर प्रवाह में कूद पड़े हैं। वेग अधिक है, मध्य में एक सूखे स्थान पर पहुंचने की उनकी चेष्टा बार बार विफल हो जाती है।...

दो शिलाओं को जोड़कर भोजन बनाने की व्यवस्था की है। यात्रा में जीवन का यह संक्षिप्त रूप कैसा सुहाता है ! धुएं से काली कुछ शिलाएं, सूखे फलों के कुछ छिलके कभी पूर्व इधर आने वाले पथिकों की कौतुक क्रीड़ाओं को प्रकट कर रहे हैं।

पहाड़ी लड़का जो सूखा ईंधन दे गया है—आश्चर्य है पैसे की अपेक्षा प्याज़ अथवा सब्ज़ी लेने को अधिक उत्सुक था ![1] घोड़े लगभग आधा मील ऊपर फूलों से आच्छादित वन में छोड़ दिये गये हैं। स्नान भोजन से निवृत हो हम पुनः चल देंगे।

कुंगवटन[2]

कल रात से भी अधिक तूफ़ान, रह रह कर वर्षा के झकोरे। कभी अन्धकार को चीरती विद्युत शिखा। दूर मीलों से आकर टकराता हुआ झंझा का स्वर।

साथियों को खाना अभी खिलाकर इस नये घोसले के बाहर कोने में गरम वस्त्रों में लिपटी बैठी हूं। इसी प्रकार एक वेगवान लहर अनायास ही—मानों सरोवर में उठ उठकर झकोर रही है। अन्तर के उफान अन्तर में ही घिरे रहने पर सुख पाते हैं, प्रकृति के महान उद्वेगों की नांई प्रतिक्षण उठने वाले अपरिमित चंचल भाव देख स्वयं ही वैचित्र्य से भर उठती हूं।...

और ये छाया से अङ्ग सङ्ग अतीत के क्षण, मानो दुहराते हुए चल चित्र की भांति—

अहरबल प्रपात से चलकर ऊंचे इधर को। नदी के शीतल जल से स्नात् अलसाया तन; वहीं

---

१ इन पहाड़ों की ऊंचाई यद्यपि अत्याधिक नहीं है, तो भी इधर न कोई बस्ती है और न किसी प्रकार की उपज—। जम्मू स्टेट की ओर से आए हुए कहीं कोई बिरले गूजर परिवार यहां मिल जाते हैं।

२ कुंगवटन की ऊँचाई साढ़े नौ हज़ार फुट के लगभग है। कुँग शब्द का अर्थ केसर है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अखरोटों और हरियाले वृत्तों की छांह में लेटेर हने को जी चाहता है। ऊपर जहां तक दृष्टि पहुंचती है, चोटियों तक रंग बिरंगे फूल ही फूल छाये हैं। नीचे अन्तर को स्पर्श करता हुआ नदी का धीमा संगीत... एक झपक में जैसे सुनती हूं—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै
नान्यस्तापा कुसुमशरजादिष्ट संयोग साध्यात्

किन्तु पथिक सोने का समय नहीं!

आगे बढ़कर उस पार दो पर्वतों के मध्य में से होती एक और वेगवान धारा इस नदी में आ मिली है।

"इस नदी का नाम ?"

"विश्व नदी"

"और वह सामने का नाला ?"

"गुरु बटन"

घोड़े वाला लाहौर तक हो आया है। हरा चश्मा लगाता है। काशमीरी भाषा में उत्तर न दे पंजाबी हिन्दी मिलाकर बोलने में, अपने अन्य साथियों की अपेक्षा गौरव समझता है।

देखती हूं दो मील आगे आकर जहां न कोई पन्थी है, न पक्षी की आवाज़, न नदी का साथ, केवल वन पुष्पों से दूर दूर छाये सौरभ में साथी वृक्षों से घोड़े बांध ढलान पर सोये हैं। उनके मुखों पर दोपहरी की क्लान्ति है।...

दो पुलों को पारकर इधर को विश्व नदी से विदा लेते हुए कुछ क्षोभ सा होता है। किन्तु यदि नदी में संगीत है, तो उससे हटकर इन जड़ी बूटियों भरे मैदान में गुंजरित मर्मर का भी कम महत्व नहीं। साथियों में से दो व्यक्ति घोड़ा दौड़ाकर आगे निकल गये और शेष बहुत पीछे। चढ़ाई तनिक अधिक हो चली है। मैंने भी घोड़ा ले लिया है। पहाड़ी पार कर अपने को अद्भुत स्थान में पाती हूं। छोटी छोटी पर्वत मालाओं से घिरा विस्तृत हरा मैदान, अन्तिम किरणें तरु शिखाओं पर दमक रही हैं। दूर कहीं धुआं निकलते दीखता है। घोड़ा सरपट चाल से मैदान में होकर एक झोपड़े तक पहुँचाना चाहता है, जहां द्वार पर एक नन्ही पर्वत कन्या निकल आई है। दो कुत्ते भोंकने लगे हैं। एक गाय कुछ कुपित भाव से, कुछ आश्चर्य से देखने लगी है, मानों उन्हें हमारा आगमन न सुहाया हो। उतर कर रासें थाम वहीं नीचे बैठ जाती हूं।

कुंगवटन का काल्पनिक चित्र, जिसका आभास नीचे सिद्धपुर तथा शुपइयां के लोगों ने दिया था, मिट मिटाकर इस मनोहारिणी उपत्यका में स्थित केवल इस सरकारी बंगले के रूप में रह गया है।

साथी सब ढूंढ़ भाल आये हैं। उनका कहना है आध मील पर एक जगह चीनी और चाय, दूध, मक्खन मिल सकता है। इतना क्या कम सन्तोष जनक है?

\+ × ×

तूफ़ान थम रहा है। हल्की बूंदें शेष रह गई हैं। कहीं कहीं क्षितिज में ज्योति फूटने के लक्षण हैं। न जाने किस समय वह अन्तर में उठी झंझा आज के दिन के सौन्दर्य-चिन्तन में स्वत: ही सान्त्वना पा गई है। और कहां से कहां तक पहुँच गई है...

वन देवी तेरे चरणों में मेरे प्राण अधीर...
...पंथ जोहते, नीड़ खोलते...

× × ×

१६ जुलाई

यात्रा का आज तीसरा दिन है। पान्थशाला से चलते तैयार होते भोर हो गई। कुछ पाथेय लेकर शेष सामान वाले घोड़े कुंगवटन में छोड़ दिये गये। लौटकर रात्रि में पुन: यहीं निवास करना है। पान्थ-शाला से आधा मील ऊपर चढ़ाई के बाद पुन: सघन वन! कुछ कुछ क़दमों के अन्तर पर हम सब हौले हौले मानों किसी शाही दरबार में से होकर गुज़र रहे हों। प्रतिक्षण उल्लास, उछल कूद प्रकट करने वाले साथी प्रत्यूष के इन पुण्य क्षणों में नितान्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मौन हैं; मानों वे अपने ही यौवन वसन्त की प्रतिच्छाया सर्वत्र बिखरी देख सस्मित हो उठे हैं। देवदारु के लाल, भूरे पुरातन तृणों ने मार्ग ऐसा स्निग्ध बना दिया है कि पदचाप भी सुनाई नहीं पड़ते और उनके रक्त वर्ण नव किसलयों से स्मरण हो आता है—

"भिन्त्वा सद्यः किशलयपुरान् देवदारुद्रुमाणां,..."

हरी छांह ही छांह ! कभी कहीं ऊपर से छनछन कर आती हुई निस्तेज प्रकाश की सुधा धारा, जाने किसी महामहिमामयी के अम्बर तक उठे कर पल्लवों से अर्घ्य रूप में स्खलित हिम प्रपात, उसके हास्य रूप में नव हरित पल्लवों से ढंके कल कल ध्वनित मधुर जल के स्रोत, कभी गहन शान्ति में नूपुरों से झरते वन फूल, कहीं तितलियों का उड़ता हुआ जोड़ा। किसी अदृश्य झाड़ी में से उठकर ऊपर को गुंजार भरती हुई कोई श्यामा ! और कभी एक मत्त पवन के झोंके का स्पर्श !

अरे ! यह सब आयोजन किसके निमित्त है ? यवनिका जैसे गिरती है। क्रमशः रहस्य खुलता जाता है।

नहीं ! अब पत्ती नहीं, वृक्ष नहीं, तितलियाँ और भौंरे भी नहीं, एक और ही साम्राज्य है। दोनों ओर नंगी पथरीली विस्तृत पर्वत श्रेणी के मध्य में, पितृ गृह से नई बिछुड़ी दुहिता—विश्वनदी।

छोटी छोटी झीलों अथवा प्रपातों के आकार में मुड़ मुड़कर पीछे देखती हुई मानों आगे न बढ़ना चाहती हो।

चढ़ाई कठिन हो रही है। पथ दीर्घ होता चला जा रहा है। कभी थमकर सांस लेने बैठ जाते हैं। साथी लम्बे डग रखते हुए मानों युग युग से इसी महापथ के राही ! आगे निकल गये हैं।

हैं ! ठीक वैसे ही मर्कत मणियों से जगमगाते हिम किरीट, जो उस दिन पांचाल शिखर के आरोहण के समय देखे थे, समीप होते आ रहे हैं।[1] मन उत्साह से भर उठता है। क्या वास्तव में हम उसी दिशा में जा रहे हैं ? और सत्य ही मेरी भुजाओं में उस पक्षी के डैनों सी शक्ति भर आई है क्या ?

"कुथे जासो ? सर ऊपर चले ओ"...[2]

अरे ! क्या मनुष्य की आवाज़ है ? इस मलिन वेश धारणी गुजरी का साथ मुझे सुहाने लगा है।

"हे पहाड़ी मुकसी ना ते पौंच रह सो।"[3]

कुछ क्षणों में ही उसने मुझे यक्ष किन्नर देवों के स्वप्न लोक से लाकर एक दम धरा पर पटक दिया है।

"तुसी लोक अकलमन्द ओ, बख़्तावर ओ, असी-लोक बेअक़ल, ग़रीब, ते जंगली आँ, असाँ की कोई दवा दस्सो ?"

उन्मुक्त वायु, जल, आकाश से निर्मित इस मनोमोहक प्रदेश विहारिणी के पीले दांतों, संग्रहणी से मारे कुरूप चेहरे और मलिन वस्त्रों पर एक अवहेला की दृष्टि डाल आगे निकल जाती हूं।

एक और गूजर परिवार झोपड़े से बाहर निकल आया है, इन पहाड़ी स्त्रियों की उत्सुकता भरी काली मोटी प्रखर आंखों के आगे देखने की हिम्मत नहीं होती।

एक दम नीचे उतर पर एक तेज़ धारा के पास सु० और छोटा साथी खड़े हैं। घोड़े धारा पार करना नहीं चाहते, पर सु० घुड़सवारी में प्रवीण है। धारा में पड़े एक लट्ठे पर चढ़ चाबुक ले किस फुरती से उसे पार छोड़ आई है, फिर दूसरे को भी और अब मेरे घोड़े को भी जो दूर से ही भय के कारण हिन-हिनाने लगा था पार लेजा रही है। मेरा पैर लट्ठे से फिसल गया और मैं बरफ़ीली धारा में बह चली।

१—श्री नगर से कौंसिल नाग के लिये प्रस्थान करते समय हमें तनिक भी इस दिशा में आने का भान न था।
२—कहां जाओगी क्या सर की ओर ?
३—यह पहाड़ी समाप्त होने पर पहुँच जाओगी।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सु० ...सु० ...पकड़ो...बचाओ—कठिनता से बच कर निकल पाई हूं। मुझे गीले वस्त्रों की अपेक्षा पर्स में पड़े कुछ नोटों की अधिक चिन्ता थी। जिन्हे सुखाते वेर सु० की हँसी रुकती नहीं और छोटा साथी सहम सा गया है। सु० को हँसने दो। फिर सवार हो जाओ। गीले वस्त्र स्वतः किसी समय सूख जाएंगे, यद्यपि किरणों में तनिक भी उष्णता प्रतीत नहीं होती।

अब हम उन्हीं नोकीली चोटियों के ऐन नीचे से होकर जा रहे हैं। वे मानों चारों ओर ऊंचे ऊंचे प्रपातों द्वारा विहंस कर हमारी अभ्यर्थना कर रही हैं। किन्तु विकट चढ़ाई को देख साहस नहीं होता। इन्हीं किरीटों से स्खलित, इन्हीं बृहत् प्रपातों के बीच में विस्तृत समतल पर पीत पुष्पों से ढँकी कई छोटी छोटी झीलें हैं।

"यह सत पुखरन है।"[1]

मुझे अवाक् खड़े देख घोड़े वाला स्वतः कह उठता है और मैं और भी आश्चर्य से भर उठती हूं। इससे पूर्व एक स्थान को इसने महीनाग कहा था।[2]

हिमालय के शिखर पर इस अतुल सौन्दर्य के मध्य में खड़े हो मुझे अनेक पुण्य तीर्थों से घुमाते हुए दृष्टि बङ्गाल के पोखरों तक ले गई है। और इन पहाड़ी लोगों के मुख से निकले यह सर, विश्व, सत पुखरन, मही आदि शब्द मिट्टी में चिरकाल से दबे नगीनों की भांति लगते हैं। वह कौन सी कड़ी थी, जिसने हमें बांध रखा था?

---

१ सत पुखरन का अर्थ है सात झीलें। बंगला में भी पोखर तालाब को कहते हैं।

२ कौसिंल नाग झील से जल की अनेक धाराएं पर्वत के भीतर से (underground) होकर आती हैं। इन्हीं धाराओं से मिलकर विश्व नदी का निर्माण हुआ है। इनमें एक धारा जहां दिखाई पड़ती है, उस स्थान को मही नाग कहते हैं। यहां का जल अत्यन्त मधुर है।

फिर रास्ता नहीं, मोज़े उतारो, चप्पल उतारो, घोड़े काम नहीं देते, प्रपात, झरने, सब मिलकर एक ही बृहत् मुख हो गये हैं। सत पुखरन की इन्हीं हिम धाराओं को पारकर आगे अल पत्थर[1] की सी सीधी चढ़ाई। दम फूल जाता है। सोचती हूं जल की धारायें एक साथ जहां चट्टानों में से उफन उफन-कर आ रही हैं, सम्भवतः विश्व नदी का यही उद्‌गम होगा। किन्तु नहीं। थोड़ा ऊपर जाकर पुनः अदृश्य।

साथी इस लाल फूलों से भरे कच्चे पहाड़ को लांघ कर ऊपर खड़े रूमाल हिला हिलाकर अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने का संकेत कर रहे हैं।...ओह! अन्तिम कपाट खुल गये। कुछ क्षण कोई बोलता नहीं, हंसता नहीं, स्तब्ध, निर्निमेष; मानों किसी भव्य सिंहासन के सम्मुख चकाचौंध से।

× × ×

कौंसिल नाग झील में[2]

दो बृहत् शिलाओं के सहारे साड़ी फैलाकर मैंने छत-सी बनाली है। ऐसा पुण्य पर्व जाने कब मिलेगा। झील के एक किनारे गले तक जल में उतराई हुई कभी पलकें खोलती हूं कभी मूंदती हूं। सामने तीनों ओर तिरछे नोकीले, उपमाहीन वर्ण लिये हिमपूरित किरीटों के मध्य में, मानों पांचाल का हृदय स्थल—अगाध, शान्त नील जल-राशि। पलक मूंदते ही पांचाल शिखर से लेकर गुलमर्ग तक विस्तृत शृङ्खला का भव्य स्वरूप छा जाता है। नाना वर्ण मेघ पुंजों से शोभित शिखरों पर, कहीं झीलों में तैरते हिम खण्ड, कहीं मीलों तक हरित दोशाले ओढ़े मनस्वी से देवदारु के वन। अगर, कपूर से सुवासित अनन्त स्रोत।

---

१ अल पत्थर भी बारह हज़ार फुट की ऊंचाई पर एक छोटी सुन्दर झील है।

२ कौंसिल नाग झील प्रायः एक मील से अधिक के घेरे में है। ऊंचाई लगभग १२,५०० फुट है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक ओर जिसके चरणों तले गहन गम्भीर चन्द्र भागा, दूसरी ओर वेरीनाग से प्रसूत वितस्ता, इधर विश्व नदी; चिट्टी नदी, निंगल, फ़िरोज़पुरी अनेक नदी नाले और न जाने कितने उल्लसित झरझर गुंजन लिये मंगल मय, मनोरम दृश्य।

बाल्यकाल की वह निर्ममता हट आज गिरिराज पांचाल के प्रति मेरा हृदय बार बार उमड़ तथा श्रद्धा से अवनत हो रहा है। रोम रोम में जिस असीम शान्ति का, जिस निखिल सौन्दर्य का स्पर्श कर रही हूं, वे पुण्य क्षण तो केवल अनुभव की ही वस्तु हैं।

नेत्र खोलती हूं – सर्वत्र नील जलद समूहों ने उतर कर उन किरीटों की निधि को हम मानवों से अदृश्य कर लिया है! पर यह और भी सुन्दर है!

अब बूंदें, ओले, गर्जन, सब कुछ अवछन्न।

कांपते बदन को गर्म वस्त्रों से ढांक उस ओर शरण चाहती हूँ, जहां एक मात्र निरापद बृहत् चट्टान तले साथी स्टोव जलाने का विफल प्रयास कर रहे हैं।

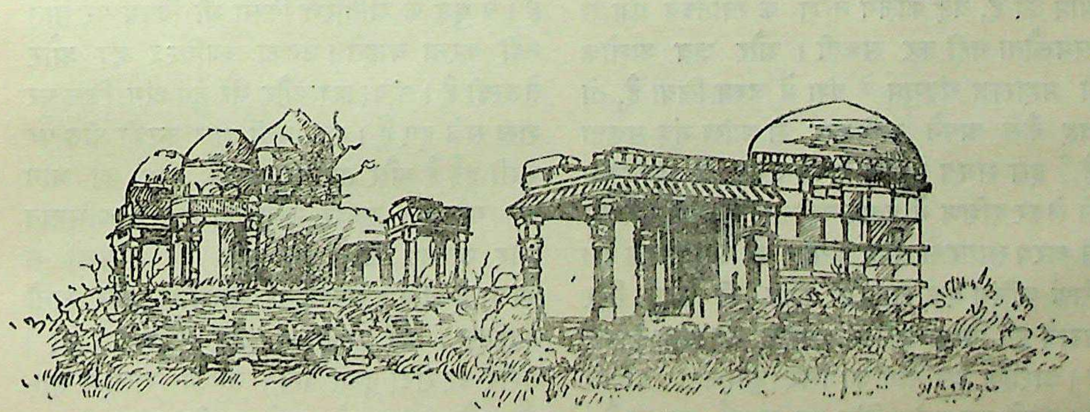

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एकांकी नाटक—

अशोक का शोक

डाक्टर रामकुमार वर्मा, एम. ए. पी-एच. डी.

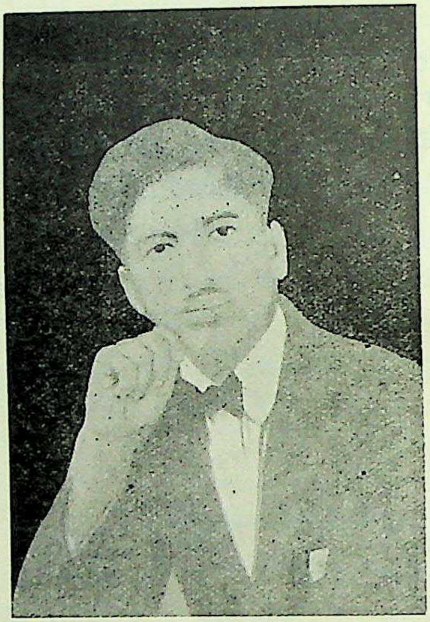

नाटक के पात्र

१ सम्राट अशोक—मगध के सम्राट
२ तिष्यरक्षिता—सम्राट अशोक की रानी
३ उपगुप्त—बौद्ध भिक्षु
४ चारुमित्रा
५ स्वयंप्रभा] तिष्यरक्षिता की परिचारिकाएं
६ राजुक—द्वार-रक्षक
७ पुष्य—शिविर-रक्षक
स्त्री, प्रहरी आदि
स्थान—कलिंग का शिविर
काल—ई० पू० २६१

[२६१ ई० पू० सम्राट अशोक ने अपने शासन के तेरहवें वर्ष में कलिंग पर चढ़ाई कर दी है। उसका कारण यह है कि कलिंग नरेश सम्राट अशोक की सत्ता स्वीकार करने में अपना अपमान समझता है। उसने भारत से बाहर भी अपने उपनिवेश स्थापित कर रक्खे हैं। सम्राट अशोक को यह सहन नहीं हो सकता। उसने उज्जैन और तक्षशिला में आत्माभिमान की जो दीक्षा प्राप्त की है, वह कलिंग नरेश के स्वातंत्र्य प्रेम से समझौता नहीं कर सकती। और जब अशोक ने महाराज चंद्रगुप्त के वंश में जन्म लिया है, तो वह कैसे अपने अधिकार से आंख मूंद सकता है? इस समय उसका राज्य उत्तर में हिन्दुकुश से लेकर दक्षिण में पेनार नदी तक है और पश्चिम में अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक है। सिर्फ़ कलिंग एक मतवाले नाग की तरह सिर उठाये हुए विषम दृष्टि से अशोक की ओर देखता है। अशोक उस नाग का सिर कुचलना चाहता है। उसने इस वर्ष कलिंग पर चढ़ाई कर दी है। उसकी सैन्य-शक्ति अपार है। पैदल घुड़सवार, रथ और हाथियों को उसने कलिंग की सीमा पर अड़ा दिया है। वे आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। सम्राट अशोक स्वयं सैन्य संचालन करते हैं। उनका शिविर उनकी सेनाओं के साथ है। वे युद्ध के अतिरिक्त किसी भी विषय पर बात नहीं करना चाहते। उनका व्यक्तित्व दृढ़ और तेजस्वी है। ऊंचा क़द और भरे हुए अंग, जिन पर शस्त्र सजे हुए हैं। एक बड़ी ढाल उनकी पीठ पर कसी हुई है और तलवार उनके हाथ का भाग बन गई है। सुन्दर मुखाकृति जिसमें अभिमान और उत्साह का चित्र शक्ति की रेखाओं से खिंचा हुआ है। मस्तक पर शिरत्राण और कानों में कुंडल। भौंहें मिली हुई और ओंठ कसे हुए। शरीर पर सटा हुआ वस्त्र। उनकी चाल में सतर्कता और दृढ़ता। वे अपने व्यक्तित्व के प्रभाव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से ही कुछ क्षणों तक विपक्षी को अप्रतिभ बना देते हैं। अपनी विजय को विपक्षी की मृत्यु की रेखाओं से ही गिनते हैं। वे दया के अनुकूल नहीं —क्रूरता के प्रतिकूल नहीं।

उनका शिविर इस समय गोदावरी तट पर है। दूर पानी के बहने और शिलाओं से टक्कर खाने की आवाज़ है। शिविर के चारों ओर लताओं और गुल्मों का जाल है। समस्त वातावरण में शांति और सौंदर्य है, जो कभी कभी किसी सैनिक की ललकार से या पक्षी के तीखे स्वर से भंग हो जाता है लेकिन फिर शान्त हो जाता है— जैसे एकाकी मार्ग में चलती हुई कोई स्त्री ठोकर खाने से चीख़ उठे, लेकिन फिर अपने मार्ग पर चलने लगे। शिविर के परदों पर शस्त्र त्रिकोण में या लंबी रेखाओं के रूप में सजे हुए हैं। जगह जगह पर युद्ध के वस्त्र टँगे हुए हैं।

इस समय शाम के छः बजे हैं। सम्राट् अशोक युद्ध से नहीं लौटे। उनकी रानी तिष्यरक्षिता इस शिविर में बैठी है। या तो सम्राट् अशोक ही महारानी तिष्यरक्षिता को अपने साथ युद्ध-कौशल का नमूना दिखलाने के लिए ले आये हैं, या सम्राट् का वियोग सहन न कर सकने के कारण या उनकी कुशल कामना करते हुए, उन्हें अपनी दृष्टि-पथ में रखने के लिये तिष्यरक्षिता ही सम्राट् अशोक के साथ चली आई हैं। इस समय वह अपने कक्ष में बैठी हुई चित्र बना रही है। शिविर के कक्ष में ऐश्वर्य बरस रहा है। स्तंभों में स्वर्णलताएँ लिपटी हैं, और उन पर रत्नों के फूल हैं, जो प्रकाश में ज्योति-मंडल बन जाते हैं। नीलम और मोतियों की झालरों से कक्ष की दीवालों पर समुद्र की फेनिल लहरों का आभास उत्पन्न किया गया है। पीछे एक महराब दिख रही है, जिसके दोनों ओर एक एक हाथी घुटने टेके हुए हैं। चारों ओर दीपस्तंभ हैं, जिनमें दीपक जल रहे हैं और उसी स्तंभ में फूल के आकार के पात्र से सुगंधि-धूम निकल रहा है। कक्ष के बीच में एक ऊंचा और सजा हुआ आसन है। उससे हटकर कोने की ओर चार छोटे छोटे कुर्सीनुमा आसन हैं। उन आसनों में से एक पर तिष्यरक्षिता बैठी हुई है। उसके सामने चित्रफलक पर एक अधबनी तस्वीर है, जिसमें प्रकृति का सौंदर्य अपनी पूर्णता को लिये तिष्यरक्षिता की तूलिका में से उतर रहा है।

कमरे में निस्तब्धता है। तिष्यरक्षिता चित्र बनाने में लीन है। रुक कर एक ही स्थान पर खड़ी रह कर वह भिन्न भिन्न कोणों से चित्र की ओर देख रही है। दो क्षणों तक चित्र देखने के बाद, वह अपनी तूलिका से दीपस्तंभ के पात्र पर शब्द करती है। एक परिचारिका प्रवेश कर दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करती है।]

तिष्य०—चारु! देख यह चित्र कितना अच्छा बन रहा है!

चारु०—बहुत अच्छा महारानी जी।

तिष्य०—चारु, मैंने चाहा कि इसी जगह की प्रकृति का चित्र बना लूं। यहाँ रहते रहते ये पेड़, ये झुरमुट, ये फूल, मुझे बहुत अच्छे लगने लगे हैं। लता खिलती है तो मालूम होता है जैसे उसके सुहाग के दिन आए हैं। और गोदावरी तो ऐसे बहती है, जैसे किसी के छूने पर उसे रोमांच हो आया है। तुझे भी तो यह जगह अच्छी लगती होगी!

चारु०—हाँ महारानी जी, मुझे बहुत अच्छी लगती है।

तिष्य०—तब तो यह युद्ध समाप्त हो जाने दे। फिर तेरा विवाह इसी जगह रचाऊँगी। इन्हीं पेड़ों के नीचे मंडप होगा और इन्हीं फूलों से तेरी माँग भरूँगी।

चारु०—महारानी जी, आपका चित्र बहुत अच्छा बना है।

तिष्य०—तू अपने विवाह की बात इस तरह उड़ा देना चाहती है? इसी चित्र में तेरे विवाह का भी चित्र होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चारु०—महारानी जी, आप अपनी तूलिका को कष्ट न दें। आपकी कला हम लोगों के लिए बहुत ऊँची है।

तिष्य०—तू बहुत मीठी बातें करती है चारु, लेकिन मेरी कला जीवन के हर एक चित्र को अपना अंग समझती है। यही दृश्य देख—कितना साधारण है पर मुझे तो बहुत प्रिय है।

चारु०—यह तो यहीं पास के कुंज का चित्र है।

तिष्य०—हां, चारु, मैं कल वहाँ गई थी महाराज के साथ। वे न जाने कैसे हो गए हैं! सब समय युद्ध की बातें करते हैं। तेरे कलिंग देश पर जब से उन्होंने चढ़ाई कर दी है तब से तो उन्होंने सारा राज्य कार्य महामात्रों पर ही छोड़ रक्खा है। आज दो वर्ष पूरे होने जा रहे हैं और कलिंग पर उनका क्रोध वैसा ही बना हुआ है।

चारु०—यह मेरे देश का दुर्भाग्य है।

तिष्य०—मैं चाहती हूँ चारु कि यह लड़ाई शीघ्र ही समाप्त हो जाय। सच मान, यह युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। हमारे सुख और शांति के जीवन में जहाँ हंसी का फूल खिलना चाहिए वहाँ आह और कराह काँटे की तरह चुभ जाती है।

चारु०—महारानी जी, लड़ाई में यही आह और कराह तो तलवार का संगीत बनती है।

तिष्य०—अच्छा चारु, यह बता तू ने कभी लड़ाई लड़ी है?

चारु०—नहीं महारानी जी!

तिष्य०—तू लड़ाई जानती ही नहीं किसे कहते हैं? जीवन भी तो एक लड़ाई है। पुरुष की स्त्री से लड़ाई स्त्री की पुरुष से लड़ाई। स्त्री-पुरुष की पुरुष-स्त्री से लड़ाई! तू ने कभी लड़ाई लड़ी ही नहीं?

चारु०—नहीं महारानी जी।

तिष्य०—विवाह होने से पहले इसका अभ्यास ज़रूर कर ले!

चारु०—जी, महारानी जी।

तिष्य०—और चारु, मैं भी महाराज से लड़ना चाहती हूँ। वे यह युद्ध बंद कर दें। मुझे यह अच्छा नहीं लगता। कितने वीरों का रोज़ ख़ून होता है। आज जिन वीरों से देश की उन्नति होती, वही व्यर्थ मर रहे हैं—जो वीर मिट्टी छूकर सोना बनाते, वही आज मिट्टी हो रहे हैं!

चारु०—सच है महारानी जी।

तिष्य०—लेकिन कलिंग के लोग लड़ना भी अच्छी तरह से जानते हैं, नहीं तो मगध की सेना के सामने कौन टिक सकता है? दो वर्षों से तो यह लड़ाई चल रही है।

चारु०—अभी बहुत वर्षों तक चलेगी महारानी जी!

तिष्य०—[आवेश से] क्या क्या चारु, तू महाराज की शक्ति का अपमान करती है!

चारु०—महारानी जी, क्षमा कीजिए इसमें महाराज की शक्ति का अपमान है। मेरे कलिंग के लोग वीर हैं। वे माता की तरह अपनी भूमि का आदर करते हैं। जब तक एक भी वीर है, तब तक तो कलिंग की जय का घोष वायु को सहन करना ही होगा!

तिष्य०—तू विद्रोह की बातें करती है चारु।

चारु०—महारानी जी, मैं विद्रोह की बातें नहीं करती, मैं अपने देश के गौरव की बातें कह रही हूं।

तिष्य०—तब तो तू महाराज के साथ विश्वासघात कर सकती है!

चारु०—महारानी जी, मैंने महाराज अशोक की सेवा उस समय से की है, जब उनका राज्याभिषेक भी नहीं हुआ था। आपके चरणों की छाया में मैं बड़ी हुई हूँ। जब मैं महाराज की सेवा में कलिंग से आई थी, तब तो युद्ध की बात ही नहीं थी। आज मेरा देश कलिंग संकट में है, तो महारानी जी, मुझे उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आज्ञा भी नहीं मिलेगी?

तिष्य०—चारु, तुझे पूरी आज्ञा है किन्तु मैं महाराज का अपमान सहन नहीं कर सकती!

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चारु०—संसार में उनका अपमान करने की क्षमता किसी में नहीं है महारानी जी। और मैं तो उनकी आजन्म सेविका हूँ।

तिष्य०—लेकिन जब से कलिंग युद्ध हुआ है, तब से मैं महारानी होकर भी तुझ से डरती हूं।

चारु०—महारानी जी, आप मुझे आत्महत्या की ओर प्रेरित करती हैं।

तिष्य०—[हँस कर] मैं तो तुझसे हँसी कर रही थी चारु, तू भी कभी हमसे विश्वासघात कर सकती है?...चारू, मुझे प्यास लग रही है।

चारु०—जो आज्ञा [कोने से पात्र भरकर देती है दो घूंट पीकर] लेकिन चारु, यह युद्ध मुझे नहीं चाहिए। कितने दिनों से इस शिविर में रहते हुए जैसे मेरा सुख सपना बनता जा रहा है। यदि महाराज का वियोग सहन कर सकती, तो चारु मैं पाटलीपुत्र से कलिंग के इस शिविर में न आती! रात्रि में युद्ध की समाप्ति पर उनके दर्शन कर लेती हूँ तो जैसे वृद्धा से युवती बन जाती हूँ। आज कहूँगी कि वे कलिंग का युद्ध बंद कर दें। वीरों को स्वतंत्र साँस लेने देना भी तो दया की क्रूरता पर विजय है। मुझे तो इस विजय पर ही संतोष है।

चारु०—आप देवी हैं!

तिष्य०—फिर बतला क्या उपाय करूँ चारु, महाराज तक्षशिला में रह कर बड़े क्रूर बन गए हैं। कहते हैं पूज्य पितामह, जिन्होंने निकेटार सिल्यूकस की प्रचंड सेना का नाश कर दिया था, जिन्होंने अलक्षेंद्र के राज्य की दिशा बदल दी थी, तक्षशिला के ही तो विद्यार्थी थे। पितामह के योग्य पौत्र बनने का आदर्श जो है उनके सामने।

चारु०—हाँ महारानी, जी।

तिष्य०—अच्छा चारु, आज महाराज से एक बात पूछूंगी कि आपके पूज्य पितामह ने तो सेल्यूकस पर विजय पाकर उनकी सुन्दरी कन्या पर भी विजय पाई थी। क्या आपकी विजय में भी किसी......

चारु०—महारानी जी, क्षमा करें। कलिंग देश वीरों का देश है, कन्याओं का नहीं!

तिष्य०—क्या कलिंग देश में कन्याएँ होती ही नहीं? चारु, तू तो अपने देश की तारीफ़ करते करते ऊबती नहीं। महाराज की तारीफ़ क्यों नहीं करती जिन्होंने कलिंग से युद्ध होने पर भी कलिंग देश की सेविका को अपने देश से नहीं निकाला?

चारु०—महारानी जी, महाराज अशोक सम्राट् हैं। मेरे यहां रहने से उनका क्या बनता-बिगड़ता है।

तिष्य०—आचार्य चाणक्य ने शत्रु के विषय में क्या कहा है, जानती है? कहा है—शत्रु कभी छोटा नहीं होता।

चारु०—महारानी जी, मैं अपने पद से अलग होने की आज्ञा चाहती हूं।

तिष्य० [हंस कर]—बस, बुरा मान गई! बात बात पर आज्ञा चाहती है। अरे तू सेविका होकर भी मेरी सखी है। अच्छा देख, मेरा चित्र और ध्यान से देख!

चारु० [ध्यान से देखते हुए]—महारानी जी। आपने तो टूटे हुए वृक्ष बनाए हैं और और उनमें लाल रंग भर दिया है।

तिष्य०—बतला इसमें क्या रहस्य है?

चारु०—मैं चित्रकला नहीं जानती महारानी जी।

तिष्य०—अरे, यह तो साधारण समझ की बात है। यह चित्र मैं महाराज को दिखलाना चाहती हूं—उनसे कहूँगी देखिए आपने कलिंग के वीरों को तो ख़ून से नहला ही दिया है। अब आपकी तलवार इन बेचारे वृक्षों पर भी पड़ी है और उनकी शाखों और टहनियों से यह रक्त निकल रहा है।

चारु०—महारानी जी, आपकी बात की थाह नहीं ली जा सकती।

तिष्य०—चारु!

चारु०—महारानी जी!

तिष्य०—महाराज अभी नहीं आए?

चारु०—नहीं महारानी जी!

तिष्य०—देख यह गोदावरी का सुरम्य तट, ये पानी की लहरें जैसे सौंदर्य की मालाएँ हों जो आप से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आप गुंथ कर बड़ी होती है और तट पर किसी का हृदय न पाकर टूट जाती हैं !

चारु०—हां, महारानी जी ।

तिष्य०—और ये जो पक्षी उड़ते चले जा रहे हैं जैसे प्रेम की ग्रंथियाँ हैं, जिन्होंने आकाश में उड़ना सीख लिया है। अच्छा सुन, यह समस्त वातावरण तेरा नाच देखना चाहता है। तू नाच सकेगी ?

चारु०—जो आज्ञा महारानी जी !

तिष्य०—जा जल्दी पैर में संगीत भर ला । [जाती है । तिष्या थोड़ी देर प्रकृति की ओर देखती है, फिर अपने चित्र के पास आकर तूलिका उठाती है और धीरे धीरे उसमें रंग भरने लगती है । धीरे धीरे गाती जाती है—

अली, पहिचान गया कलि को !

[चारु पैर में नूपुर पहनकर आती है और तिष्य के सामने खड़ी होती है ।]

चारु०—आज्ञा है ?

तिष्य०—मेरी, और उस कली की भी जो नाच के साथ खिलना चाहती है ।

चारु० प्रणाम कर नृत्य करती है। कुछ समय तक नृत्य होता है । तिष्य तन्मय होकर देखती है, कभी बीच बीच में प्रशंसा करती जाती है; अकस्मात् महाराज अशोक की जय का घोष; नृत्य रुक जाता है। तिष्य चारु को देखती है और चारु तिष्य को।

महाराज अशोक की जय ! सम्राट अशोक की जय ।

[शीघ्रता से एक परिचारिका का प्रवेश]

परि०—महारानी जी, महाराज शिविर में लौट रहे हैं। [जाती है ।]

चारु०—महारानी जी, अब क्या होगा ?

तिष्य०—कुछ नहीं। तू अपने नूपुर उतार दे ।

चारु०—[सिर हिलाकर] जो आज्ञा । [बैठकर नूपुर उतारने लगती है। एक पैर का नूपुर उतर जाता है, लेकिन दूसरे पैर का नूपुर उतारने में उलझ जाता है और प्रयत्न करने पर भी नहीं उतरता है । इतने में ही जयघोष के साथ महाराज अशोक का प्रवेश । तिष्य और चारु प्रणाम करती हैं। अशोक अभयमुद्रा में हाथ बढ़ा देते हैं।]

अशोक—विजय देवी, आज युद्ध में फिर विजय ! ओह, तुम्हारी मंगल कामनाओं में कितनी शक्ति है ! विजय, विजय, विजय ! [हाथ उठाता है ।]

तिष्य०—महाराज की विजय हो !

चारु०—महाराजाधिराज की विजय हो !

अशोक—देवी, शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक थी। हाथी और घोड़े जैसे दुर्भाग्य की तरह अड़े हुए थे, लेकिन तुम्हारी मंगल कामना ने मुझे और मेरे वीरों को ऐसी शक्ति दी कि वे सूखे पत्तों की तरह बिखर कर चूर हो गए। मेरी शक्ति के पीछे देवी, तुम्हारी मंगल कामना है। चारुमित्रा, देवी पर पुष्प वर्षा हो !

[चारुमित्रा आगे बढ़ने के लिये पैर उठाती है कि उसके पैर का नूपुर शब्द कर उठता है ।]

अशोक—[चारु के पैरों पर दृष्टि गड़ाकर] अरे यह क्या नृत्य ! संग्राम भूमि में रंगभूमि ! [प्रश्न-सूचक मुद्रा में चारु ?]

चारु०—महाराज, क्षमा चाहती हूँ ।

अशोक—मेरी युद्धभूमि में केवल भैरवी का नृत्य हो सकता है, चारुमित्रा का नहीं ।

चारु०—महाराज........

अशोक— और उस भैरवी नृत्य में तलवारों का संगीत होगा, नूपुरों का नहीं !

चारु०—महाराज.......

अशोक—मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा, तुझे क्या पुरस्कार चाहिए ! रत्नों का हार, मोती की माला ?

चारु० —मुझे दंड दीजिये महाराज !

अशोक—मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा, तुझे दंड ही मिलेगा । तू इस नीति से मुझे युद्ध करने से रोकना चाहती है ! स्त्री ! कलिंग से उत्पन्न शरीर कलिंग का ही साथ देगा ! विश्वासघातिनी ! चारुमित्रा !! (पुकार कर) राजुक !

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

[राजुक का प्रवेश]

अशोक—राजुक, चारुमित्रा जलते हुए अंगारों पर नाचना चाहती है ! आग तैयार हो !

रा०—जो आज्ञा ! [प्रणाम कर प्रस्थान।]

अशोक—चारुमित्रा, दूसरे पैर में भी नूपुर पहन ले। एक पैर से पूरी ध्वनि नहीं निकलेगी। दूसरा पैर नूपुरों की प्रतीक्षा में है।

[चारु—दूसरे पैर में भी नूपुर पहनने के लिए झुकती है।]

तिष्य०—महाराज !

अशोक—देवी !

तिष्य०—महाराज, चारु का दोष नहीं है।

अशोक—देवी, चारु का दोष नहीं है ? यह कैसी बात कहती हो ? कलिंग के शरीर में कलिंग की आत्मा का मगध के साथ क्या व्यवहार हो सकता है ? चारु जानती है कि मेरे क्रोध में उसका देश जल रहा है। वह मेरे क्रोध की ज्वाला को शांत करने के लिये अपने संगीत और नृत्य का प्रयोग करना चाहती है। मुझे नहीं सुना सकती तो तुम्हें सुना कर तुम्हारे द्वारा मुझ में कोमलता का संचार करना चाहती है। मैं देख रहा हूँ तुम्हारे स्वभाव को भी उसने दया से भर दिया है।

तिष्य०—महाराज, दया करना तो स्त्री का स्वाभाविक अधिकार है। चारु मुझे क्या दया से भर सकती है। किन्तु महाराज, चारु निरपराध है। आपके वियोग के क्षणों को काटने का यह मेरा साधारण उपाय था। मैंने ही चारु को आज्ञा दी थी कि वह नृत्य करे।

अशोक—तुमने आज्ञा दी थी ?

तिष्य०—हाँ, महाराज, युद्ध के भयानक क्षणों में स्त्री के एकाकी हृदय को कौनसा सहारा है ? संगीत नृत्य, चित्रकला ! यही तो !

अशोक—चारु, अपनी ओर से नृत्य करने नहीं आई ?

तिष्य०—नहीं महाराज ! उसे क्षमा कीजिये !

अशोक—अच्छा, अशोक ने किसी को भी अपराध करने पर क्षमा नहीं किया, किंतु इस समय क्षमा करता हूँ। [चारु की ओर देखकर] चारु, तुम्हें क्षमा करता हूँ। अच्छा हो कि तुम्हारा नृत्य भैरवी-नृत्य बनकर मगध की विजय के लिए युद्ध में हो। और यदि ऐसा न कर सको तो फिर यह नृत्य अपने कलिंग के कटते हुए वीरों के रुण्डों और मुंडों के लिए रहने दो। [पुकार कर] राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक—आग तैयार हो गई ?

रा०—जी।

अशोक—उस आग से उन कायरों को शीतल करो जो आज युद्ध भूमि से पीछे हटे हैं।

रा०—जो आज्ञा। [जाता है]।

अशोक—और सुनो—यह मत सुनना कि वे संचालन कौशल से सावधानी के साथ पीछे हटे। युद्धभूमि के अतिरिक्त प्रत्येक भूमि वीरों के लिये कलंक-भूमि है।

रा०—जो आज्ञा !

[जाता है]

अशोक—चारु, जा, इन संगीत भरे पैरों को विश्राम की आवश्यकता है।

चारु०—प्रणाम कर—[सिर झुकाकर जाती है।]

अशोक—देवी, कलिंग से युद्ध करते समय मुझे ज्ञात होता था जैसे पाटलीपुत्र की शक्ति से एक प्रलय उत्पन्न हुआ है, जो कलिंग को खून के समुद्र में डुबाना चाहता है। तक्षशिला, गान्धार, उज्जैन और तोशाली के बड़े बड़े वीर मेरी घूमती हुई दृष्टि की दिशा में ही अपनी तलवार घुमाते थे। सेना की एक एक टुकड़ी पानी की लहर की तरह बढ़ती और धीरे धीरे बड़ी होकर शत्रुओं की तलवार से टकराती थी। वे तलवार भी नहीं घुमा सकते थे। उस समय मुझे तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरी ललकार भी एक तलवार थी, जिसके सामने घूमा हुआ हथियार भी लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता था।

तिष्य०—महाराज इतना रक्तपात······

अशोक—मैंने अपनी सेना का अर्धव्यूह बनाकर आक्रमण किया था। शत्रु सोचते थे जैसे सहस्रों धूम-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

केतु एक विशेष आकार में कसे हुए मौत की आग लेकर आ रहे हैं। न जाने कितने शत्रु हाथियों के पैरों से पिस गये—सैकड़ों घोड़ों के पैरों में उलझ-कर ख़ून से लथपथ हो गए। मालूम होता था ख़ून का नाला महानदी में मिलने के लिए जा रहा है।

तिष्य०—महाराज, इतना भयानक युद्ध!

अशोक—मुझ पर भी एक वीर ने तलवार चलाई! मैंने तक्षक की तरह अपना सिर बचा लिया। उसकी तलवार वायुमंडल में ख़ाली चक्र बनाकर रह गई। अपने निष्फल हुए आक्रमण के वेग से वह मुड़ गया। उसके मुड़ते मैंने अपने तलवार की नोक उसकी पसलियों में घुसेड़ दी। उसकी ललकार आह में बदलकर ख़ून में डूब गई। वह टूटे हुए पेड़ की तरह ज़मीन पर बेल बनकर गिर पड़ा।

तिष्य०—महाराज आपका युद्ध-कौशल भया-नक है!

अशोक—फिर मैं मरे हुए घोड़े की पीठ से पैर टेक कर लड़ता रहा। शत्रुओं के नायक वीर भद्र की तलवार जैसे ही आगे गिरने के लिए अर्धचंद्र बना रही थी वैसे ही मैंने झुक कर कक्ष भाग से कंधे पर ऐसा वार किया कि उसकी तलवार अपने वेग में भुजा समेत उड़ कर एक हाथी की पीठ में घुस गई। हाथी शत्रु-पक्ष को कुचलता हुआ भाग खड़ा हुआ। उसी वक़्त सेना के पैर उखड़ गये और आज की विजय ने देवी, तुम्हारे गले में माला पहिना दी!

तिष्य०—महाराज बहुत भयानक युद्ध है। अब सहन नहीं हो सकता।

अशोक—देवी, तुम बहुत कोमल हृदय हो। यह युद्ध तुम्हारे लिए नहीं है। इसीलिए तो मैं चाहता था कि तुम पाटलीपुत्र ही में रहो। किन्तु तुम्हारा ही अनुरोध मुझे विवश कर सका कि तुम्हें साथ ले आया।

तिष्य०—महाराज यदि मैं एक अनुरोध और करूं।

अशोक—क्या!

तिष्य०—यह युद्ध रोक दीजिए!

अशोक—यह क्या कह रही हो देवी? युद्ध का रुक जाना पाटलीपुत्र की उन्नति का रुक जाना है। किसी भी साम्राज्य की सीमा तलवार से ही खींची जाती है और सीमा को स्थायी रखने के लिये उस रेखा में रक्त का रंग भरा जाता है! [कक्ष में दृष्टि डालता है। चित्रफलक पर दृष्टि डाल कर] अच्छा, यह तुमने बड़ा सुंदर चित्र बनाया है!

तिष्य०—हाँ, महाराज, आपको पसंद है?

अशोक—बहुत सुन्दर है। यह तो उस कुंज का है, जहाँ बैठकर मैंने युद्ध का कार्यक्रम बनाया था।

तिष्य०—हाँ महाराज, मैं भी साथ थी।

अशोक—तो ये वृक्ष टूटे हुए क्यों दिखाये गये हैं?

तिष्य०—महाराज युद्ध की तेज़ी में आपकी तलवार शत्रुओं पर पड़ने के साथ ही इन वृक्षों पर भी पड़ी है। वे भी बेचारे कट गये हैं। और उनसे रक्त निकल रहा है।

अशोक—तो रक्त के स्थान पर लाल रङ्ग की क्या आवश्यकता! सच्चा रक्त भरो इनमें। वह तो बहुत मिल सकता है। मैंने कितने ख़ूनों की शारीरिक सीमा नष्ट कर उन्हें पृथ्वी पर बहने में पूर्ण स्वतंत्रता दी है। वहीं से रक्त लो।

तिष्य०—महाराज, मेरा हृदय काँप रहा है इस युद्ध की भयानकता से। आप क्यों इतने वीरों के रक्त से राज्यश्री को अग्नि-का रूप देना चाहते हैं!

अशोक—देवी, अग्नि में तप कर ही कोई वस्तु पवित्र होती है! आज मेरी तलवार में शक्ति है। उसका अधिक से अधिक उपयोग होने दो।

तिष्य०—जैसी महाराज की इच्छा लेकिन मुझे बहुत दुःख है इस क्रूरता पर महाराज [सिर झुका लेती है]।

अशोक—[मनाते हुए] तुम दुःखी हो देवी? नहीं दुखी होने की क्या बात। तुम तो दया की देवी हो। तुम्हें तो किसी के दुःख से भी दुःख होने लगता है। मैं यथाशक्ति तुम्हारे सद्भावों की रक्षा तो करता हूं। देखो देवी आज तुम्हारी दया की ढाल ने मेरे दंड के कृपाण को ख़ूब रोका......

अशोक—देवी, तुम्हारी दया की ढाल ने मेरे दंड के कृपाण को ख़ूब रोका!

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तिष्य०—महाराज, चारु निरपराध थी।

अशोक—रणभूमि की दृष्टि से, या रंगभूमि की की दृष्टि से?

तिष्य०—महाराज वह सेविका है, आपके चरणों की छाया ही में वह कृपा के जल से बड़ी हुई है।

अशोक—किन्तु आवश्यकता से अधिक बढ़ने पर उसे काटने छाँटने की आवश्यकता होगी। देवी, मैं अपने शिविर में शत्रु-पक्ष के किसी व्यक्ति को अब रहने की आज्ञा नहीं दे सकता।

तिष्य०—किन्तु अब वह शत्रु-पक्ष की कहाँ है महाराज! वह तो उस समय से आपकी सेविका है, जब कलिंग से युद्ध भी नहीं हुआ था।

अशोक—किन्तु कृपा की दृष्टि राजनीति की दृष्टि नहीं होती देवी! आज युद्ध से लौटते समय मैंने चारु के संबंध में विचार किया था।

तिष्य०—युद्ध से लौटते समय!

अशोक—हाँ, युद्ध से लौटते समय कलिंग के कुछ व्यक्ति मुझे प्रणाम कर रहे थे, मुझे उनके प्रणाम में चारु का प्रणाम दीख पड़ा। यदि इस समय चारु नृत्य न भी करती तो भी मैं उसे दंडित तो करता ही!

तिष्य०—किन्तु वह बेचारी!

अशोक—राजनीति तिष्यरक्षिता नहीं है देवी, जो दया से तरल हो जावे। लेकिन आज तुम्हारे कहने से मैंने राजनीति को स्त्री का हृदय बना दिया।

तिष्य०—महाराज, आपकी कृपा। आप विश्राम कीजिये!

अशोक—देवी, मुझे विश्राम! पितामह चंद्रगुप्त ने २४ वर्ष के शासन में कितना विश्राम लिया! तक्षशिला से मगध तक पृथ्वी का प्रत्येक कण उनकी आहट सुनकर काँपता था। बहुत से छोटे छोटे राज्यों को एक संघ में गूंथकर उन्होंने अपनी राज्यश्री को विजयमाल पहनाई थी। सेल्यूकस निकेटर से उन्होंने गाँधार और सीमाप्रांत लेकर आर्यावर्त के मुकुट में कुछ रत्न और जड़ दिये थे। मैं उन्हीं की सन्तान हूँ देवी। विश्राम के लंबे क्षणों में राज्यसीमा संकुचित हो जाती है।

तिष्य०—ठीक है महाराज, पर कलिंग युद्ध ने आपको बहुत उत्तेजित कर दिया है!

अशोक—कलिंग अपने को सम्राट् मानता है। वह पाटलीपुत्र का आधिपत्य नहीं मानता! सुमात्रा और जावा में उसने अपने उपनिवेश स्थापित कर रक्खे हैं। जलयानों में विहार करता है और समझता है कि वह आर्यावर्त्त का सम्राट् है। तिष्या, वह मेरे शासन के मार्ग को एक स्तूप बनकर रोकना चाहता है। मैं आचार्य उपगुप्त के उपदेशों की भाँति उसे भी ठोकर मार देना चाहता हूं।

तिष्य०—महाराज आचार्य उपगुप्त में और कलिंग में समानता नहीं हो सकती।

अशोक—क्यों नहीं! आचार्य उपगुप्त बौद्ध धर्म के सबसे बड़े नेता हैं, कलिंग विद्रोहियों का सबसे बड़ा नेता है। मैं बौद्ध धर्म और कलिंग दोनों का नाश करूंगा।

तिष्य०—क्षमा, दया, करुणा, महाराज! आचार्य उपगुप्त कल यहाँ आए थे। उन्होंने कलिंग के भीषण रक्तपात को देखकर कहा था कि बुद्धि का अक्षय कोष मनुष्य थोड़ी-सी भूमि के लिये मनुष्यत्व को मिट्टी में मिला देना चाहता है। कलिंग के संबंध में कहा था कि अहंकार का फल यही हुआ है और होगा।

अशोक—यह व्यंग्य मुझ पर किया गया है देवी!

तिष्य०—महाराज उनके कथन में भी सत्य है। क्या अहंकार का नाश नहीं होना चाहिये?

अशोक—अहंकार और राज्य धर्म में अंतर है। राज्य धर्म पाटलीपुत्र का अधिकार है और अहंकार कलिंग की वृत्ति है। उसे अपनी सेना का अहंकार है। उसके पास साठ हज़ार पैदल, सात सौ हाथी और एक हज़ार घुड़सवार हैं। समझता है कि वह इंद्र का वंशज है। मैं अपनी सेना के हाथों से उसके अहंकार के पौधे को उखाड़ फेकूंगा तिष्या!

तिष्य०—कितनों का रक्त बहेगा महाराज!

अशोक—उसमें आर्यावर्त्त को नहलाकर पवित्र करना चाहता हूँ देवी!

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

[नैपथ्य में भयानक तुमुल ! किसी स्त्री का क्रन्दन स्वर—अशोक का नाश हो...अशोक का सर्वनाश हो !! प्रहरी का स्वर—पुष्य—मार डालो इसे भी !]

तिष्य०—[कान बन्द कर क्रन्दन स्वर में] नहीं, महाराज ! [अशोक के वक्षस्थल में छिप जाती है। अशोक ज़ोर से आवाज़ देता है] नहीं। [फिर उसकी पीठ पर हाथ फेर कर] शान्त हो ! शान्त हो—मैं अभी देखता हूँ। [अशोक तिष्य को सम्हाल कर आसन पर बिठलाता है, फिर शिविर की खिड़की से देखता हुआ] पुष्य, इस स्त्री को मेरे शिविर में भेजो।

[तिष्य अपने दोनों हाथों से नेत्र बंद किये हुए है। अशोक तिष्य के दोनों हाथों को आँखों से हटा अपने हाथों में लेता है।]

अशोक—देवी, मैं अभी देखता हूं कौन है !

तिष्य०—महाराज, मैं आपका अमंगल नहीं सुन सकती। [आकाश की ओर देखते हुए] महाराज का मंगल हो, महाराज का मंगल हो, महाराज का मंगल हो।

अशोक—कोई स्त्री है, गोद में एक बच्चे को लिए हुए है !

तिष्य०—मैं पूछूंगी वह कौन है—वह क्यों ऐसी अशुभ बात मुंह से निकालती है ?

अशोक—अवश्य—तुम्हीं पूछो। मैं शस्त्र बदलने जाता हूँ। [जाता है]

[प्रहरी एक स्त्री को लेकर आता है। तिष्य के संकेत से प्रहरी हट जाता है। वह स्त्री लगभग २५ वर्ष की होगी। उसके बाल और वस्त्र अस्त व्यस्त हैं। वह अपने बच्चे को गोद में लिए हुए है। उसकी मुद्रा पागल स्त्री की तरह है।]

तिष्य०—आओ, आओ, देवी, तुम कौन हो ?

स्त्री०—[विस्फारित नेत्रों से एक बार ही फूट कर] ओह, रानी ! अशोक का सर्वनाश हो—अशोक का सर्वनाश हो...मुझे भी मार डालो, मुझे भी मार डालो।

तिष्य०—ठहरो ठहरो, तुम महाराज के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकतीं। चुप रहो। क्या चाहती हो ?

स्त्री०—मैं क्या चाहती हूं ! मेरे बच्चे के टुकड़े टुकड़े कर डालो। यह अभी मरा नहीं है। [पुत्र की ओर देखकर] लाल, अभी तुम मरे नहीं हो। ये लोग तुम्हारे टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे, तब तुम मरोगे। तब तक कुछ तो बोलो—बोलो मेरे लाल ! [अपने बच्चे को अपने हाथों ही में झकझोरती है।]

[अशोक का प्रवेश। वह दूर चुपचाप इस तरह खड़ा हो जाता है कि तिष्य के पीछे है और तिष्य की दृष्टि उस पर नहीं पड़ती। स्त्री अपने बच्चे को देखकर]—तेरा खून इतना मीठा है मेरे बच्चे ! राजा तक उसे पीना चाहता है ! और खून हो तो अपने नन्हे से कलेजे को सामने रख दे। ये सब मिल कर पीलें।

तिष्य०—क्या तुम्हारा बच्चा मर गया है ! कैसे !

स्त्री०—अशोक राक्षस ले गया मेरे बच्चे को। राज्य नहीं चाहता था मेरा लाल, लेकिन मेरे लाल को अशोक ले गया। ले गया इसे—

अशोक—[आगे बढ़ कर] यह क्या कह रही हो तुम ? ठीक तरह से बतलाओ तुम्हारा न्याय होगा। यह बच्चा कैसे मरा ?

स्त्री०—मुझे न्याय नहीं चाहिए—नहीं चाहिए ! पाटलीपुत्र से न्याय उठ गया ! इसके पिता को सैनिकों ने घेर कर मारा और जब मैं इसे बचाने लगी तो इसके फूल से कलेजे में भाला घुमेड़ दिया उन राक्षसों ने। मेरे बच्चे को राज नहीं चाहिए था। मेरा छोटा राजा तुम्हारा राज नहीं चाहता था। तब भी इसे—तब भी इसे......

अशोक—ठहरो मैं उन दुष्टों को दंड दूँगा। वीरों के लिए उनका भाला है, शिशुओं के लिए नहीं !

तिष्य०—महाराज न्याय होना चाहिए बेचारी स्त्री का !

अशोक—होगा और अवश्य होगा !

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्त्री०—मैं अब न्याय लेकर क्या करूँगी ! लाओ महाराज, मैं तुम्हें राजतिलक कर दूँ। अपने बच्चे के ख़ून का तिलक लगा कर—महाराज अशोक... चक्रवर्त्ती अशोक...

अशोक—मैं अभी न्याय करूँगा। पुष्य......

[प्रहरी का प्रवेश]

अशोक—इस स्त्री को विश्राम शिविरों में ले जाकर अपराधियों की पहिचान कराओ मैं अभी आता हूँ। जाओ......

[जाने को उद्यत होता है]

अशोक—और उन अपराधियों को बंदी कर मेरे सामने अभी उपस्थित करना। समझे।

प्रहरी—जो आज्ञा। [स्त्री से] चलो। [स्त्री को बलपूर्वक ले जाता है।]

स्त्री०—[जाते हुए नैपथ्य से] मेरा बच्चा, मेरा लाल ! [धीरे धीरे शब्द क्षीण हो जाता है। कुछ देर तक स्तब्धता रहती है। अशोक विचार-मग्न हैं, तिष्य कहती है।]

तिष्य०—महाराज, मुझे मूर्छा सी आ रही है।

अशोक—देवी, विश्राम करो। मैं अभी न्याय करूँगा।

तिष्य०—महाराज, यह रक्तपात अब बन्द हो !

अशोक—एक छोटी-सी घटना राज्य की बढ़ती हुई बेल को काट दे ! यह घटना तुम्हारा चित्र नहीं है देवी, जिसमें तूलिका के हलके झटके से राज्य की बेल कट जाय ! देवी, युद्ध में तो यह सब होता ही है !

तिष्य०—महाराज, मैं क्या करूँ !

अशोक—विश्राम करो। मैं विश्राम शिविरों में अभी जाता हूँ। सेना के विश्राम की क्या व्यवस्था है, घायलों की क्या सुश्रूषा हो रही है, यह मुझे देखना है। [पुकार कर] राजुक ! [राजुक का प्रवेश।]

अशोक—महामात्रों से कहो कि अश्व तैयार हों। उन्हें मेरे साथ नैश-निरीक्षण करने के लिए चलना होगा।

रा०—जो आज्ञा महाराज ! [जाता है।]

अशोक—देवी महाराज बिंदुसार ने राज्य की सीमा नहीं बढ़ाई। वे कदाचित् यह उत्तरदायित्व मेरे लिए छोड़ गए हैं। सम्राट चंद्रगुप्त के परिश्रम की परंपरा कुछ वर्षों तक तो चले !

तिष्य०—कब तक महाराज !

अशोक—जब तक कि पाटलीपुत्र का प्रवासी नागरिक कलिंग के जनपद में निवासी होकर रहेगा।

[राजुक का प्रवेश]

रा०—महाराज, महामात्र और अश्व तैयार हैं !

अशोक—अच्छा, जाओ, मैं अभी आता हूँ। [तिष्य से] देवी, आज उस स्त्री का न्याय भी करूँगा और निरीक्षण भी। सैनिकों को पुरस्कार और दंड की व्यवस्था एक साथ ही होगी। देवी, मंगल कामना करो कि मगध चिरजीवी हो।

तिष्य०—महाराज, मेरे दुःख में भी मगध चिर-जीवी हो।

[अशोक का प्रस्थान।]

तिष्य०—वायु के प्रवाह की भाँति सदैव अस्थिर ! अभी आए और अभी चले गए ! मैं क्या करूं ! [चित्र की ओर दृष्टि डालती है।] यह चित्र ! [क्रोध से फाड़ कर फेंक देती है। पुकार कर] स्वयंप्रभा !

[स्वयं प्रभा का प्रवेश वह प्रणाम करती है।]

स्व०—महारानी जी, यह क्या ? यह चित्र किसने फाड़ दिया ? ओह...इतना सुन्दर चित्र !

तिष्य०—मैंने—मैंने इसे नष्ट कर दिया।

स्व०—मैं इसे जोड़ सकती हूँ ?

तिष्य०—नहीं। इसे उठा कर बाहर फेंक दे।

[स्वयंप्रभा फटे हुए चित्र के टुकड़े एकत्रित करती है।]

तिष्य०—स्वयंप्रभा, महाराज गए ?

स्व०—जी महारानी जी, पाँच महामात्रों के साथ अभी अभी गए हैं !

तिष्य०—चले गए। तू क्या कर रही थी ?

स्व०—महारानी जी, आपके सुंदर गीतों की स्वरलिपि लिख रही थी !

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तिष्य०—सब को नष्ट कर दे। महाराज यह सब कुछ नहीं चाहते !

स्व०—महारानी जी, बड़े सुंदर गीत हैं !

तिष्य०—इस विषय में बात मत कर! जा

[स्वयमप्रभा जाना चाहती है।]

ति०—चारु कहाँ है ?

स्व०—महारानी जी, अभी तो यहीं थी। कदाचित् शिविर कक्ष में हो !

तिष्य०—रो रही थी ?

स्व०—महारानी जी, उदास तो बहुत थी। ज्ञात होता था कि उसके आँसू सूख गए हैं, किन्तु हृदय रो रहा है।

तिष्य०--तूने उससे बातें कीं ?

स्व०—महारानी जी, मैंने आपके गीतों की स्वरलिपि पूछी, वह कुछ भी नहीं कह सकी !

तिष्य०—बेचारी चारु ! आज चारु पर महाराज बहुत अप्रसन्न हुए !

स्व०—महारानी जी, उससे कभी कोई अपराध तो हुआ नहीं।

तिष्य०—कहते थे कि वह कलिंग की है; शत्रु-पक्ष की।

स्व०—महारानी जी, आज तक महाराज की सेवा उसने जितनी श्रद्धा और शक्ति से की है, उतनी पाटलीपुत्र की किसी सेविका ने नहीं। वह तो महाराज के अंतःपुर की अंगरक्षिका की तरह है।

तिष्य०—हाँ, मैं भी यही समझती थी।

स्व०—महारानी जी, महाराज की इच्छा ही उसके कार्य का नाम है। वह कैसे विश्वासघातिनी हो सकती है ?

तिष्य०—कहते थे राजनीति की दृष्टि दया की दृष्टि नहीं है।

स्व०—महारानी जी, राजनीति भी कोई राजनीति है यदि उससे सच्ची सेवा और सच्चे प्रेम में संदेह उत्पन्न हो जाय !

तिष्य०—यही संदेह तो शायद उनके जीवन की सफलता है। उन्होंने शत्रु के छोटे से छोटे कार्य को अपनी शक्ति से छिन्न-भिन्न कर दिया। आज मेरी प्रार्थना पर ही उन्होंने चारु को क्षमा किया।

स्व०—महारानी जी, आपकी करुणा ने महाराज की शक्ति के साथ रह कर राज्य को संतुलित किया है।

तिष्य०—स्वयंप्रभा, आज मेरी करुणा सीमा तक पहुँच गई !

स्व०—कैसे महारानी जी !

तिष्य०—एक स्त्री के छोटे से बच्चे को सैनिकों ने मार डाला।

स्व०—हाँ, महारानी जी, मैंने सुना !

तिष्य०—महाराज न्याय करने गए हैं। देखें, क्या न्याय करते हैं। मैं तो आज बहुत अशांत हूँ !

स्व०—महारानी जी, विश्राम कीजिये......

[नेपथ्य में—बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।]

स्व०—आचार्य उपगुप्त का कंठ-स्वर महारानी जी !

तिष्य०—[स्वस्थ होकर] जाकर उन्हें यहाँ ले आ। मैं बहुत विह्वल हो रही हूँ।

स्व०—जो आज्ञा महारानी जी। [स्वयंप्रभा जाती है]

तिष्य०—महात्मा उपगुप्त......

[सम्हल कर उठती है और स्वयं आसन ठीक करती है। प्रतीक्षा-दृष्टि से द्वार की ओर देखती है। स्वयंप्रभा के साथ महात्मा उपगुप्त का प्रवेश। महात्मा उपगुप्त बौद्ध भिक्षु के वेश में हैं। गैरिक वस्त्र धारण किए हुए हैं। हाथ में मधुकरी का पात्र।]

तिष्य०—प्रणाम करती हूँ महाभिक्षु जी !

उ०—[अभय हस्त] सुखी रहो देवी ! क्या महाराज नहीं हैं ?

तिष्य०—महात्मन्, वीर पुरुष घर नहीं रहते। रणक्षेत्र ही उनका घर है।

उ०—देवी, रणक्षेत्र हृदय को शांति नहीं दे सकता ! तथागत ने कहा है—अहंकार और ईषणा का नाश करो। यह युद्ध अधिकार-लिप्सा है, इसका अंत नहीं है देवी !

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तिष्य०—महात्मन् आपका उपदेश महाराज के कानों तक पहुँचा ?

उ०—देवी, महाराज नीतिकुशल हैं। मेरी बातें सुनते हैं। मुस्कुरा कर कहते हैं—आप थक गए होंगे महाभिक्षु, विश्रामगृह आप की प्रतीक्षा कर रहा है।

तिष्य०—महात्मन्, यह युद्ध बंद होना चाहिये। मैं इस अत्याचार को सहन नहीं कर सकती !

उ०—देवी, इस अत्याचार को कौन सहन कर सकता है ! एक लाख आदमी तो रणक्षेत्र में मर गए। तीन लाख घायल हुए हैं, जो एक लाख के पथ का अनुसरण करना चाहते हैं। देवी, रक्त की नदियाँ बह निकली हैं जो महानदी की समानता करना चाहती हैं। कलिंग राज्य के घर फूल की पंखुड़ियों की तरह गिर रहे हैं। देवी, तुम कुछ नहीं कर सकतीं ?

तिष्य०—महात्मन्, आज मैं रानी न होकर एक साधारण स्त्री होती, तो किसी प्रकार आत्म-बलिदान कर महाराज के मन की दशा बदल देती। स्त्री होकर पति के मार्ग की बाधिका बनने का साहस मुझमें नहीं होता। राज्य-वंश की मर्यादा कैसे नष्ट करूँ। महात्मन्, मैं रानी होकर साधारण स्त्री भी नहीं रही !

उ०—तो कहता हूँ देवी, शांत होओ। जब तक मनुष्य 'आर्य-सत्य' से परिचित नहीं होता, उसे दुःख उठाना ही पड़ता है। तथागत ने कहा है—भिक्षुओ मैं सब बन्धनों से—लौकिक और अलौकिक से—रहित, हो गया। अनेक के लाभ के लिए विचरण करो, अनेक के हित के लिए विचरण करो, संसार के प्रति करुणा के लिए विचरण करो, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए विचरण करो। देवी, मुझे विश्वास है, महाराज अशोक इस धम्म शिक्षा को मानकर संसार का कल्याण करेंगे।

तिष्य०—भिक्षुराज, मुझे विश्वास नहीं होता।

उ०—समय की प्रतीक्षा करो। महाराज में परिवर्त्तन होगा। जब किसी व्यक्ति में शक्ति की क्षमता होती है, तो बुरे मार्ग से अच्छे मार्ग पर और अच्छे मार्ग से बुरे मार्ग पर जाने में विलम्ब नहीं लगता। महाराज अशोक में शक्ति की क्षमता है और वे बुरे मार्ग पर हैं। किसी भयानक भावना से उनके हृदय की दिशा-परिवर्तन संभव है। वे विजय के आकांक्षी हैं। विजय प्राप्त करें, किन्तु हिंसा से नहीं, अहिंसा से। वे शासन करना चाहते हैं, करें किन्तु क्रोध से नहीं करुणा से। वे विनाश करें, किन्तु जाति का नहीं अपनी इच्छा का। वे ज्ञान प्राप्ति में प्रयत्नशील हों, राज्य-प्राप्ति में नहीं। ज्ञान अमर है, राज्य क्षण भंगुर है !

तिष्य०—महाभिक्षु, आपका ज्ञान सुनकर हृदय को शांति मिलती है।

उ०—शांति लाभ करो देवी, यही पथ निर्वाण का है। अच्छा देवी, अब मैं जाऊँगा। [उठ खड़े होते हैं।]

तिष्य०—महात्मन्, आशीर्वाद दीजिये कि राज्य में शांति हो।

उ०—ऐसा ही हो !

तिष्य०—महात्मन्, मधुकरी स्वीकार कीजिये।

उ०—जैसी इच्छा

तिष्य०—मैं अपने हाथ से लाऊँगी।

[तिष्य०—भीतर जाती है।]

स्व०—महात्मन्, आपसे एक प्रार्थना करना चाहती हूँ।

उ०—कैसी !

स्व०—महात्मन्, आप चारु को तो जानते हैं ?

उ०—हाँ, हाँ, महाराज की सेवा में सतत रहने वाली !

स्व०—आज वह बहुत दुःखी है ?

उ०—क्यों ?

स्व०—महाराज का उस पर से विश्वास उठ गया है !

उ०—इसलिये कि वह कलिंग से उत्पन्न है ?

स्व०—जी हाँ।

उ०—तो उसके लिये उचित तो यही है कि वह महाराज की सेवा और भी संलग्नता के साथ करे। संदेह को सेवा से नष्ट कर दे ! वह इस समय कहाँ होगी ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्व०—महाराज के बाहरी शिविर में !

उ०—अच्छा, मैं उससे मिलता जाऊँगा। उसे संतोष और शांति देकर फिर मैं संघाराम जाऊंगा।

स्व०—महात्मन्, बड़ी कृपा होगी आपकी !

उ०—यह तो तथागत की आज्ञा है।

[तिष्य मधुकरी लेकर आती है।]

तिष्य०—मुझे अपने हाथों आपकी सेवा में मधुकरी लाने में विशेष हर्ष होता है महात्मन् !

उ०—यह तुम्हारी दया है देवी !

[तिष्य उपगुत को मधुकरी देती है।]

उ०—अच्छा, अब जाऊँगा।

तिष्य०—महात्मन्, प्रणाम।

उ०—सुखी रहो।

तिष्य०—स्वयं, महाभिक्षु को शिविर-द्वार तक पहुँचा दो।

स्व०—जो आज्ञा।

[स्वयं का उपगुत के साथ प्रस्थान]

तिष्य०—[सोचते हुए] तिष्य, तेरी दशा एक कीड़े की तरह है, जो ऐसी लकड़ी में रहता है. जिसके दोनों ओर आग लग रही है। तू कहां रहेगी !

[स्वयं का प्रवेश] महारानी, महाभिक्षु जी जाते समय आपके लिए स्वस्ति वचन कह गए हैं।

तिष्य०—तथागत को प्रणाम। स्वयंप्रभा, या तो मैं संघाराम चली जाऊँगी या वनवासिनी हो जाऊँगी।

स्व०—महारानी जी, आप शान्त हों।

तिष्य०—नहीं स्वयंप्रभा, अब मुझे इस राज्य—श्री से घृणा हो रही है। उसके सजाने के लिए कितने मनुष्यों की बलि देनी पड़ रही है। रात दिन युद्ध की बातें सुनते सुनते जैसी मेरी श्रवण-शक्ति विद्रोह कर रही है। अब मैं और कुछ सुनना नहीं चाहती। देख, इतनी अच्छी प्रकृति है। यहाँ ये पेड़ और पर्वत कैसे सुख में दीख पड़ रहे हैं—ये तो किसी से लड़ने नहीं जाते, किसी का खून नहीं बहाते; लेकिन रात दिन इन पर हरियाली छाई रहती है, फूल खिलते रहते हैं! निर्झर इनके चरणों को धोते रहते हैं। इन्हें किस बात की कमी है ? यह मनुष्य ही रात दिन न जाने किस सुख के लिए दूसरे का सुख नष्ट करने में जुटा रहता है ? खून की नदियाँ बहाता है।

स्व०—महारानी जी, जीवन का सत्य यही है।

तिष्य०—और स्वयंप्रभा, अगर मैं स्त्री न होकर इसी पास के पेड़ की एक कली होती, तो आनन्द के साथ बसन्त के एक प्रातःकाल में खिलकर सारे संसार को एक बार हँसती हुई आँखों से देख लेती और शाम होने पर सूर्य के पीछे पीछे मैं भी चली जाती। स्त्री होकर—और महारानी होकर—मैं सुखी नहीं हूँ स्वयंप्रभा। जीवन के सत्य से बहुत दूर जो जा पड़ी हूँ।

स्व०—महारानी जी, आपका हृदय शान्त हो।

तिष्य०— स्वयंप्रभा कैसे शान्त हो ? शान्ति का उपाय करने के बदले में अशान्ति की लहरों में बही जा रही हूँ। पास में कोई कूल-किनारा नहीं है। मालूम होता है कलिंग युद्ध की समाप्ति होते होते मेरा जीवन भी समाप्त हो जायगा !

स्व०—महारानी जी, दुखी न हों। ऐसी बातें न करें !

तिष्य०—मैं महाराज के सामने बहुत साहस कर कुछ बातें कहना चाहती हूँ। या तो मैं कह नहीं सकती या महाराज की दृष्टि मुझे कहने नहीं देती। साहस कर दो एक शब्दों में यदि कुछ कहती भी हूँ, तो महाराज की वीरता की लहर में मेरे शब्द बुद्बुद् की भाँति बह जाते हैं।

स्व०—महारानी जी, आप जो कुछ भी कह सकती हैं, महाराज के सामने उतना कहने की शक्ति संसार के किसी व्यक्ति में भी नहीं है।

तिष्य०—किन्तु उसका परिणाम कुछ नहीं। स्वयंप्रभा, चारु को बुलाएगी ?

[नैपथ्य में महाराज अशोक की जय—जय !]

तिष्य०—स्वयंप्रभा, रहने दे, किसी को मत बुला। महाराज आ रहे हैं।

[चिंतित मुद्रा में अशोक का प्रवेश। तिष्य प्रणाम करती है। स्वयंप्रभा अधिक झुककर प्रणाम करती है।]

अशोक—देवी, न्याय नहीं हो सका !

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तिष्य०—महाराज, उस स्त्री का न्याय ?

अशोक—हाँ देवी, वह स्त्री उसी शिविर में आत्महत्या करके मर गई ?

तिष्य०—मर गई ! [करुण स्वर में] आह, बेचारी स्त्री !

अशोक—मैंने पुष्य को आज्ञा दी थी कि वह उस स्त्री को विश्राम शिविर में ले जाकर खड़ी कर दे। शिविर का प्रत्येक सैनिक उसके सामने आए और वह स्त्री उस सैनिक को पहिचाने, जिसने उसके शिशु की छाती में भाला घुसेड़ दिया था। मुझे ज्ञात हुआ कि १२३ सैनिक घरों में घुसे थे। उन्हीं १२३ सैनिकों के भाग्य का निर्णय था, किन्तु उस स्त्री ने १७ सैनिकों के आने पर एक बार अपने बच्चे को चूमा, हृदय से चिपटा लिया और अट्ठारहवें सैनिक की कमर से छुरी निकाल कर स्वयं आत्महत्या कर ली ! पुष्य उसे रोक ही नहीं सका और वह ख़ून की नदी में तड़पने लगी। देवी, उसने मेरे न्याय पर विश्वास नहीं किया। उसने मेरी राज्यसत्ता से बढ़कर अपने बच्चे को समझा !

तिष्य०—महाराज, माता का हृदय संसार के किसी वैभव से नहीं तुल सकता। वह सबसे बड़ा है।

अशोक—किन्तु माता के हृदय में विशालता भी तो होती है !

तिष्य०—पहले वह अपने बच्चे के लिये होती है महाराज ! आप अनुमान कर लीजिये कि इस युद्ध में जितने वीरों की मृत्यु हुई है, उनकी माताओं के हृदय की क्या दशा होगी !

अशोक—मैं देख रहा हूँ देवी ! आज एक बच्चे की माँ ने मेरे सारे साम्राज्य को तुच्छ सिद्ध कर दिया !

तिष्य०—महाराज आर्यावर्त्त के सबसे बड़े वीर हैं।

अशोक—देवी, आज विश्राम शिविर में जाने पर ज्ञात हुआ कि एक लाख से अधिक सैनिक अभी तक युद्ध में मारे जा चुके हैं, जिनमें आधी से अधिक संख्या कलिंग के सैनिकों की है। तीन लाख सैनिक घायल हुए हैं। उनकी माताओं के हृदय की क्या अवस्था होगी !

तिष्य०—[आश्चर्य और दुःख में] महाराज, चार लाख वीर संग्राम की बलि हुए हैं !

अशोक—जब कलिंग नरेश को ज्ञात हुआ कि चार लाख वीर इस संग्राम भूमि की बलि हुए हैं, तब उसने यह संधि-पत्र भेजा है। [संधि-पत्र खोलते हुए] आज पाटलीपुत्र की विजय हुई, किन्तु देवी उस स्त्री की आत्महत्या ने मेरा ध्यान संग्राम में मरे हुए वीरों की माताओं की ओर आकर्षित कर लिया है और मेरी विजय में जैसे उल्लास के बदले अभिशाप तड़प रहा है।

[बाहर कोलाहल होता है। "चारु" "चारु" "क्या हुआ", "अभी प्राण शेष हैं," "कहां चोट लगी है" ? "यह कैसे हुआ," "शान्त शान्त" की आवाज़ आती है।]

अशोक—[चौंक कर] यह कैसा शब्द। राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

रा०—महाराज, चारुमित्रा का मृत शरीर बाहर है।

अशोक—[पुनः चौंक कर] चारुमित्रा का मृत शरीर !

तिष्य०—ओह चारु—[सिर झुकाकर बैठ जाती है।]

रा०—जी हां, उन्हें तलवार का गहरा घाव लगा है ! आचार्य उपगुप्त उनके साथ हैं।

अशोक—शीघ्र ही भीतर लाओ।

[चारुमित्रा का शरीर लेकर दो प्रहरी आते हैं। साथ में उपगुप्त भी हैं।]

अशोक—महाभिक्षु को अशोक का प्रणाम ! महात्मन्, यह क्या ! [प्रहरियों से] यह शरीर नीचे रखदो ! ओह चारुमित्रा ! [प्रहरी शरीर रख देते हैं।]

तिष्य०—ओह मेरी चारु, मेरी चारु !!

उ०—देवी शान्त हों। महाराज, यह चारुमित्रा की स्वामिभक्ति का प्रमाण है !

अशोक—स्वामिभक्ति ! कैसी स्वामिभक्ति ! अभी जीवित है चारु !

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उ०—महाराज, अभी जीवित तो है, पर वह अचेतावस्था में है।

तिष्य०—महात्मन्, क्या हुआ, क्या हुआ !

उ०—देवी, शान्त हो। चारुमित्रा ने आज संसार के सामने यह घोषित कर दिया कि एक नारी में कितनी शक्ति है, कितनी क्षमता है !

अशोक—किस प्रकार महात्मन् !

उ०—मैंने सुना था कि आपने चारुमित्रा पर अविश्वास किया था !

अशोक—हाँ, वह कलिंग की अधिवासिनी थी। अविश्वास होना स्वाभाविक था।

उ०—किन्तु महाराज उसने बाल्यावस्था से आपकी सेवा की थी और आज उस सेवा से उसने अपने कलिंग को अमर बना दिया !

अशोक—मैं उत्सुक हूँ महाभिक्षु, चारु के संबन्ध में सुनने के लिये !

उ०—महाराज ! आर्यावर्त्त जानता है कि आपने रक्त की नदी से कलिंग युद्ध में कितने वीरों को रणक्षेत्र में सुला दिया है। आपने रक्त की नदी से कलिंग की भूमि को लाल बना दिया है। और अब तो आपकी विजय निश्चित भी है।

अशोक—मैंने विजय प्राप्त कर ली महाभिक्षु, यह संधि-पत्र है।

उ०—महाराज इस संधि-पत्र से अधिक मूल्यवान चारु का बलिदान है !

अशोक—[आश्चर्य से] बलिदान !

तिष्य०—मेरी चारु ने अपना बलिदान कर दिया !

उ०—हाँ, महारानी जी, महाराज के अविश्वास से उसे हार्दिक दुःख हुआ था। आज वह महाराज के बाहरी शिविर में महाराज से आज्ञा लेकर चली जाती और महानदी की लहरों में विश्राम करती, किन्तु उसके पूर्व ही उसे विश्राम करने का अवसर मिल गया !

अशोक—किस प्रकार ! शीघ्र बतलाइये।

उ०—महाराज ! यदि चारुमित्रा के चरित्र गान में कुछ विलंब लग जाय, तो आप मुझे क्षमा कीजिये। उसका चरित्र ही ऐसा है ! आज चारुमित्रा आपके बाहरी शिविर में आपके लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी, किन्तु संभवतः आज आपके लौटने में देर हुई !

अशोक—हाँ, आज मैं शिविरों के निरीक्षण के लिए चला गया था। अभी तक मैं अपने बाहरी शिविर में शयन के लिए नहीं पहुँचा।

उ०—महाराज, उस शिविर में आप पर आक्रमण करने के लिए कलिंग के कुछ सैनिक छिपे हुए थे। वे संध्या से ही मगध सैनिकों के वस्त्र में शिविर में घूम रहे थे। चारुमित्रा को उन पर सन्देह हुआ। उसने उनसे बातें कर यह जान लिया कि ये कलिंग के सिपाही हैं।

अशोक—[आश्चर्य से] फिर !

उ०—महाराज, देवी चारुमित्रा ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा—कि कायरो, तुम लोग मेरे देश कलिंग के नाम को कलंकित करने वाले हो ! यदि महाराज अशोक को मारना है, तो युद्ध में तलवार लेकर क्यों नहीं जाते ! यहां चोरों की तरह घुस कर एक वीर पुरुष से छल करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती !

अशोक—चारुमित्रा तुम धन्य हो ! तुम देवी हो !

उ०—महाराज ! उन सैनिकों ने चारुमित्रा को लालच दिया ! कलिंग की विजय का स्वप्न दिखलाया, किन्तु चारुमित्रा ने कहा कि मैं अपने स्वामी से विश्वासघात नहीं कर सकती। मैं देशभक्ति को जितना आदर देती हूँ, उतना ही स्वामिभक्ति को !

अशोक—चारु, तू अमर हो !

उ०—महाराज, चारु निश्चय ही अमर होगी। उसने उन सैनिकों को हट जाने के लिए ललकारा। जब वे नहीं हटे तो कक्ष में टँगी हुई आपकी तलवार लेकर उसने उन सैनिकों पर आक्रमण कर दिया।

तिष्य०—धन्य चारु, चारु सैनिक भी है !

उ०—हाँ, देवी, दो सैनिक तो घायल होकर भाग गए, लेकिन एक सैनिक की तलवार चारु के कंधे पर लगी और वह गिर पड़ी। उसी समय मैं पहुँचा, वह कायर वहाँ से भाग कर पास की झाड़ी में छिप गया।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देवी चारु ने अचेत होने से पहले सारी कथा मुझे टूटे-फूटे शब्दों में सुनाई थी।

अशोक—धन्य है चारु, आज तूने अपने देश कलिंग को अमर कर दिया।

तिष्य०—महाराज, मेरी चारु......

अशोक—महारानी, अधीर मत हो। चारु ने जो कार्य किया है, वह नारी जाति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायगा। और सुनो देवी, आज से अशोक ने...अत्याचारी अशोक ने युद्ध को सदैव के लिए छोड़ दिया।

सब०—महाराज अशोक की जय !

उ०—प्रियदर्शी महाराज अशोक की जय !

अशोक— महाभिक्षु, आज से मैं अहिंसा का पालन करूँगा। और देखूंगा कि किसी मनुष्य का रक्त इस पृथ्वी पर न पड़े। प्रत्येक स्थान पर, सिंहासन पर, अंतःपुर में, विहार में, मैं जनता की सेवा करूँगा। आज से मेरा महान् कर्तव्य होगा कि मैं सब जीवों की रक्षा का अधिक से अधिक प्रबन्ध करूँ।

उ०—देवानामप्रिय प्रियदर्शी महाराज अशोक की जय !

अशोक—मेरे आदेशों को शिलालेख के रूप में लिखवा कर समस्त आर्यावर्त में प्रचार कर दो कि अशोक आज से उनकी रक्षा करने वाला उनका बन्धु है।

चारु०—[बेहोशी दूर होने पर] महाराज अशोक की जय !

तिष्य०—ओह, चारु, चारु, मेरी चारु, तू अच्छी है ?

अशोक—चारुमित्रा की जय ! चारु ?

चारु०—महाराज, क्षमा ! आपकी आज्ञा थी कि मगध की ओर से तलवारों के साथ भैरवी नृत्य सीखूं ! पूरी तरह नहीं सीख सकी, क्षमा हो !

अशोक—चारुमित्रा, तू पाटलीपुत्र की शोभा है, उसके गौरव की विभूति है।

चारु०—महाराज, आग के अंगारों पर नाचने का अवसर तो आपने नहीं दिया, अब मैंने अंगारों पर अपनी देह रखने का अवसर आप से माँग लिया ! [तिष्य से] क्षमा करें देवी !

तिष्य०—ओह चारु, तू अच्छी हो जायगी।

चारु०—नहीं देवी ! महाराज अशोक की जय ! [आँख बंद कर लेती है। अशोक अवाक् हो चारुमित्रा की ओर देखते रह जाते हैं।]*

[परदा गिरता है]

---

* इस नाटक का सर्वप्रथम अभिनय इलाहाबाद यूनिवर्सिटी 'विमेन्स' हॉस्टल द्वारा श्री चन्द्रावती त्रिपाठी एम० ए० के निर्देशन में १६ नवम्बर १६४१ को हुआ। भूमिका इस प्रकार थी:—

१—अशोक—कुमारी कुमुदिनी गुप्ता
२—तिष्यरक्षिता—कुमारी शकुन्तला चतुर्वेदी
३—चारु—कुमारी लवंगलता जोशी बी० ए०
४—उपगुप्त—कुमारी सुरेन्द्रमोहिनी सिनहा
५—राजुक—कुमारी चन्द्रकान्ता कोचर
६—स्त्री—कुमारी कमला सक्सेना बी० ए०
७—पुरुष—कुमारी राजकुमारी कोहली

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐ आदमी के बेटे !

मुहम्मद साहब ने एक बार कहा—

मरने के बाद अल्लाह पूछेगा—"ऐ आदमी के बेटे ! मैं बीमार था और तू मुझे देखने नहीं आया !"

आदमी कहेगा—"ऐ मेरे रब्ब ! मैं तुझे देखने के लिये कैसे आ सकता था, तू तो सारी दुनिया का मालिक है ?"

अल्लाह फिर पूछेगा—"ऐ आदमी के बेटे ! मैंने तुझसे खाना माँगा था और तूने मुझे खाना नहीं दिया !"

आदमी कहेगा—"ऐ मेरे रब्ब ! तू तो सारी दुनिया का मालिक है मैं तुझे खाना कैसे दे सकता था ?"

अल्लाह पूछेगा—"ऐ आदमी के बेटे ! मैंने तुझसे पानी माँगा था और तूने मुझे पानी नहीं दिया।"

आदमी कहेगा—"ऐ मेरे रब्ब ! मैं तुझे कैसे पानी दे सकता था, तू तो सारी दुनिया का मालिक है ?"

अल्लाह जवाब देगा—"क्या तुझे मालूम नहीं था कि मेरा एक बन्दा बीमार था और तू उसे देखने नहीं गया ? क्या तुझे यह मालूम नहीं था कि अगर तू उसे देखने जाता तो सचमुच मुझे उसके पास पाता ? क्या तुझे मालूम नहीं था कि मेरे एक बन्दे ने तुझसे खाना माँगा था और तूने उसे खाना नहीं दिया ? क्या तू नहीं जानता था कि अगर तू उसे खाना देता तो मुझे उसके साथ देखता ? मेरे एक बन्दे ने तुझसे पानी माँगा और तूने उसे पानी नहीं दिया ! अगर तू उसे पानी देता तो सचमुच मुझे उसके साथ पाता।"

[—मुसलिम]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय संस्कृति और शिल्प-कला

डाक्टर राधाकमल मुकर्जी, एम. ए., पी-एच. डी.

भारतवासी अपने समस्त जीवन को धार्मिक दृष्टि से देखते हैं। यहां जीवन के प्रत्येक अंग को धर्म का अंग समझा जाता है। भारतीयों का धर्म उन्हें बताता है कि जीवन की समस्त कल्पनाएं उच्च आदर्श से प्रेरित होती हैं। इस विचार-धारा के कारण कला और शिल्प की उन्नति को बेहद क्षेत्र मिलता है। हिन्दुओं के परिष्कृत मस्तिष्क के अनुसार कला और शिल्प उस दैवी शक्ति के एक अंग हैं, जो जीवन के समस्त तत्वों में व्याप्त है। इसलिये हिन्दू संकुचित भाव से ऊपर उठकर प्रकृति में भी सौन्दर्य देखते हैं। आदर्शों के क्षेत्र का सौन्दर्य सदाशील है। भारतीय कलाकारों को यह ईश्वर का स्वतः दिया वरदान है। भारतीय कलाकार अपनी आन्तरिक प्रेरणा पर अधिक निर्भर करते हैं। वह बाह्य जीवन की सीमा में संकुचित होना उपयुक्त नहीं समझते; इसलिये समस्त सौन्दर्य के आदि स्रोत में जो लय, गति, समानाकार और विचार हैं, वे सब विश्वकर्मा द्वारा निर्मित हैं। विश्वकर्मा को ही भारतीय कलाकार अपनी भक्ति की भेंट चढ़ाते हैं। वही विश्वकर्मा प्रत्येक कलाकार को कला और उद्योग की प्रेरणा देता है। महाभारत के अन्दर विश्वकर्मा को कलाओं का स्वामी कहा गया है। उसे देवताओं का बढ़ई और समस्त आभूषणों का गढ़ने वाला बताया गया है। उसी ने देवी देवताओं के रथों का निर्माण किया। कलाकार उसी की उपासना करते हैं और उसे अमर देवता के रूप में निरन्तर पूजते हैं। शिल्पकार अपना काम प्रारम्भ करने के पूर्व न केवल उसकी पूजा करते हैं, बल्कि उसकी प्रशंसा के अनेक गीतों और मन्त्रों से उसकी प्रार्थना करते हैं, और विपत्ति से बचाने और अपने काम में सहायता देने की उससे दुआ मांगते हैं। हर साल दशहरा के दिन शिल्पकारों के यहां पुरोहित उसका आवाहन करते हैं—

विश्वकर्म्मन्निहागच्छ तुलाबन्धमलंकुरु।
शिल्पाचार्य्याय देवाय नमस्ते विश्वकर्म्मणे, स्वाहा॥

वह शिल्पी को न केवल धन धान्य प्रदान करता है, बल्कि उन्हें कला कौशल में भी निपुण बनाता है—

शिल्पनैपुण्यादि वृद्धिपूर्व्वक श्रीविश्वकर्म्म प्रीतिकामो गणपत्यादि देवता पूजापूर्व्वक विश्वकर्म्म पूजामहं करिष्ये।

उसका ध्यान करते हुए कहा जाता है—

दंशपालं महावीर सुचित्रकर्म्मकारक।
विश्वकृत् विश्वधृक् च त्वत् रसना मानदण्ड धृक॥

उसे प्रणाम करते हुए कहते हैं—

शिल्पाचार्य्य महाभाग देवानाम कार्य्यसाधक।
विश्वकर्म्मन्नमस्तुभ्यम् सर्व्वाभीष्ट प्रदायक॥

'रूपावलीय' नामक ग्रन्थ में उसका आकार और गुण इस प्रकार वर्णन किया गया है।

"हे विश्वकर्मा, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूं। तुम प्रख्यात हो, तुम स्वतंत्र हो, तुम महान हो और न्यायपूर्ण हो। तुम्हारे भाल में पांच तिलक लगे हुए हैं, तुम्हारे दस हाथ हैं। एक हाथ में पुस्तक है, दूसरे में क़लम है, तीसरे में तलवार है, चौथे में कुंठारिका है, पाचवें में जुम्बीर है, छठवें मे प्याला है, सातवें में जलपात्र है, आठवें में माला है। तुम्हारे गले पर नागराज और एक पाश है। तुम्हारे भाल से दृढ़ता टपकती है, तुम्हारी मुद्रा से दया प्रकट होती है। तुम स्वर्णिम यज्ञोपवीत पहने हुए हो"

शिल्प और कर्म्मकार औज़ारों और हथियारों की अक्षत और चन्दन लेकर पूजा करते हैं। ये औज़ार विश्वकर्मा की देन समझे जाते हैं। शिल्पी विश्वकर्मा द्वारा प्रदत्त औज़ारों को उपयोग करने वाला एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निमित्त मात्र है। इस तरह भारतीय संस्कृति के अनुसार कला परम पुरुष के प्रकाश की एक किरण है। वह काल्पनिक नहीं बल्कि वास्तविक चीज़ है। देवता और स्वयं प्रभु कर्म्मकार और शिल्पियों को मदद देते हैं। वे उसके हृदय में अपना सौन्दर्य प्रकट करते हैं। कलाकार का कार्य एक पवित्र कार्य समझा जाता है। मनु ने कहा है—

"शिल्पी का हाथ सदा पवित्र होता है। उसकी निर्माण की हुई प्रत्येक वस्तु पवित्र होती है। बाज़ारों में बिकने वाली वस्तुओं और उसके निर्मित भिक्षा-पात्र तक पवित्र होते हैं—यह एक निश्चित नियम है।"

कर्म्मकार और शिल्पकार के ऊपर कर्म के सिद्धान्त का भी बहुत सुन्दर प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के कर्म्म अनेक जन्मों तक उसका साथ नहीं छोड़ते। इसलिये जो व्यक्ति विशेष प्रकार की शिल्पकला का ज्ञाता होता है और वह उस शिल्प और कला को कार्य-रूप में परिणित नहीं करता, तो मृत्यु के उपरान्त उसे नर्क में जाना पड़ता है। जो मेमार और चित्रकार झूठ बोलकर दूसरों से पैसा लेते हैं, वे ग़रीब हो जाते हैं। जो मेमार और चित्रकार श्रद्धापूर्वक कर्म करते हैं, वे कर्मों का फल पाते हैं और दूसरे जन्म में राजा या उमरा बनते हैं। निर्माणकार और चित्रकार जो अपने कर्म को धर्म की भावना से नहीं करते, तो जब उन्हें अपने काम की समाप्ति पर पैसा मिलता है, उस पैसे को लेकर वे घर जाते हैं, तो चाहे वह हज़ार मुद्रा क्यों न हो, उनके पास खाने तक के लिए नहीं बचता, न उन्हें पहनने के लिये लंगोटी मिलती है। यह उन्हें पिछले जन्म की सज़ा मिलती है। मरने के उपरान्त वे नर्क में जाते हैं और लाखों वर्ष तक उनको यातनाएं भुगतनी पड़ती हैं। इससे बचने पर उनका शरीर लूला-लँगड़ा हो जाता है और उन्हें अत्यन्त कष्ट के दिन बिताने पड़ते हैं। इस "माया. मत्सर" प्रकृति के अन्दर असंख्य रूपों और सौन्दर्य को देखना, यही भारतीय संस्कृति का मूल गुण है। इसका निदर्शन हमें न केवल हिन्दू त्योहारों और उत्सवों में मिलता है, बल्कि विविध कलाओं और शिल्प कलाओं में भी दिखाई देता है। हिन्दू कलाकार फूलों, पौधों, पक्षियों और पशुओं के आकारों और रूपों से अपनी कलाकृतियों को सजाते हैं। वे दूब, पत्ती, फूल आदि से ईश्वर की पूजा करते हैं। वे पशुओं और पक्षियों को अपने जीवन का साझीदार समझते हैं। इन सब को वे अपनी कलाकृतियों में स्थान देते हैं। शिल्प कला में कमल के फूल की आकृति मुख्यतः दिखाई देती है। भारतीय शिल्प-संस्कृति में कमल उसका प्रतीक है। पानी में तैरता हुआ वह असीम अस्तित्व का परिचायक है। यह सुन्दर कल्पना भारतीय कलाकारों की सब में श्रेष्ठ कल्पना है। कला के हर क्षेत्र में कमल का प्रदर्शन दिखाई देता है। हिन्दुओं के घरों में जो लोटा इस्तेमाल किया जाता है, वह भी कमल का ही एक रूप होता है। दूसरे अन्य फूलों में श्वेत दूर्वा, कमलिनी, गुलाब आदि और फलों में आम को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। कपड़ों पर आमतौर से फूलों की सजावट होती है। अलग अलग फूलों के बूटे और फूलों के गुच्छों की जाली कपड़ों पर बनाई जाती है। फूलों में गुलदाउदी और गेंदा बहुतायत से काढ़े जाते हैं। काश्मीरी शालों में ये फूलदार बूटियां चन्द्राकार और तुरंग के रूप में काढ़ी जाती हैं। पान की बूटी पान की पत्ती के रूप में बनाई जाती है और चादरों पर फूलों का कसीदा भरा जाता है, उसको झालर कहते हैं। जब इस तरह के अगणित फूल बने होते हैं, तो उसे 'पन्न हज़ारा' कहा जाता है और जब पूरा कपड़ा इस तरह के फूल पौधों से कढ़ा होता है, तो उसे 'फेलवार' कहते हैं।

मुसलमानों का लोटा टोंटीदार होता है। यह इसलिये कि इसलामी आचारों के मुताबिक़ बहते हुए पानी से शुद्धि क्रिया करनी चाहिये। टोंटी की धार बहता हुआ पानी माना जाता है। हिन्दू और मुसलमानों के बरतनों की शक्लों और उनके इस्तेमाल ने हमारे देश में धातुओं की वस्तुओं को भिन्न भिन्न रूप दिये हैं।

कपड़े की बिनाई और लकड़ी के काम में जो पक्षियों की शक्लें बनाई जाती हैं, उनमें मोर मुख्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। यह लम्बे रुख बनाया जाता है। पक्षी अपने कन्धे को ओर देखना होता है। मोर के अतिरिक्त जिन दूसरे पक्षियों को डिज़ाइन में प्रधानता दी जाती है, वह हैं हंस—ब्रह्मा का वाहन—और गरुड़। शेर हाथी, घोड़े, और लोमड़ी भी डिज़ाइनों में आ जाते हैं। जो धर्म जितना अधिक जानदार होता है, उतने ही पक्षियों और पशुओं की डिज़ाइनों में विभिन्नता होती है। जब धर्म मृतःप्राय स्थिति को पहुंच जाता है, तब उसके मानने वाले कलाकारों की डिज़ाइनें भी रूढ़ियों की शिकार हो जाती हैं। हिन्दू शिल्पकार अपनी कल्पना द्वारा कला के नमूने ढालते रँगते और बनाते हैं। उनके साकार माडेल नहीं होते। देश के राष्ट्रीय जीवन में उन्हें अपनी कला के नमूने मिलते हैं। हालाकि विदेशियों की नज़रों में उनका कोई मूल्य नहीं होता, फिर भी उनका सम्बन्ध हमारे धार्मिक विश्वासों के साथ होता है। धर्मभीरु भारतीयों के हृदय में इन धार्मिक नमूनों की इज़्ज़त बहुत अधिक है। हिन्दू शिल्पकार अपने जातिगत ज्ञान, कल्पना और अपनी श्रद्धा पर निर्भर करते हैं। अपना काम शुरू करने के पहले वे एकान्त में शास्त्र के अनुसार धुले हुए कपड़ों को पहिन कर प्रार्थना करते हैं। वे ध्यान-मग्न हो कर कला-वस्तुओं की कल्पना करते हैं। शिल्पकार को यह भी हिदायत है कि स्वप्न में भी अनायास जो ज्ञान प्राप्त हो, उसको भी हृदयंगम करे। वह प्रार्थना करता है—"हे देवादि देव मैंने जिस काम की कल्पना अपने दिमाग़ में की है, उसे वास्तविकता में परिणित करने की कुशलता दे।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे देश में असंख्य प्रकार के नमूने और सजावटों के तरीक़े प्रचलित हैं। घर घर में अपनी अपनी तरह के पैटर्न और अपनी अपनी तरह के नमूने बनते हैं। अहमदाबाद में हमें कला के नमूनों में बरगद के पेड़ और उसकी फैली हुई सांप जैसी जटाएं दिखाई देती हैं। यह नमूना हमें पत्थरों, लकड़ी, सन्दलों और हाथी दांत के कामों पर मिलता है, यह नमूना कीमख़ाब, दूसरे कपड़ों, सोने-चांदी के बरतनों, और गहनों पर भी दिखाई देता है। यहां तक कि अहमदाबाद की कला में यह नमूना कला का एक ख़ास अङ्ग बन गया है। निर्माण कला में पौराणिक दृश्यों को बहुधा इस्तेमाल किया जाता है। लकड़ी की वस्तुओं पर कृष्ण-बलराम को बड़ी सुन्दरता और सफ़ाई के साथ खोदा जाता है। शरद पूर्णिमा की रात्रि में गोपियों के साथ कृष्ण के दृश्य दिखाये जाते हैं और उन पर आकाश से फूलों की वर्षा होती हुई दिखाई जाती है। राधिका के वियोग में व्याकुल कृष्ण और उनके मिलन की मधुरता के भाव को भी कला की वस्तुओं पर अंकित किया जाता है। परमात्मा का जब पृथ्वी पर अवतरण होता है, तो प्रकृति हर्ष से फूल उठती हैं, हर कुंज, हर पेड़, हर पक्षी, हर पशु यहां तक कि पानी में मछलियां भी गाने लगती हैं। शाम को घरों की ओर लौटती हुई गायों आदि का दृश्य बड़ी मार्मिकता के साथ हमारी कला की वस्तुओं पर अंकित किया जाता है। लकड़ी के कामों में चंड और मुंड को संहार करती हुई चामुंडा देवी और वीणा बजाती हुई सरस्वती का दृश्य भी अंकित किया जाता है। विशेषतः बंगाल में हाथी दांत के कामों में महिषसुर को अपने बरछे से भोंकती हुई मां दुर्गा दिखाई जाती है। लोग कला की वस्तुओं पर लक्ष्मी, सरस्वती और गणेश की तस्वीरों को पसन्द करते हैं। भारतवर्ष के प्रत्येक गांव में कुम्हार घरेलू इस्तेमाल के बरतनों के बनाने के बाद देवी और देवताओं की मिट्टी की छोटी छोटी मूर्तियां बनाते हैं। ये मूर्तियां कलापूर्ण और सुन्दर मूर्तियों की नमूना होती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दू कला और शिल्प विशेषतया आदर्शवादी और धार्मिक है। भारत के कलाकार और भारत के शिल्पकार अपनी कलाओं में धार्मिक और पौराणिक बातों का प्रदर्शन करते हैं। हिन्दू कलाकार और शिल्पकार न केवल देवताओं की प्रार्थना ही करते हैं, बल्कि वे प्रार्थना को प्रोत्साहन भी देते हैं। आये दिन की पूजा उन कलाओं पर समुचित प्रभाव डालती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मन्दिरों में पूजा के सिलसिले में जो बरतन इस्तेमाल किये जाते हैं, उनमें भी कला की कल्पना को बहुत कुछ प्रोत्साहन मिलता है। सारे देश में पंचपात्र, कोसी, आचमन, धूपदानी आरती दान घंटे-घड़ियाल कला के सुन्दर तम नमूने होते हैं। सजावटों और कला के रूप में इनका काफी इस्तेमाल किया जाता है। इसके अतिरिक्त कमल के पैटर्न का सिंहासन कला के नमूने की बड़ी सुन्दर वस्तु है। जनता की इस धर्म-भावना ने हमारे देश की कारीगरी और शिल्प-भावना को बहुत प्रभावित किया है। मन्दिरों की वस्तु और घरों की पूजा वस्तुओं के बनाने की काफी मांग रहती है।

शिल्पकारों के कुछ धार्मिक त्यौहार भी होते हैं। भादों में संक्रान्ति के दिन विश्वकर्मा की पूजा होती है। बढ़ई, लोहार, नाई, कुम्हार, संखारी और कँसारी (कसेरा) उस दिन अपना कोई काम नहीं करते। वे अपने औज़ारों को तेल से रगड़ कर ख़ूब चमकाते हैं, फिर उन पर घी और गंगा जल, चन्दन, अक्षत आदि छिड़क कर उनकी पूजा करते हैं। किन्तु बङ्गाल में भाद्र संक्रान्ति का यह दिन नहीं मनाया जाता। बङ्गाल में विजयादशमी के दिन हिन्दू शिल्पकार कोई काम नहीं करते। बङ्गाल में इसके लिये विजयादशमी का दिन नियत है। ख़ास तौर पर वहां के बुनकर उस दिन अपना काम नहीं करते हैं। उस दिन वे करघा की पूजा करते हैं। उस पर फूल-फल, चन्दन, अक्षत आदि चढ़ाते हैं। त्रयोदशी के दिन नये सिरे से काम शुरू होता है।

तेली, तमोली और गन्ध-बनियां वैशाखपूर्णिमा के दिन बेला, चमेली और सुगन्ध आदि से गान्धेश्वरी देवी की पूजा करते हैं। दुर्गा की मूर्ति भी स्थापित की जाती है और उससे अपने वाणिज्य को बढ़ाने की प्रार्थना की जाती है—

वाणिज्यवृद्धिपूर्वक श्री दुर्गा प्रीतिकामो
श्री दुर्गापूजाहं करिः

व्यापारी लोग वैशाख और रामनवमी के दिन छुट्टी मनाते हैं और उसी दिन से अपना नया हिसाब किताब शुरू करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेदों की रचना का समय-विस्तार

महामहोपाध्याय डाक्टर आर. शाम शास्त्री एम. ए., पी-एच. डी

प्राचीन काल के अन्य सभ्य देशों की तरह वैदिक काल के आर्यों को भी वर्ष-गणना की रीति का स्पष्ट और ठीक ठीक ज्ञान था। गर्मी, वर्षा और जाड़े की ऋतुओं के नियमित चक्र ने संसार के लगभग समस्त प्राचीन निवासियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। वे इस बात से परिचित हो गये थे कि ये ऋतुएं क्रमानुसार बारह बारह महीनों के बाद आती हैं। शुरू शुरू में उन्होंने चान्द्र तिथियों के हिसाब से बारह महीनों या ३५४ दिन के वर्ष की कल्पना की होगी। किन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार थोड़े काल के उपरान्त ही उन्हें ऋतुओं का ठीक ठीक समय निर्धारित कर सकना बहुत कठिन जान पड़ा होगा। इस बात के लिये किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं है कि समस्त कृषि प्रधान जातियों को ऋतुओं के शुरू और अन्त होने की निश्चित जानकारी आवश्यक है। जिस किसी ने ऋग्वेद का बहुत थोड़ा सा अंश भी पढ़ा है, उसको इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं हो सकता कि कृषि वैदिक कालीन आर्यों का एक महत्वपूर्ण धन्धा था और पूर्णिमा और शुक्ल दूज के दिन यज्ञ करना वैदिक कालीन आर्यों के लिये धार्मिक और नितान्त आवश्यक था। यह बहुत सम्भव है कि शुरू शुरू में अपने कृषि के हित में ऋतुओं के ठीक ठीक और यज्ञ आदि के लिये पूर्णिमा आदि तिथियों का निश्चित बोध करने में वैदिक ऋषियों को बहुत परेशानी हुई होगी। सौर वर्ष के स्थान पर चान्द्र वर्ष के कारण जो गड़बड़ी हुई, उसके सम्बन्ध में 'सतपथ ब्राह्मण' (काण्ड ६, १, ४) में लिखा है—

"ऋतुओं को इच्छा हुई कि वे भी देवताओं के समान यज्ञ में हिस्सा पावें, और उन्होंने कहा, 'हमें भी यज्ञ में हिस्सा दो! हमें यज्ञ के अंश से वंचित न करो। हमें भी यज्ञ में हिस्सा दो!' किन्तु देवताओं ने इसे स्वीकार न किया। जब देवताओं ने इसे स्वीकार न किया तो ऋतुएं देवताओं के ईर्षालु और नृशंस शत्रु असुरों के पास गईं। तब वे असुर धनधान्य से इतने पूर्ण हुए कि देवताओं ने उसे सुना और जबकि असुरों में प्रधान अभी जोत बो रहे थे, उनके अन्य लोग कटाई और मड़ाई कर रहे थे। उनके लिये बग़ैर जोते हुए ही फ़सलें पकने लगीं।"[1]

इस उद्धरण से यही अर्थ निकलता है कि देव और असुर चाहे वे हिन्दू और ज़रथुस्त्री रहे हों या आक्रामक आर्य या भारत की आदि जातियां रही हों; ऋतुओं के सम्बन्ध में उनका ज्ञान बहुत गड़बड़ था, जबकि एक वर्ग उसे बोने की ऋतु समझता तो दूसरे के लिये वही काटने की ऋतु होती थी।

यजुर्वेद में इस तरह के वाक्य बहुधा आते हैं—"ऋतुओं में गड़बड़ हो सकती है" (६.५, ३), और "यदि उचित रूप से निश्चित तिथियों पर यज्ञ किये

१ Prof. Eggeling's Translation.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जांय, तो ऋतुएं अपनी जगह निश्चित रहती हैं।" (६, ३, ३, १८ और ७, १, १०)।

इसका अर्थ यह है कि वैदिक ऋषियों ने अनुभव से चान्द्र तिथियों के वर्ष के अनुसार ऋतुओं का समय निर्धारित करने की निरर्थकता देखली और वे चार तरह की वर्ष गणना का आविष्कार करने में सफल हुए। वे वर्ष ये थे--३५४ दिन का चान्द्र वर्ष, ३६० दिन का सावन वर्ष, ३६५$\frac{1}{4}$ दिन का सौर वर्ष और ३६६ दिन का नक्षत्र गणना के अनुसार वर्ष। चान्द्र वर्ष और नक्षत्रों की गणना के अनुसार निश्चित किये वर्ष के अन्तर को ठीक करने के सम्बन्ध में सतपथ ब्राह्मण (११, १, २, १०) में निम्नलिखित वाक्य आते हैं--

"वास्तव में जो लोग पूर्णिमा और शुक्ल दूज के दिन यज्ञ करते हैं, वे (समय के साथ) दौड़ लगाते हैं। यह १५ वर्षों की अवधि में करना चाहिये--इन १५ वर्षों में ३६० पूर्णिमा और शुक्ल दूज होती हैं और एक वर्ष में ३६० रात्रियां होती हैं। वह इन रात्रियों को प्राप्त करता है। फिर उसे अगले १५ वर्षों तक यज्ञ करना चाहिये। इन १५ वर्षों में ३६० पूर्णिमा और शुक्ल दूज होती हैं और एक वर्ष में ३६० दिन होते हैं। इस तरह वह इन दिनों को प्राप्त करता है।"

भगवद्गीता* के पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि सूर्य जब तक छै महीने दक्षिणायन में रहता है, हिन्दू उसे रात्रि समझते हैं और जब सूर्य छै महीने उत्तरायण में रहता है तो उसे दिन समझते हैं। इसके अनुसार उपरोक्त वाक्य का यह अर्थ होता है कि १५ नक्षत्र-वर्षों में यज्ञ करने वाले को प्रत्येक २४ घंटों के १८० दिन मिलेंगे या प्रत्येक १२ घन्टों की ३६० रातें मिलेंगी। दक्षिणायन में प्रति १२ घंटों के १८० दिन रात्रि में शुमार किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में ३६६ दिन के १५ नक्षत्र वर्षों में ६ मलमास या अधिकमास पड़ते हैं, क्योंकि ३५४ दिन के प्रत्येक चान्द्र-वर्ष से नक्षत्र-वर्ष १२ दिन बढ़ जाता है। इस तरह १५ नक्षत्र वर्षों में १५×१२=१८० मलमास के दिन पड़ेंगे।

इससे यह ज़ाहिर होता है कि चान्द्र वर्ष में लगातार ३० वर्षों तक गड़बड़ी चलती रहती थी और ३० वर्ष के बाद वह फिर उपयुक्त हिसाब से शुरू होता था। इन तीस वर्षों तक उसमें मलमास के दिन न जोड़े जाते थे। यजुर्वेद में ज्योतिषियों के दो दलों का ज़िक्र आता है, जिनमें एक दल 'उत्सर्गी' कहलाता था, जो बीच में मलमास के दिन जोड़ता था; किन्तु दूसरा दल चान्द्र वर्ष को स्वतः ही ठीक होने देता था। यजुर्वेद इस दूसरे दल की वकालत नीचे लिखे शब्दों में करता है--

तदाहुर्यां वै त्रिरेकस्याह्न उपसीदंति दह्नं वै साऽपराभ्यां दोहाभ्यां दुहेऽथ कुतस्सा धोच्यते यां द्वादशकृत्व उपसीदतीति। संवत्सरं संपाद्योत्तमे मासि सकृत्पृष्ठान्युपेयुस्तद्यजमाना यज्ञं पशूनवरूंधते। समुद्रं वै एतेऽनवारमपारं प्रप्लवंते ये संवत्सरमुपयंति [७,५,३]

"इसलिये वे कहते हैं:—(गाय) जिसे वे दिन में तीन बार दुहते हैं, अगले दो बार दुहने में बहुत थोड़ा दूध देगी। फिर वह गाय कैसे दूध देगी, जिसे वे १२ बार दुहने बैठते हैं। इस तरह वर्ष पूरा होने पर अन्तिम मास के अन्त में वे छै 'पृष्ठ दिवस' मनाते हैं। इस तरह यज्ञ करने वाले अपनी बलि (वर्ष) और बिना दुही हुई गायों को बचा रखते हैं। इस तरह यज्ञ करने वाले मलमास युक्त वर्ष लेकर ऐसी स्थिति में होते हैं, जैसे किसी असीम समुद्र में तैर रहे हों।"

वर्ष को तीन बार दुहने का अर्थ है वर्ष में चार चार महीने के तीन भाग, और बारह बार दुहने का अर्थ है बारह मलमास। 'पृष्ठ' शब्द छै दिन के समय के लिये प्रयुक्त होता है, जो शायद यजुर्वेदिक काल में सप्ताह के लिये इस्तेमाल होता था।

जो दल मलमास जोड़ने के विरुद्ध था, उसके सम्बन्ध में नीचे लिखे वाक्य आते हैं :—

* भगवद्गीता, ८.२४, २५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यदहर्नोत्सृजेयुर्यथा दृतिकुरूपनद्धो विपत्येवं संवत्सरो विपतेत् । आर्तिमार्च्छेयुः पौर्णमास्या मासान् संपाद्याहरुत्सृजति संवत्सरायैव तदुदानं दधति । तदु सत्रिण उदानंति नातिमार्च्छंति । पूर्णमासे वै देवानां सुतः । [७,५,६]

"यदि वे दिन को नहीं छोड़ते, तो जिस तरह एक चमड़े की हवा से भरी थैली फूट जाती है, उसी तरह वर्ष भी बैठ जाता है और वे आफत में फंस जाते हैं। जो (मलमास का) दिन वे छोड़ देते हैं, वह मास के साथ मिलकर पूर्णिमा को निश्चित करता है और वर्ष को जीवन देता है। इस तरह यज्ञ करने वाले पुरोहितों को जीवन मिलता है और वे आफ़त में नहीं पड़ते। पूर्णिमा के दिन देवताओं को 'सुत' (सोमरस) की अंजलि दी जाती है।"

मलमास जोड़ा जाय या न जोड़ा जाय इस विषय को लेकर मालूम होता है कि वैदिक काल के ज्योतिषियों में ख़ासी चख़चख़ और गरमा गरमी रही। यजुर्वेद में इस सम्बन्ध में नीचे लिखा उद्धरण आता है :—

उत्सृज्यां ३ नोत्सृज्या ३ मिति मीमांसते ब्रह्मवादिनः तद्वाहुरुत्सृज्यमेवेत्यमावस्यां च पौर्णमास्यां चोत्सृज्यमित्याहुरेते हि यज्ञं वहत इति ते त्वाव नोत्सृज्ये इत्याहुः ये अवांतरं यज्ञं भेजाते इति। [७,५,७]

"ब्रह्मवादी इस पर बहस करते हैं कि वे इसे छोड़ें—या न छोड़ें। वे कहते हैं कि इसे अवश्य छोड़ना चाहिये। वे कहते हैं कि इसे नये चान्द्रदिवस पर और पूर्णिमा पर छोड़ना चाहिये, क्योंकि वही दिन यज्ञ के दिन हैं। किन्तु जो लोग कहते हैं कि उसे नहीं छोड़ना चाहिये; वे इसलिये कहते हैं कि नया चान्द्रदिवस और पूर्णिमा विशेष यज्ञों के दिन हैं।"

किन्तु यह स्पष्ट नहीं लिखा है कि दिनों या महीने या चार महीनों में मलमास जोड़ने या न जोड़ने का प्रश्न सौरवर्ष के सम्बन्ध में था या नक्षत्रवर्ष के सम्बन्ध में ? ऊपर की बहस यज्ञों के सम्बन्ध में है। ये यज्ञ 'गवाम आयने' या 'गोपथ' कहलाते थे और गोपथ चूंकि मलमास के दिन मिला कर बनाया जाता था इसलिये उपरोक्त उद्धरण ३६६ दिन के मलमास के सम्बन्ध में ही होगा। उपरोक्त उद्धरण में मलमास के चाहे जिस रूप की बहस हो, चाहे वह सौरवर्ष, नक्षत्रवर्ष या चान्द्रवर्ष के अन्तर को दूर करने के लिये हो या सौरवर्ष में दिन का हिस्सा जोड़ने के लिये हो, यह बात बिलकुल निश्चित है कि वैदिक ऋषि मलमास की समस्या से पूरी तरह परिचित थे। यह स्वतः प्रमाणित वास्तविकता है कि जब तक किसी जाति को वर्ष, मास और दिन गिनने न आयें और उस समय-गणना में उसे कोई ग़लती दिखाई न दे, तब तक वह जाति स्वप्न में भी मलमास जोड़ने की बात नहीं सोच सकती। इसलिये यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों ने वर्ष, मास और दिन गिनने का कोई तरीक़ा निकाल रखा होगा। किन्तु यह भी एक मानी हुई बात है कि वैदिक काल में, चाहे उसका समय कुछ हो, लिखने की कला से लोग परिचित न थे। लिखने की कला के अभाव के कारण किसी भी बात की याद स्मृति में रखनी पड़ती थी। इस बात के कहने की ज़रूरत नहीं कि वैदिक ऋषि स्मरणशक्ति के बढ़ाने को बहुत महत्व देते थे। कितने वर्ष बीतते जाते हैं, इस बात का हिसाब कैसे रखा जाय, इसके लिये वैदिक ऋषि प्रति वर्ष किसी न किसी छन्द में ऐसे नए नए मंत्र रचते थे, जिनके अक्षरों की संख्या ३६० होती थी। चूंकि 'सावन' वर्ष में ३६० दिन ही होते थे, इस हिसाब से मंत्रों के अक्षर उतने दिनों की अवधि को व्यक्त करते थे। सतपथ ब्राह्मण में पारिप्लवोपाख्यान (१३,४,३,१-१५) में इस विचार की पुष्टि मिलती है। होत्री द्वारा दस-प्राचीन राजाओं और उनके अश्वमेध यज्ञों के कारनामों को व्यक्त करने वाले मंत्रों पर टीका करते हुए सतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

"इन चक्राकार कहानियों में, राजाओं की कहानी, समस्त धर्म, समस्त वेद, समस्त देवता, समस्त प्राणियों और सच पूछा जाय तो होत्री जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कुछ भी जानता है, इन कहानियों में हमें बताता है। जो भी इसे (सुन लेता है) जान लेता है, वह राजत्व और जनता के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करता है। वह वेदों का ज्ञाता बनता है और देवताओं को सन्तुष्ट करके सब प्राणियों के ऊपर अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करता है। यह क्रम बार बार पूरे वर्ष तक चलता रहता है और फिर भी समाप्त नहीं होता; चलता ही रहता है, इसलिये इसे चक्राकार या क्रम-गत (कहानी) कहा जाता है। ३६×१० दिन तक होत्री इसे कहता है—बृहति छन्द में ३६ मात्राएं हैं और पशुओं का सम्बन्ध बृहति छन्द से है। बृहति के द्वारा वह अपने लिये पशुओं का आयोजन करता है। [१३,४,४,१५,][1]

ऐतरेय आरण्यक[2] में इस बात को और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक दिन मंत्र के प्रत्येक अक्षर को ज़ाहिर करता है:—

"एक हज़ार बृहति छन्दों से यह सम्पूर्ण होता है और वह मन्त्र पूर्ण है जिसमें एक हज़ार बृहति छन्द हों, जिनके ३६,००० अक्षर हों। एक सौ वर्ष में इतने ही (३६,०००) दिन होते हैं। व्यंजनों से रातें बनती हैं और स्वरों से दिन।"

इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि ३६० दिन के सावन वर्ष को ३६, ३६ दिन के दस हिस्सों में बांटते थे और इन दस हिस्सों को विविध पशुओं का नाम देते थे और ३६ अक्षरों के १० बृहति छन्दों में भी प्रत्येक वर्ष के दिनों का हिसाब रखते थे जिनकी वे एक वर्ष में या एक नियुक्त अवधि में रचना करते थे। प्राचीन मिस्री भी वर्ष को ३६ हिस्सों में बांटते थे।[3] मिस्रियों को यह ज्ञान हज़रत ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व था। चूंकि ये दोनों देश एक दूसरे से स्वाधीन यह समय-गणना प्रणाली ईजाद नहीं कर सकते इसलिये यही सम्भव है कि मिस्रियों ने यह वर्ष-गणना आर्यों से सीखी। इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि आर्यों को यह ज्ञान बहुत पहले से था। हमारी दलील यह है कि प्रति वर्ष वैदिक मंत्रों में ३६ अक्षरों के १०-१० छन्द जुड़ते जाते थे। इससे दोनों काम पूरे होते थे—बीते हुए दिनों का भी हिसाब रहता था और देवताओं की पूजा और यज्ञ आदि की तिथियों में भी कोई गड़बड़ न होती थी।

'वेद' शब्द से भी यही तात्पर्य है। वेद शब्द का दो अर्थों में उपयोग होता है—(१) 'कुश[1] (घास) की संख्या' और (२) 'पवित्र मन्त्रों का संग्रह'। वेद का शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान'। इससे स्पष्ट है कि वैदिक कवि वेद से कुश (घास) की संख्या और पवित्र मन्त्रों के अक्षरों की संख्या (जिनसे उनके युग को प्रारम्भ हुए कितने दिन बीते) इन दो बातों का हिसाब रखते थे। हिन्दुओं में अब भी यह रिवाज है कि वे समस्त यज्ञों में 'वेद' यानी कुश की ग्रन्थियां बनाते हैं और यज्ञ के बाद उन्हें हवन कुण्ड में डाल देते हैं। प्राचीन मेक्सिको के निवासी दिनों या वर्ष का हिसाब रखने के लिये उतनी ही बेतों के टुकड़ों का बण्डल बनाते थे। प्रेस्काट अपनी 'हिस्ट्री आफ़ मैक्सिको' में लिखता है कि "मैक्सिको वाले ५२ वर्षों का एक युग शुमार करते थे और उसे वे 'गट्ठा' या 'बण्डल' कहते थे और इसके लिये वे उतनी ही बेतों को रस्सी से बांधकर एक साथ रखते थे।" इसलिये यह बहुत सम्भव है कि मैक्सिकोवासियों का जो काम बेतों के बण्डल से पूरा होता था वही वैदिक कवि कुश से पूरा करते थे। वैदिक मन्त्र दिमाग़ और कान को मधुर लगते थे तो वैदिक कुश आंखों को सन्तोष देते थे। इस तरह ये दो प्रकार के वेद वर्ष और दिनों का हिसाब रखने और उनमें किसी तरह की ग़लती न होने देने के सच्चे उपाय थे। जब कि वैदिक कुश को ४ अथवा ५२ वर्षों के युग के बाद यज्ञ में आहुति की तरह छोड़ देते थे, वैदिक मन्त्रों को जिनमें नई से नई और बिलकुल शुरू से पुरानी

१ Prof. Eggeling's Translation.
२ Prof. Muller's Translation.
३ देखो इनसाइक्लोपीडिया बिट्रैनिका में जोडियाक

१—देखो हाग द्वारा अनुवादित ऐतरेय ब्राह्मण के पृष्ठ ४२ और ७६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऋचाएं शामिल होती थीं, इतनी सावधानी के साथ कण्ठस्थ कर लिया जाता था कि उनका एक भी अक्षर घट बढ़ नहीं सकता था। सभी प्राच्य विशारद इस बात को जानते हैं कि ब्राह्मण लोग वैदिक मन्त्रों की रक्षा पर बेहद ज़ोर देते थे और अब भी देते हैं। किन्तु यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि वैदिक मन्त्रों के अक्षरों में बाद में कुछ भी हेर फेर नहीं किये गये और या मन्त्रों के क्रम में भी कोई परिवर्तन नहीं किया गया। हमें यजुर्वेद के ही मन्त्रों के विभाजन में तीन क्रम मिलते हैं जो 'कृष्ण यजुर्वेद,' 'शुक्ल यजुर्वेद' और 'मैत्रायणीय यजुर्वेद' कहलाते हैं। उनके क्रम और उनके पाठों में यत्रतत्र इतना अन्तर मिलता है कि यह मानने के लिये विवश होना पड़ता है कि वेदों के क्रम और विषय-तत्त्व में भी थोड़े बहुत हेर फेर अवश्य हुए होंगे। फिर भी एक लम्बे काल तक वेदों से दो मतलब सिद्ध हुए—(१) देवताओं की उपासना और (२) दिनों और वर्ष की गणना। हमारे इस कथन की पुष्टि ऋग्वेद के इतने अधिक मन्त्रों से होती है कि उन सबको यहां उद्धृत कर सकना असम्भव है। उनमें से हम यहां कुछ दे रहे हैं—

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।

ऋग्वेद १,६७,३

बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।

ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्य के स्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति॥

ऋ० १,८३,६

तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्यं मघवा नाम बिभ्रत्।

ऋ० १,१०३,४

इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः।

ऋ० ३,६०,६

युगे युगे विदथ्यं गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम्।

ऋ० ६,८,५

वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।

चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः॥

ऋ० १,७१,२

ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासो अत्याः।

ताँ आ तिष्ठ तेभिरा याह्यर्वाङ् हवामहे त्वा सुत इन्द्र सोमे।

ऋ० १,१७७,२

धेनुं न त्वा सुयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः।

त्वामिन्मे गोपतिं विश्व आहा न इन्द्रः सुमतिं गन्त्वच्छ॥

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः

ऋ० ७,१८,४

आ नक्ता बर्हिः सदतामुषासोशन्ता मित्रावरुणा यजेह।

ऋ० ७,४२,५

सा त्वं न इन्द्र धियसानो अर्कैर्हरीणां वृषन्योक्त्रमश्रेः

ऋ० ५,३६,२

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुजयमश्विना सङ्गतिं गोः।

ऋ० ४,४४,१

अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः।
नियुद्भिश्चर्षणीनाम्।

ऋ० ४,३१,४

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद।
वीहि शूर पुरोडाशम्।

ऋ० ३,४१,३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सहज बुद्धि हमें यही मानने के लिए विवश करती है कि वैदिक ऋषि दिनों की गणना मंत्रों के अक्षरों और कुश आदि से करते थे। इन चीज़ों का कोई पौराणिक या धार्मिक तात्पर्य नहीं हो सकता। ऋग्वेद की उपरोक्त और अन्य ऋचाओं से मुख्य आशय यह निकलता है कि इन्द्र और अग्नि शुक्ल दूज और पूर्णिमा की विशेष तिथियों के नाम थे और इनके आने का ज़िक्र बार बार आता है। यह समझ लेने पर हम उस कथा को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिसके अनुसार किसी पक्षी या गाय द्वारा शुक्ल दूज के लाने का ज़िक्र मिलता है। 'जगती' और 'तृष्टुभ' छन्दों में दो या तीन अक्षरों की कमी हो जाने की कहानी प्रचलित है। उस समय मंत्र के अक्षरों से दिनों की गणना होती थी। यदि नया चन्द्रमा या पूर्णिमा का चन्द्रमा छन्द के अक्षरों की संख्या से दो या तीन दिन बाद निकलता तो उस समय के प्रचलित तरीक़े से लोग कहते कि नये चन्द्रमा को लाने में यह छन्द दो या तीन अक्षरों से घट गया। उस काल में एक प्रथा यह भी थी कि यज्ञ मंडप के बीच में अलग-अलग सूखी और हरी दूर्वा बिछा देते थे। सूखी दूर्वा दिन की प्रतीक थी और हरी दूर्वा रात्रि की प्रतीक थी। इन्हीं दूर्वाओं को देखकर लोग प्रार्थना मंत्र कहते रहते थे।

इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रत्येक युग की समाप्ति पर उस युग में जितने दिन होते थे उतने ही अक्षरों के मंत्र रचे जाते थे। इस तरीक़े से वैदिक ऋषि बीते हुए दिनों का हिसाब रखते थे और इसी हिसाब से वे दूज और पूर्णिमा की तिथियों को ठीक ठीक अनुमान कर सकते थे। इसी तरीक़े से वे मलमास के दिनों और यज्ञ के विशेष दिनों का भी हिसाब रखते थे। इसी सिद्धान्त को सामने रखकर सतपथ ब्राह्मण के रचयिता ने ऋग्वेद के समस्त अक्षरों को जोड़ डाला है और हिसाब लगाया है कि पूरा ऋग्वेद कितने वर्षों में लिखा गया—

'प्रजापति ने अपने मन में सोचा कि सृष्टि की जितनी भी वस्तुएं हैं वे सब त्रिगुणों में आ जाती हैं तो मैं अपने लिए एक ऐसी देह बनाऊं कि जो इन त्रिगुणों को अपने अन्दर रख सके।

"उसने ऋग्वेद के मंत्रों को १२ हज़ार बृहति (हर बृहति छन्द में ३६ अक्षर होते हैं) में बांटा, (यह इसलि) कि प्रजापति ने इतने ही मंत्रों की रचना की थी। तीसवें भाग में पंक्ति[२] (पंक्ति में ४० अक्षर होते हैं) को रखा चूंकि ३० भागों में बृहति रखा गया इसलिये महीने में ३० रातें होती हैं। इसके बाद प्रजापति ने पंक्ति की रचना की। कुल पंक्ति १०,८०० हैं।

"फिर उसने अन्य दो वेदों को १२ हज़ार बृहति में लिखा। ८ हज़ार यजु में और ४,००० साम में। इन दोनों वेदों में (भी) प्रजापति ने इतने ही मंत्रों की रचना की" [सतपथ ब्राह्मण १०, ४, २, २२, २४,]

यहां पर प्रजापति से तात्पर्य वर्ष से है। ऊपर के उद्धरण में प्रजापति का प्रयोग वर्ष के अर्थ में ही किया गया है। प्रजापति की देह से तात्पर्य एक युग या कुछ वर्षों के एक काल से है। वैदिक आर्य ३६० दिन के सावन वर्ष को मानते थे और ३६५ ¼ सौर वर्ष के अन्तर को वे हर चौथे सावन वर्ष के बाद २१ दिन जोड़ कर पूरा करते थे। इस तरह ऋग्वेद के ३६ अक्षरों के १२,००० बृहति मंत्रों के ४,३२,००० अक्षर हो जाते हैं। इस हिसाब से ४,३२,००० दिन या १२०० सावन वर्ष होते हैं। इस तरह सतपथ ब्राह्मण के रचयिता के अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद १२०० वर्षों में लिखा गया। सतपथ ब्राह्मण का रचयिता यजुर्वेद का और सामवेद का रचना काल भी १२०० वर्ष मानता है इस हिसाब से समस्त वेद २४०० वर्षों में लिखे गये। किन्तु अन्य बातों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेद और सामवेद के मंत्रों की रचना ऋग्वेद के मंत्रों की तरह दिनों की गणना को ध्यान में रखते हुए नहीं हुई।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यूरोप में वैदिक देवता मित्र

पण्डित सुन्दरलाल

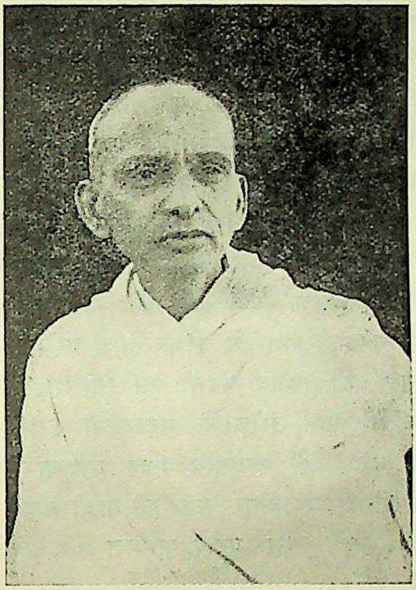

"पुराना ईरानी धर्म यानी अवस्ता का धर्म उसी सोते से निकला है, जिससे हिन्दुस्तान के ऋषियों का धर्म; यानी दोनों उस धर्म से निकले हैं, जिसका ईरानियों और हिन्दुस्तानियों दोनों के पूर्वज पालन करते थे।" [1]

तीन हज़ार साल पहले के ईरानी वरुण, इन्द्र, अग्नि, वायु, सोम, मित्र आदि वैदिक देवताओं की पूजा करते थे। वेदों का 'असुर विश्व वेदस्' या 'असुर मेधा' अवस्ता का 'अहुरमज़्द' है। 'मित्र' का नाम अवस्ता में मिथ् है। दोनों शब्दों का दोनों भाषाओं में एक ही अर्थ है। अवस्ता में ठीक उन्हीं शब्दों में मिथ् की स्तुति की गई है, जिन शब्दों में ऋग्वेद में मित्र की। संस्कृत में 'मित्र' का अर्थ 'सूर्य' भी है। ईरानी भी सूर्य के रूप में मिथ् की पूजा करते थे। अवस्ता और ऋग्वेद दोनों में मित्र को 'सत्य' और 'ज्योति' का देवता माना गया है। ऋग्वेद और अवस्ता में मित्र और वरुण के नाम अकसर साथ साथ आते हैं। वरुण को 'तेजोमय आकाश' और मित्र को 'आकाश का तेजपुंज' कहा गया है। दोनों का साथ साथ नाम लिया जाता है और दोनों को प्राणियों और बनस्पतियों में जान डालने वाला बताया गया है। [2] ईरान में ज़रथुस्त्र के बाद मित्र और वरुण को अहुरमज़्द ही के अलग अलग नाम बताकर अहुरमज़्द के साथ ही मिला दिया गया। ४०४ ई० पू० में ईरान भर में सम्राट आर्तक्षत्र दूसरे के समय अहुरमज़्द के साथ साथ मित्र (मिथ्) की भी पूजा होने लगी और मिथ्री सम्प्रदाय के नाम से ही एक बहुत बड़ी सम्प्रदाय क़ायम हो गई।

ईरान के पड़ोसी बाबुल में हज़ारों वर्ष पहले से 'सूर्य' की पूजा होती थी। सूर्य बाबुल का सब में महान देवता था। ईरानियों ने जब बाबुल को विजय किया, तो मित्र को सूर्य के साथ मिलाकर एक कर लिया। धीरे धीरे सूर्य के रूप में ही मित्र की पूजा होने लगी। उसके सैकड़ों मन्दिर बन गये। मित्र को ही अहुरमज़्द का प्रतिनिधि और सूर्य को उसका सबसे ज़्यादह शानदार और चमकदार रूप मान लिया।

जिस समय बौद्ध धर्म भारत की सीमाओं से निकल कर पूर्वीय देशों की ओर फैल रहा था, ठीक उसी समय वैदिक ईरान से ज़रथुस्त्री धर्म की यह निहायत दिलचस्प मित्री या मिथ्री सम्प्रदाय पश्चिम के देशों की ओर फैल रही थी। मित्री सम्प्रदाय की दिग्विजयों के मुक़ाबले में किसी भी

१ The Zend-Avesta, Part I, Introduction by James Darmesteter, P, LVII.

२ ऋग्वेद ५,६९,१; ६,५१,१; ६,६७,५; ७,६१,३।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्राट की राजनैतिक दिग्विजय फीकी मालूम होती हैं।

न सिर्फ़ उन मुल्कों में जिन पर ईरानियों की हुकूमत थी, बल्कि उन देशों में भी जो बिलकुल ख़ुद मुख़्तार थे, यहां तक कि ईरानियों के प्रतिस्पर्धी रोमी साम्राज्य के अन्दर भी, मिथ्री धर्म के शान्त और सच्चे उपदेशक रास्ते की सैकड़ों तरह की मुसीबतों को सहते हुए पहुँचते थे। न उनके दिलों में कोई राजनैतिक मतलब छिपा हुआ था और न किसी तरह का स्वार्थ। मानव मात्र के प्रति प्रेम ही उन्हें बहाए लिये चला जाता था। उनकी तपस्या, उनका आत्म-बल और उनका चरित्र लाखों के दिलों को खींच लेता था। नतीजा यह हुआ कि इन सब देशों में मिथ्री (मित्री) धर्म फैलता चला गया—

"एक समय था जब कि पश्चिम में स्पेन से लेकर पूरब में अनातोलिया (एशिया कोचक) तक और उत्तर में इङ्गलिस्तान की उस दीवार से लेकर जिस तक किसी समय रोमियों का राज्य था, दक्खिन में सिकन्दरिया और मेम्फ़ी (मिस्र की राजधानी) तक लातीनी (रोमी) दुनिया के हर कोने में मित्र की पूजा होती थी; और इससे भी बढ़कर बात यह थी कि रोमी साम्राज्य के सर्वहारा वर्ग की जनता ही नहीं, बल्कि रोमी फ़ौजों के सेनापति, रोमी सूबों के गवर्नर और ख़ुद रोम के सम्राट तक मिथ्र (मित्र) की पूजा करते थे।" [1]

"आज के दिन यूरोप में शायद कोई भी अजायबघर ऐसा नहीं है, जिसमें इस मित्र देवता का कोई न कोई चिन्ह, धातु या पत्थर में उभरा हुआ या खुदा हुआ, कोई न कोई लेख या चित्र या कोई न कोई देखने के क़ाबिल यादगार मौजूद न हो।" [2]

हज़रत ईसा के जन्म से चार सौ साल पहले से लेकर उनकी मृत्यु के लगभग चार पांच सौ साल बाद तक एक एक कर पच्छिमी एशिया, मिस्र और अफ़रीका के दूसरे उत्तरीय देशों के अलावा यूनान, बलकान, इटली, पोलैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स, बेल्जियम, आस्ट्रिया, हंगरी, स्वीज़रलैण्ड, स्पेन और इंगलिस्तान यानी सारे यूरोप में—जहां जहां थोड़े बहुत आदमी भी सभ्य या अर्ध सभ्य कहला सकते थे, मिथ्र (मित्र) के बेशुमार मन्दिर थे और मिथ्र ही की पूजा होती थी। इंगलिस्तान में नार्थम्बरलैण्ड, राचस्टर, कैम्बक फ़ोर्ट, आक्सफ़ोर्ड, यार्क, मैनचेस्टर और लन्दन में मिथ्र के मन्दिर और उसकी मूर्तियां भरी हुई थीं। रोम और बाक़ी इटली उसके उपासकों से ठसाठस था। [3]

जिस वक़्त बौद्ध धर्म की महायान सम्प्रदाय प्रशान्त महासागर से लेकर मध्य एशिया तक की दुनिया को विजय करती जा रही थी, ठीक उसी वक़्त और उन्हीं तरीक़ों से मज़दयस्नी ईरानी वैदिक धर्म की मिथ्री सम्प्रदाय मध्य एशिया से लेकर अटलांटिक महासागर तक की बाक़ी आधी दुनिया को, जिसमें सारा यूरोप शामिल था, विजय कर रही थी।

हज़रत ईसा के बाद की शुरू की सदियों में रोम के एण्टोनाइन सम्राट, जिनके सुशासन में रोम ने अपूर्व वैभव प्राप्त किया, मिथ्री धर्म के ही मानने वाले थे। उनके समय में मित्र की उपासना सारे रोमी साम्राज्य में फैल गई। सम्राट कैम्मोडस (१८०-१९२ ई०) के समय में लिखा है कि यह धर्म साम्राज्य के अन्दर "ज्वाला की तरह चमक उठा।" सम्राट डायोक्लीटियन (२४५-३१३ ई०) मित्र का बहुत बड़ा भक्त था। सम्राट जूलियन जो अपनी पवित्र ज़िन्दगी, अपनी नेकी, अपनी उदारता, अपने विश्व प्रेम, अपनी विद्वत्ता और प्रजापालकता के लिये मशहूर है, रोम का अन्तिम मिथ्री सम्राट था!

यूरोप में मित्र देवता की इस व्यापक उपासना के तीन ख़ास सबब गिनाये जा सकते हैं—

(१) इतिहास से पता चलता है कि शुरू की इनसानी क़ौमें जो क़ुदरत की किसी न किसी जड़

---

१ Mithaism, by W. J Phythian Adams M. A., P. 3.

२ Ibid, P. 4.

३ Ibid, PP. 21-26.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ताक़त के रूप में ही परमात्मा के दर्शन करना चाहती हैं और कर सकती हैं, किसी भी चीज़ से इतना असर नहीं लेतीं जितना प्रकाश के भण्डार, सब प्राणियों को जान और गरमी देने वाले चमचमाते हुए सूर्य से। ख़ासकर यूरोप के ठण्डे देशों के लिए सूर्य और भी ज़बरदस्त बरकत था और वहां की अर्ध सभ्य क़ौमों के लिये इस नए धर्म के पहुंचते ही अपने पुराने देवताओं को छोड़कर या उनके साथ साथ मित्र की पूजा करने लगना और अन्त में मित्र को ही अपना सबसे बड़ा देवता मान लेना क़ुदरती था।

(२) मित्र की पूजा के साथ साथ जो नए नए कर्मकाण्ड और कई नए त्योहार ईरान से यूरोप पहुँचे, वे यूरोप के लोगों के दिलों को और भी ज़्यादह लुभाने वाले थे। रविवार सूर्य का ख़ास दिन है। इसलिये हर रविवार को मिथ्री लोग काम काज बन्द करके छुट्टी मनाते थे। इतवार की छुट्टी का रिवाज यूरोप में मिथ्री धर्म से ही शुरू हुआ। मकर संक्रान्ति को जिस दिन सूरज दक्षिणायन रहने के बाद उत्तर की तरफ़ मुड़ना शुरू करता है, मित्र के उपासक सूरज के जन्म का दिन समझते थे और बड़े उत्साह और समारोह से हर साल उसका त्योहार मनाते थे। २५ दिसम्बर मित्र देवता का सबसे बड़ा त्योहार था। तीन महीने बाद जब सूरज निरक्ष (ईक्वेटर) को पार कर उत्तरायण में जाता था, मिथ्रियों का दूसरा बड़ा त्योहार होता था जिसे अब लोग ईस्टर कहते हैं। मिथ्री मन्दिरों की मूर्तियां, दो मशालों वाले चित्रों के साथ मित्र की अजीब त्रिमूर्ति, मन्दिर में पवित्र जल और पवित्र अग्नि, उसको हर वक़्त जलते रखना और वहां की पूजा वग़ैरह, सब बातें बड़ी चित्ताकर्षक होती थीं।

(३) लेकिन जिस बात ने यूनान के फ़िलासफ़रों, सिकन्दरिया के ज्योतिषियों और वैज्ञानिकों और रोम के राजनीतिज्ञों को इस ईरानी धर्म की तरफ़ खींचा, वह उसके ऊंचे आध्यात्मिक सिद्धान्त, उसका कठोर आत्म संयम और दूसरे धर्मों के साथ उसकी उदारता थी। इतिहास लेखक एडेम्स लिखता है कि उस ज़माने का मिथ्री धर्म "एक ज़िन्दा और अमली धर्म था जो रूहानी ताक़त से भरा हुआ था और जिसमें बहुत सी ऊंची और प्रबुद्ध सचाइयां शामिल थीं।"

रोमी सेना के अन्दर यह धर्म बहुत ही ज़्यादह तेज़ी के साथ फैला जिसकी वजह बयान करते हुए एडेम्स लिखता है—"जिन लोगों की जान रोज़ ख़तरे में रहती थी और जिनके प्रचलित धार्मिक विश्वास के अनुसार मरने के बाद सिवाय नेस्त हो जाने के और कोई आशा न हो सकती थी, उन्हें इस धर्म ने मरने के बाद भी अनन्त जीवन की आशा दिलाई।"

यही लेखक आगे चलकर लिखता है—"रोमी साम्राज्य उस वक़्त एक ऐसी ज़मीन की तरह था, जो बारिश न होने के कारण सूखी और बंजर पड़ी थी। उस साम्राज्य में न किसी तरह का सदाचार पैदा हो सकता था और न कोई मानसिक जीवन। ऐसे मौक़े पर मिथ्री धर्म एक ऐसी ज़ोरदार लहर की शक्ल में एशिया से चलकर सारे रोमी साम्राज्य के ऊपर बह निकला, जिस लहर ने वहां की सोई हुई आत्माओं को फिर से जगा दिया और बंजर ज़मीन में हरियाली पैदा कर दी। जो आत्माएं सच्चे ज्ञान की प्यास से तड़प रही थीं या जो ख़ाली निःशंक अज्ञान के जंगल में सूख सूख कर ख़ाक हो रही थीं, उन सबको इस धर्म ने मानसिक और नैतिक आहार पहुंचाकर फिर से तरोताज़ा कर दिया। इन सबके सामने उसने एक नई आशा रखी, उन्हें एक नई रोशनी दी, उन्हें एक सच्चा सन्देश सुनाया और उन्हें असली नई ज़िन्दगी का रास्ता दिखाया।"

मिथ्री धर्म ने ही सबसे पहले यूरोप वालों को भलाई और बुराई का फ़र्क़, आत्मा की अमरता, मरने के बाद की ज़िन्दगी, कर्मों के फल और मोक्ष का विश्वास दिलाया। उस वक़्त तक यूरोप के जन समाज को इन बातों की कोई कल्पना न थी। सदाचार के सम्बन्ध में इस धर्म के असूल बिलकुल स्पष्ट थे। रोम का आख़िरी मिथ्री सम्राट जूलियन लिखता है कि—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

"इस तरह के बिलकुल साफ़ साफ़ नियमों की एक फ़ेहरिस्त थी, जिन पर अमल करने से हर श्रद्धालु भक्त को परमानन्द यानी मोक्ष प्राप्त करने का विश्वास हो सकता था।"[1]

मिथ्री धर्म में मामूली लोगों के लिये सचाई, नेकचलनी, एक दूसरे से प्रेम का व्यवहार और ऊंची रूहानी ज़िन्दगी की इच्छा रखने वालों के लिये साधना यानी सलूक के दरजे बदरजे नियम और साधकों के एक दूसरे के बाद सात दरजे थे। हर दरजे की बाज़ाब्ता दीक्षा दी जाती थी। सबसे पहले साधक को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि मैं "ज़िन्दगी भर मित्र के एक सिपाही की हैसियत से अन्याय और बुराई की ताक़तों के साथ लड़ता रहूंगा।" इसके बाद उसे १२ इम्तहानों में से निकलना पड़ता था। उसे जलती हुई धूप और चीरती हुई सरदी में नंगे बदन खड़ा रहना पड़ता था, उसे लम्बे लम्बे सजल और निर्जल उपवास रखने पड़ते थे, उसे डूबने के कष्ट का अनुभव करने के लिये जल के अन्दर डुबकी दी जाती थी। इन सब तपस्याओं की ग़रज़ होती थी, उसे सख़्ती का आदी बनाना और इस क़ाबिल कर देना कि दुनियां की विषय वासना उसके मन को वश में न कर सके। इस तरह धीरज, इन्द्रिय संयम और मित्र के नाम पर पूरे आत्मसमर्पण की शिक्षा लेने के बाद उसके माथे पर 'क्रूश' का सा एक निशान बनाया जाता था, उसका नया 'बपतिस्मा' होता था, जिसका मतलब यह था कि अपने सब पिछले पापों से उसे छुटकारा मिल गया। इस तरह साधकों के सात दरजों को एक दूसरे के बाद पार करते हुए आख़ीर में हर मित्री साधक की 'जीवित मृत्यु" का एक संस्कार होता था; जिसके बाद समझा जाता था कि साधक अब दुनिया की तरफ़ से मरकर आध्यात्मिक पुनर्जन्म प्राप्त कर चुका और इस शरीर की मृत्यु के बाद अनन्त जीवन और नित्य सुख का हक़दार होगया।

बिला शुबह इस तरह का धर्म उस समय के यूरोप की समाजी और दिमाग़ी हालत में ग़रीब और अमीर, पढ़े और बेपढ़े सबकी आध्यात्मिक प्यास को बुझाने और उन्हें आध्यात्मिक तरक़्क़ी की तरफ़ ले जाने का सुन्दर ज़रिया था। यही वजह थी कि उसे यूरोप में इतनी ज़बर्दस्त सफलता मिली।

दूसरे धर्मों के प्रति मित्र धर्मावलम्बियों के सलूक का सबसे सुन्दर नमूना अन्तिम मिथ्री रोमी सम्राट जूलियन था। "उसका जीवन एक सच्चे दार्शनिक और सच्चे तपस्वी का सा कठोर जीवन था।" उसने अपने दरबार के अन्दर सम्राट दारा (ईरान) प्रथम, सम्राट हर्ष वर्धन, सम्राट अकबर, और ख़लीफ़ा हारूंरशीद की तरह सब धर्मों के विद्वानों को जमा करके यूनान के नये अफ़लातूनी दर्शन और दुनिया के उस समय के सब धर्मों की अच्छी अच्छी और हितकर बातों को लेकर एक समन्वय पैदा करने की वह कोशिश की जिसके बारे में कहा गया है कि—

"दुनिया के इतिहास में धार्मिक समन्वय की उससे ज़्यादह बड़ी कोशिश कभी नहीं की गई।"*

धर्मान्ध ईसाइयों द्वारा जूलियन की हत्या के थोड़े दिनों के अन्दर मिथ्री धर्म न सिर्फ़ रोमी साम्राज्य से बल्कि सारे यूरोप से लोप होना शुरू हो गया। फिर भी पांचवीं सदी ईस्वी तक इस सम्प्रदाय के लाखों आदमी स्विज़रलैण्ड, हंगरी और दक्षिण जर्मनी में पाये जाते थे। उनकी टूटी हुई मूर्तियां, लेख और मन्दिरों के पत्थर अभी तक अजायबघरों में देखने को मिलते हैं। ईसाई धर्म ने कब, क्यों और कैसे मित्र के उपासकों को चुन चुन कर यूरोप से मिटाया इसकी कहानी अत्यन्त करुण और दर्दनाक है।

मिथ्री धर्म यूरोप से मिट गया किन्तु ईसाई धर्म के ऊपर वह अपनी छाप—क्रिसमस, ईस्टर, क्रूस, बपतिस्मा आदि के रूप में सदा के लिये छोड़ गया है।

१ Emperor Julian—"Convivium", P. 336.

* Encyclopedia Brittanica, See Julian.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पांच हज़ार वर्ष पूर्व की सुमेरी संस्कृति

सर लिओनर्ड वूली

हज़रत ईसा से हज़ारों वर्ष पूर्व दजला और फ़िरात नदियों के किनारे किनारे अनेक नगर आबाद हो चुके थे। प्रत्येक नगर में एक मन्दिर होता था जहां का पुरोहित ही उस नगर का राजा होता था। प्राचीन सुमेरी उसे 'पटेसी' कहते थे। धीरे धीरे इन अनेक नगर राज्यों को मिलाकर सारे देश में एक केन्द्रीय सत्ता क़ायम हुई। इस केन्द्रीय सत्ता की पहली राजधानी किश नगर में स्थापित हुई। फिर किश के बाद राजनैतिक सत्ता का केन्द्र एरेक नामक नगर बना। किश और एरेक में लगभग २५ राजाओं ने राज्य किया। एरेक के बाद उर का पहला ऐतिहासिक राजकुल शुरू हुआ। उर की सत्ता का प्रारम्भ ३१०० ईसा पूर्व माना जाता है। उर राजकुल का संस्थापक मेस-अन-नि-पद-द समझा जाता है।

उर में खुदाई करते हुए हमें एक क़ब्रिस्तान मिला है जिसकी पुरानी क़ब्रें ईसा से कम से कम ३५०० वर्ष पहले की हैं। इस क़ब्रिस्तान से प्राचीन सुमेर की संस्कृति और सभ्यता, रीति रिवाज और शिल्पकला का यथेष्ट परिचय मिलता है। साधारण नागरिकों की लाशों को दफ़नाने के लिये ज़मीन में ५ फुट लम्बा चौड़ा गड्ढा खोद लिया जाता था और उसी में लाश को चटाई से लपेट कर दफ़न कर दिया जाता था। कुछ अण्डाकार शक्ल के मिट्टी के बर्तन मिले हैं जिनमें मुर्दे को पैर सिकोड़ कर पहले बन्द कर देते थे फिर इन बर्तनों को दफ़न कर दिया जाता था। कुछ निजी चीज़ें जिन्हें मृत मनुष्य अपने जीवन में उपयोग करता था उसकी क़ब्र में रख दी जाती थीं। बाज़ बाज़ मुरदे धड़ से ऊपर जले हुए मिले हैं। किन्तु इस तरह की अधजली लाशें अधिक पुरानी मालूम होती हैं। धनिकों की लाशों को भी ज़मीन में गड्ढा खोदकर दफ़नाया जाता था लेकिन उनके ऊपर ईंट या पत्थर की इमारत खड़ी की जाती थी। मक़बरों में चारों ओर मेहराबें होती थीं। छत और दीवारों में मिट्टी का गारा इस्तेमाल होता था लेकिन दीवार के भीतर की तरफ़ उम्दा चूने का प्लास्टर होता था। कितने अचरज की बात है कि इतने पुराने ज़माने में भी सुमेरी लोग सतूनों, मेहराबों, डाट और गुम्बद जैसी उन सब इमारती कारीगरियों से पूरी तरह परिचित थे जिनका बनाना उसके हज़ारों साल बाद तक भी यूरोप वालों को न आता था।

इन क़बरों में सोने और चांदी का बेहद सामान पाया गया है। न सिर्फ़ पहनने के ज़ेवर बल्कि बरतन, हथियार और औज़ार तक क़ीमती धातुओं के बने हुए मिले हैं। रोज़मर्रा के प्रयोग की चीज़ें तांबे की बनी हुई हैं। पत्थर की बहुत सी गंगालें मिली हैं। क़ीमती पत्थर तश्तरियों, प्याले और गहने बनाने के काम आते थे। इन सब वस्तुओं को देखकर यह मानने को विवश होना पड़ता है कि लगभग ५५०० वर्ष पूर्व सुमेरी संस्कृति अपने चर्मोत्कर्ष पर थी।

उर में अमरीकन और ब्रिटिश पुरातत्व विभाग की ओर से जो खुदाइयें हमने कीं उनमें रानी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शुब अद्स का मक़बरा ख़ास चीज़ है। क़ब्रिस्तान के अन्दर दो क़तारों में महल की दासियों के अस्थिपञ्जर पड़े थे। एक ओर तारों का एक बाजा (हार्प) और बाजे के ऊपर बाजा बजाने वाले का अस्थिपञ्जर पड़ा हुआ था। क़ब्र में रानी के कफ़न को सहरा दिये दो मानव अस्थिपञ्जर और पड़े थे। मालूम होता है कि और कई प्राचीन देशों की तरह सुमेर में क़बरों के अन्दर दास दासियों को ज़िन्दा दफ़न करने का भी रिवाज था। लेकिन ये क़बरें बहुत अधिक पुरानी हैं। इसके बाद की किसी क़ब्र में इस तरह के अस्थिपञ्जर नहीं मिलते। उर के पहले राजकुल के समय यह रिवाज बन्द हो चुका था।

उर की सुमेरी संस्कृति के पीछे भी सैकड़ों वर्षों के अनुभवों का इतिहास फैला हुआ होगा! सुमेरियों को धातुओं की गलाई, ढलाई और बनाई का परिपूर्ण ज्ञान था। उनके बनाये हुए फरसे, कुल्हाड़े और अन्य औज़ार उस ज़माने के मिस्री कारीगरों के बनाए हुए औज़ारों और हथियारों से अधिक उत्कृष्ट हैं। हज़रत ईसा से ३५०० पूर्व सुमेरी कला जिस दर्जे की तरक़्क़ी कर चुकी थी उसे कोई दूसरी पुरानी सभ्यता नहीं पहुँची।

उर की खुदाई में हमें ५५०० वर्ष पुरानी एक सुमेरी राष्ट्रीय पताका मिली है। यह पताका सीप और लाजवर्द की बनी हुई है। इस पर तीन पंक्तियों में चित्रकारी है। नीचे की पंक्ति में रथ हैं जिनमें चार चार गधे जुते हुए हैं। घोड़ा उस समय तक सुमेर में न था। हर रथ में एक एक रथवान और एक योद्धा है। बीच में पैदल सेना है। ऊपर की पंक्ति में राजा युद्ध के क़ैदियों का निरीक्षण कर रहा है। अनेक उल्लेखों से पता चलता है कि उस ज़माने में तनख़्वाहदार सेना न होती थी। लड़ाई के अवसर पर हर नागरिक को युद्ध में शरीक होना पड़ता था और राजा लड़ाई में स्वयं सब से आगे रहकर लड़ता था।

सुमेरी नगरों में रहन सहन ख़ासे ऊंचे दरजे का था। दो दो मंज़िल के पक्के मकान होते थे जिनकी बनावट मोहन जो-दड़ो के नीचे दरजे के मकानों से मिलती है। घर का सदर दरवाज़ा आंगन में खुलता था। आंगन पक्की ईंटों से पटा होता था। आंगन में पानी का एक घड़ा रखा रहता था। जो भी आदमी बाहर से मकान में आता था उसे पहले पैर धोने पड़ते थे। हर मकान में पटी हुई नालियां होती थीं जिनसे मकान का पानी बाहर सड़क की बड़ी नाली में गिरता था। मकान पक्की ईंटों के बने होते थे। दीवारों पर गारा फिरा होता था। सुमेर में गरमी अधिक पड़ती थी इसलिये मकानों में नीचे के तल्ले में खिड़की न होती थी। हर मकान में नीचे का एक बड़ा कमरा, जो गली में खुलता था, मेहमानों के लिये होता था। रसोई, पक्का पाख़ाना और ग़ुसलख़ाना और नौकरों के रहने की जगह नीचे के तल्ले में ही होती थी। अकसर मकानों में एक मन्दिर और बलि और यज्ञ के लिये वेदी भी होती थी। कमरों में लोग ज़मीन पर चटाई बिछाकर बैठते थे। छोटी छोटी तिपाइयों के ऊपर थाली रखकर भोजन करते थे। ज़्यादा समृद्ध घरों में दरियां, क़ालीन और तांबे या चांदी से मढ़े सोफ़े और आराम कुर्सियां भी होती थीं, जिनपर कामदार कुशन पड़े रहते थे। नीचे के तल्ले में घर के छोटे से मन्दिर या वेदी के ठीक नीचे परिवार का क़ब्रिस्तान होता था। यह क़ब्रिस्तान एक बन्द डाटदार तहख़ाना होता था। परिवार में जब किसी की मृत्यु होती थी तब यह तहख़ाना खोला जाता था। मुरदे को कपड़ा पहनाकर चटाई में लपेट कर उसमें रख दिया जाता था। पानी का एक प्याला उसके ओठों से लगाकर रखा जाता था। रहने के मकान के नीचे मुरदे गाड़ने का सुमेर में आम रिवाज था। कभी कभी उस मकान का दरवाज़ा ईंटों से बिलकुल चुनकर मकान वाले कहीं और रहने लगते थे। उर में हमने जो खुदाई की उसमें किसी मकान में दस, किसी में बीस और किसी में तीस तीस लाशें तक मिली हैं।

सन् २१७० ई० पू० के लगभग उर का नगर इलाम (दक्खिनी इराक़) की सत्ता ने बरबाद कर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पांच हज़ार वर्ष पुराने सुमेर की राजधानी—उर

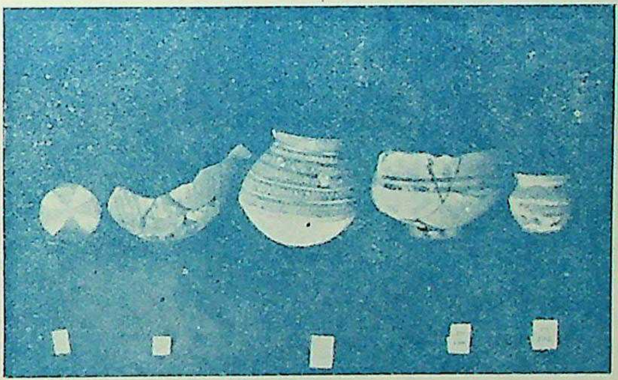

उर में खुदाई से निकले हुए मिट्टी के बर्तन

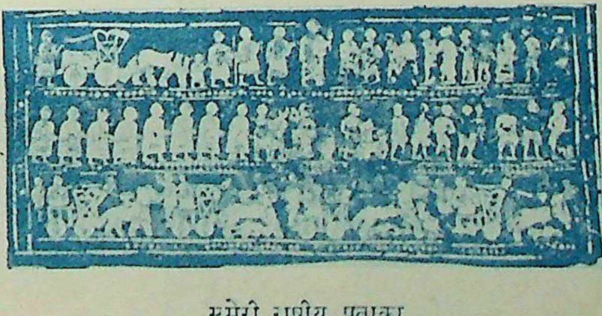

सुमेरी राष्ट्रीय पताका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पांच हज़ार वर्ष पूर्व उर की सुमेरी रानी शुब अदस का मुकुट और गले में पहनने के जड़ाऊ आभूषण

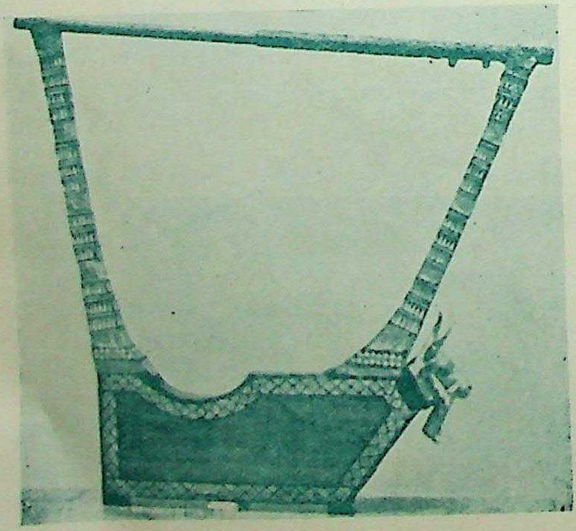

रानी शुब अदस की क़ब्र में पाया गया एक हार्प बाजा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दिया। निप्पर के शहर में हमें एक शिलालेख मिला है जिसमें लिखा है—

"उन्हों ने देश को बरबाद कर दिया और मुल्क का इन्तज़ाम नष्ट कर दिया।

"वे प्रलय की तरह आये और चारों ओर तबाही फैला गये! ऐ मेरे प्यारे सुमेर, तुम्हें उन्होंने क्या से क्या कर दिया? नगर को ज़मीन से मिला दिया और मन्दिरों को गिरा दिया।"

सुमेरियों ने इराक़ में एक ऐसी सभ्यता को जन्म दिया था जो हज़ारों वर्ष तक फलती फूलती रही। आजकल की इमारतों की सबसे बड़ी देन, मेहराब कम से कम ५५०० वर्ष पूर्व सुमेर ने दुनिया के लिये विरसे में छोड़ी थी। गुम्बद और डाटों का इस्तेमाल भी सुमेर में ५५०० वर्ष पूर्व प्रचलित था। किन्तु सुमेर की भौतिक देनों से बढ़कर उसकी विचारों की देन थी। यूरोप की सभ्यता साफ़ साफ़ सुमेरी विचारों की नींव पर ही क़ायम हुई। हज़रत मूसा की दस आज्ञाओं की बुनियाद में सुमेरी आज्ञायें ही हैं। वे दसों आज्ञाएं ज्यों की त्यों सुमेरी ग्रन्थों से ले ली गई हैं। सुमेरियों से ही यहूदियों ने समाज को व्यवस्था दी और क़ानून बनाना सीखा और यहूदियों से आजकल की सारी ईसाई दुनिया ने उसे अपनाया और वह अमली तौर पर नहीं तो कम से कम उसूल के तौर पर उसी को अपना आदर्श मानती है।

वह ज़माना बीत चुका जब समझा जाता था कि यूनान ने दुनिया को ज्ञान सिखाया। इतिहास की खोजों ने हमें बताया है कि किस तरह यूनान के जिज्ञासु हृदय ने लीदिया से, खत्तियों से, फ़ीनीशिया से, क्रेट से, बाबुल से और मिस्र से अपनी ज्ञान की प्यास को बुझाया। लेकिन उस ज्ञान की जड़ें कहीं अधिक गहरी जाती हैं और इन सब सभ्यताओं के पीछे हमें सुमेर का छिपा हुआ हाथ नज़र आता है।

सुमेरी बहुत से देवी देवताओं को पूजते थे जिनमें चांद और सूरज भी थे। चांद उनका ख़ास देवता था। चाँद को वे सूरज से बड़ा मानते थे। लेकिन इन सब देवी देवताओं से ऊपर और इन सब का बनाने वाला वह एक परमेश्वर को मानते थे जिसे वे 'इल' कहते थे। सुमेर में इल का कोई मन्दिर न था। उसे निराकार ही माना जाता था। सुमेरी ग्रन्थों में लिखा है कि 'इल' अवर्णनीय और अनिर्वचनीय है। सुमेरियों के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में केवल 'इल' था और सब शून्य था। इस शून्य में से मीठे पानी का एक चश्मा 'अप्सु' पुरुष रूप में प्रकट हुआ और चारों ओर फैल गया। अप्सु के बाद प्रकृति ने 'तियामत' खारे समुद्र के रूप में प्रकट होकर अप्सु के संयोग से सृष्टि की रचना की। सुमेरी ग्रन्थों में इस तरह अप्सु को सब का पिता और तियामत को सब की माता कहा गया है। इन्हीं से अन्य सब देवी देवता पैदा हुए।

सुमेरी मानते थे कि देवता इनसान की तरह वासनाएं रखते हैं लेकिन उनका पद मनुष्य से ऊंचा है। वे अमर हैं और आदमी के ऊपर दया रखते हैं। उनका विश्वास था कि देवताओं और आदमियों के अलावा सृष्टि में दानव भी रहते हैं। समझा जाता था कि यही दानव आदमी को पाप के पथ की ओर ले जाते हैं। सुमेरियों का सिद्धान्त था कि पाप की सज़ा मनुष्य को इसी जन्म में मिल जाती है। सुमेरी आठ प्रकार के पाप मानते थे—

(१) ईश्वर और देवताओं की पूजा में अश्रद्धा, (२) आपस की फूट, (३) झूठ बोलना, (४) झगड़ा करना, (५) व्यापार में बेईमानी, (६) पड़ौसी का माल हड़पना, (७) पड़ौसी के साथ असद् व्यवहार और (८) व्यभिचार।

सुमेरी संस्कृति ने ईसा से हज़ारों साल पहले एक ऐसे समाज की रचना की थी जिसमें समाज की संहति को क़ायम रखते हुए हर आदमी को पूरी आज़ादी थी। हर एक के लिये उन्नति के साधन मौजूद थे। राज्य के क़ानून सदाचार की बुनियाद पर क़ायम थे। वे व्यक्ति को सच्चा और ईमानदार बनने की प्रेरणा देते थे। यही कारण था कि सुमेरी समाज हज़ारों वर्ष तक व्यवस्थित और समृद्ध बना रहा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तन्त्र का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक निरूपण

पंडित देवीदत्त शुक्ल, सम्पादक 'सरस्वती'

वैदिक धर्म जब संकुचित होकर केवल कुछ ब्राह्मणों का धर्म रह गया तब सर्व साधारण के कल्याणार्थ महेश्वर और महेश्वरी ने सरल विधि से देवी और देवताओं की आराधना का उपदेश किया। वही लोककल्याणकारी महामहोपदेश लोक में तन्त्र-शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्धों के अभ्युदय के प्रारम्भ होने के पहले एशिया के रथक्रान्त, अश्वक्रान्त और विष्णुक्रान्त नाम के भूखण्डों में इस धर्म ने अपना प्राधान्य क़ायम कर लिया था। तन्त्रों में उक्त तीनों क्रान्तों में जो भूखण्ड बताये गये हैं, उन सब में वर्तमान समय के भारत, बलूचिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, मध्य-एशिया, तिब्बत, चीन के दक्षिणी प्रान्त, अनाम, कम्बोडिया, कोचीन, चीन, सियाम, ब्रह्मदेश और भारतीय द्वीप-पुंजों आदि का समावेश होता है। आगम-धर्म का एक समय इन समस्त देशों में व्यापक प्रचार था। किन्तु बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म के उत्कर्ष के साथ साथ आगम-धर्म का पराभव प्रारम्भ हुआ।

तन्त्र-शास्त्र का अपना परमात्मवाद अलग है। वह परब्रह्म परमात्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है। वह बताता है कि परब्रह्म-अवस्था चतुष्टय के परे है। वह निर्गुण है, अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है। योग द्वारा आत्मज्ञान से ही उसका अनुभव होता है। तन्त्र-शास्त्र यह भी बताता है कि ब्रह्म निष्कल और सकल है अर्थात् वह कला रहित और कला सहित है। कला प्रकृति का नाम है। निष्कल अर्थात् प्रकृति-रहित ब्रह्म ही परब्रह्म है और सकल ब्रह्म अर्थात् प्रकृति-युक्त ब्रह्म उसका दूसरा रूप है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। अतएव सकल ब्रह्म सगुण है। इसके पहले वह निर्गुण था। सकल ब्रह्म शक्ति रहित है, तथापि उसमें शक्ति का अस्तित्व है, जिससे सृष्टि होती है। वास्तव में ये दोनों अर्थात् ब्रह्म और शक्ति एक ही वस्तु हैं, केवल नाम का भेद है।

शक्ति अनादि रूपा है। वह ब्रह्म रूपा है। वह निर्गुण और सगुण है। वह चैतन्य रूपा है और सारे प्राणियों को प्रकट करती है। वह आनन्द रूपा है, जिसके द्वारा ब्रह्म स्वयं अपने आपको प्रकट करता है।

प्रारम्भ में एक मात्र निष्कल ब्रह्म था। उसने इच्छा की कि 'अहं बहुस्यामः', मैं अनेक हो जाऊं और वह हो गया। शक्ति के इस प्रादुर्भाव से परब्रह्म का यही रूप पूजा का विषय है। इसी का सगुण ध्यान होता है। तन्त्र में यह सशक्ति ब्रह्म 'शिव-शक्ति' कहा गया है। इसी से नाद का उद्भव हुआ। उस नाद से बिन्दु प्रकट हुआ। शारदा में लिखा है—

सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात्
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादात् विन्दु समुद्भवः।

अर्थात् सकल और सच्चिदानन्द ब्रह्म से शक्ति उद्भूत हुई, शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु। इसी बिन्दु के रूप में उच्च कोटि का शाक्त-साधक शिव-शक्ति का ध्यान करता है। सूक्ष्म शरीर की दशा का नाम 'कामकला' है। यही मन्त्र का मूल है। जब देवी 'मूल मन्त्रात्मिका' कही जाती है, तब उसका तात्पर्य इसी शूक्ष्म शरीर से है। यह बिन्दु वृत्ताकार है। इसका केन्द्र ब्रह्मपद है। यही प्रकृति-पुरुष का अधिष्ठान है। इसकी परिधि माया कहलाती है। इसमें विद्युत्प्रभ त्रिकोण स्थित है। यह त्रिकोण सारे अस्तित्व मात्र के 'शब्द' का प्रतिनिधित्व करता है। यह त्रिकोण चन्द्रमण्डल से घिरा है।

बिन्दु चणक के समान कहा गया है। जैसे चना अपने छिलके के भीतर दो भागों में विभक्त है, उसी प्रकार उक्त बिन्दु प्रकृति पुरुष का स्वरूप है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसको शब्द ब्रह्म या अपर ब्रह्म कहते हैं। तब पराशक्तिमय शिव और शक्ति इन दो तत्वों में संघटित होता है। देवी उन्मुखी होती है, उसका मुंह शिव की ओर हो जाता है, इससे माया का आवरण टूट जाता है और सृष्टि का कार्य शिव और शक्ति या हं और सः के विभाजन से प्रारम्भ होता है। शारदा में कहा गया है कि देवता पराशक्तिमय स्वयं फिर विभाजित होता है। वह विन्दु, बीज और नाद में विभक्त होता है। विन्दु नाद या शिव है।

शब्द ब्रह्म शक्तियों की – सत्व, रज और तम गुणों के सहित ज्ञान, इच्छा और क्रिया की शक्तियों की—त्रिमूर्ति में अपने आपको प्रकट करता है।

परंविन्दु से निकली रौद्री—रुद्र और उनकी शक्ति। इनका रूप अग्नि है और इनका कार्य ज्ञान है। फिर वामा—विष्णु और उनकी शक्ति निकली है। इनका रूप सूर्य का है और इनका कार्य क्रिया है। तब ज्येष्ठा—ब्रह्मा और उनकी शक्ति निकली। इनका रूप चन्द्रमा है और इनकी क्रिया इच्छा है। इसी से देवी को इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति कहते हैं। शक्ति माया और मूल प्रकृति दोनों है। माया से ब्रह्म अपने को भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट करता है, जैसा कि वह है। मूल प्रकृति उसकी वह अव्यक्त स्थिति है, जो व्यक्त होने पर—नाम रूप से विश्व होती है।

देवी महाशक्ति है। वह महामाया है, क्योंकि उसी की माया से इस संसार का उद्भव होता है। माया की अधीश्वरी होने से वह महामाया है। वह अविद्या है, क्योंकि बन्धन में डालती है। वह विद्या है, क्योंकि मुक्त करती है और संसार का संहार करती है। वह प्रकृति है और सृष्टि के पहले होने से आद्या शक्ति है। वह वाचक शक्ति है।

देवी 'परब्रह्म रूप' में रूप और गुण से परे है। देवी के तीन रूप हैं। पहला पररूप है, जिसे कोई नहीं जानता। दूसरा मन्त्र रूप है जो उसका सूक्ष्म रूप है। तीसरा स्थूल रूप—हाथ पैर वाला रूप है, जिसका वर्णन तान्त्रिक और पौराणिक स्तोत्रों में किया गया है। प्रकृति के रूप में देवी ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर का कारण है, अतएव नर और नारी दोनों रूप उसके हैं। परन्तु उसका ध्यान स्त्री-रूप में ही होता है।

महादेवी के रूप में वह सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री, दुर्गा, त्रिपुर सुन्दरी, अन्नपूर्णा और उन सब देवियों के रूप में जो ब्रह्म के अवतार हैं, विद्यमान है।

सती, उमा, पार्वती और गौरी के रूप में देवी शिव की अर्द्धाङ्गिनी है। दक्ष के यज्ञ के पहले सती के रूप में उसने अपने आपको शिव के सामने दस सिद्ध रूपों में प्रकट किया, जो दस महाविद्यायें कहलाती हैं। काली, कमला, छिन्नमस्ता, भुवनेश्वरी, मातंगी, षोडशी, धूमावती, बगला, तारा और भैरवी, यही दश महाविद्यायें हैं।

जगज्जननी के इन्हीं रूपों की पूजा तन्त्रों में वामाचार से ही विदित है। इस आचार के साधक के तीन भाव या स्वभाव बताये गये हैं। ये पशु, वीर और दिव्य भाव हैं। पशु भाव में रजोगुण, तमोगुण पर प्रभाव डालता है, जिससे भ्रान्ति, तन्द्रा और आलस्य का उद्भव होता है। पशु शब्द पाश से बना है। पशु वह मनुष्य है जो दया, मोह, भय, लज्जा, घृणा, कुल और शील आदि आठ पाशों से बँधा है।

'कुब्जिका तन्त्र' में लिखा है—"पशुभाव वाले लोग पशु, ही होते हैं। पशु यन्त्र नहीं छूता, न मन्त्र का जप करता है। वह यज्ञों और तन्त्रों को सन्देह की दृष्टि से देखता है, मन्त्रों को अक्षर मात्र समझता है, गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं रखता, मूर्ति को पत्थर का टुकड़ा समझता है, देवताओं में भेद करता है, और बिना मत्स्यमांस के पूजा करता है। अज्ञानवश सदा नहाया-धोया करता है, सदा दूसरों की निन्दा किया करता है।"

दिव्य भाव का लक्षण कुब्जिका तन्त्र के सातवें अध्याय में यह दिया गया है—जो नित्य स्नान-सन्ध्या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता है, स्वच्छ वस्त्र धारण करता है, भस्म या रक्त चन्दन का त्रिपुण्ड लगता है, और रुद्राक्ष की माला पहनता है, जप और अर्चना करता है, नित्य दान करता है, वेद, शास्त्र, देव और गुरु पर नित्य विश्वास रखता है, सभी देवों को कल्याण रूप मानता है, वह स्त्रियों के पैरों पर नत मस्तक होता है और उन्हें सदा गुरुवद् मानता है (स्त्रीणां पादतलं इष्ट्वाव गुरुवद् भावयेद् सदा)। वह देवी की रात में पूजा करता है और पान की बीड़ी खाकर अर्थात् भोजन के उपरान्त जप करता है और कुल वृक्ष का अभिवादन करता है (कुलवृक्ष=कुल स्त्री जो मन्त्र तन्त्र की ज्ञाता हो, चाहे वह दूती-द्वारा लाई गई हो, पुंश्चाली हो या वेश्या हो, वृद्धा हो चाहे युवा हो)। वह आद्या को सब कुछ अर्पण कर देता है। वह इस विश्व को शक्ति से व्याप्त तथा देवतामय समझता है। शिव सब में हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में शिव=शक्ति व्याप्त है, यही भाव सदा रखता है। देवता-भाव प्राप्त करने तथा उसे बनाये रखने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। दीक्षा ग्रहण करनी पड़ती है और अभिषेक कराने पड़ते हैं। शक्ति की साधना के लिए साधकों को दीक्षा के बाद अभिषेक होता है। अभिषेक ८ प्रकार के हैं। पहला 'शाक्ताभिषेक', साधना का मार्ग ग्रहण करने के समय दिया जाता है। इसके बाद 'पूर्णाभिषेक' होता है। इस अभिषेक से साधक दक्षिणा चार के बाद का आचार ग्रहण करता है। अपने मन्त्र का पुरश्चरण करने के बाद ही साधक इसका अधिकारी होता है। तीसरा 'क्रम दीक्षाभिषेक' है। यह अभिषेक होने पर साधक यज्ञोपवीत को माला की तरह पहनता है। इसके बाद अनेक परीक्षाओं के अनन्तर 'सम्राज्याभिषेक' और 'महा सम्राज्याभिषेक' होता है। अन्त में कठिनतर 'योग दीक्षाभिषेक' होता है। इन संस्कारों तक साधक पञ्चाङ्ग पुरश्चरण कह चुकता है। योगदीक्षाभिषेक के बाद पञ्चाङ्ग योग करने पर उसका 'पूर्ण दीक्षा भिषेक' होता है, उसके बाद 'महापूर्णदीक्षाभिषेक', का अधिकार होता है और इस स्थिति में वह शिखा-सूत्र त्याग कर परमहंसगति को प्राप्त करता है। शाक्तों को उच्चस्तर तक पहुंचने के लिए अर्थात् दिव्य भाव प्राप्त करने के लिए ये सभी संस्कार कराने पड़ते हैं, क्योंकि शाक्त-साधक की साधना का अन्तिम लक्ष्य दिव्य भाव ही है। ऐसा ही शाक्त मार्ग के आचार्य सर जान उडरफ़ महोदय ने निरूपण किया है।

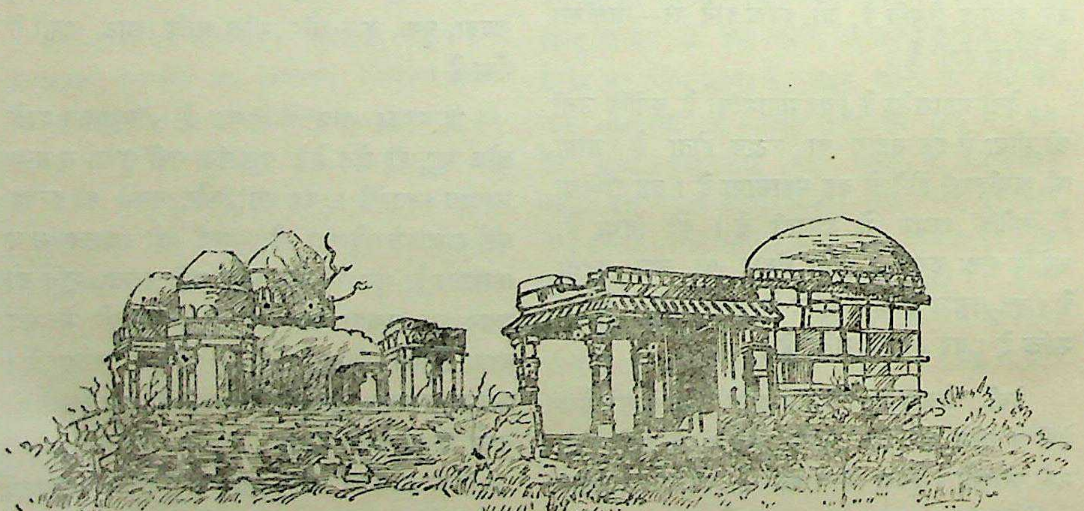

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आर्य तथा द्रविड़ संस्कृतियों का समन्वय

श्री ब्यौहार राजेन्द्रसिंह एम. एल. ए.

भक्ति के उद्गम से दक्षिण भारत का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। भागवत माहात्म्य में भक्ति अपने को द्राविड़े उत्पन्ना कहती है—

उत्पन्ना द्राविड़े साहं
वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचिन्क्वचिन्महाराष्ट्रे
गुर्जरेजीर्णतांगता ॥
(भा. मा १–४८)

स्वयं भागवत पुराण में इस बात का उल्लेख है कि कलियुग में नारायणभक्त सारे भारत में यत्र तत्र बिखरे हुए मिलेंगे, किन्तु वे द्रविड़ देश में कावेरी और ताम्रपर्णी नदियों के तट पर विशेष रूप से पाये जावेंगे।

क्वचिन्क्वचिन्महाराज
द्रविड़ेषुचभूरिशः।
ताम्रपर्णीनदी यत्र
कृतमाला पयस्विनी ॥
कावेरी च महापुन्या
प्रतीची च महानदी ॥
(भा. ११–५–३९–४०)

श्री आयंगर का दावा है कि वैष्णव धर्म के सभी आचार्य तथा शैवों के आदि गुरु द्रविड़ देश ही में उत्पन्न हुए हैं।[१]

श्री फर्कहार भागवत् को भी ९०० ई० में दक्षिण देश ही में रचित मानते हैं।[२] किन्तु श्री कृष्णस्वामी आयंगर सत्य के अधिक समीप जान पड़ते हैं, जब वे कहते हैं कि भक्ति का उद्भव यद्यपि उत्तर भारत में ही हुआ था, किन्तु उसका विस्तार दक्षिण ही में हुआ। सर रिचर्ड टेम्पल तो यहां तक कहते हैं कि वैष्णव धर्म में दक्षिण भारतीय भक्ति मार्ग की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।[३] चाहे हम सारा श्रेय दक्षिण को न भी दें, तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भक्ति मार्ग के उत्तर कालीन विकास में दक्षिण का काफी हाथ रहा है। इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि दक्षिण के पल्लव तथा विजयनगर साम्राज्य केवल संस्कृत साहित्य ही के संरक्षक न थे, किन्तु वैष्णव और शैव पंथों के भी बड़े भारी आश्रयदाता थे।

इस बात में मतभेद है कि[४] द्रविड़ लोग भारत के बाहर से आये अथवा दक्षिण ही के मूल निवासी हैं।[५] श्री फ्रेज़र इन दोनों ही के लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं पाते, किन्तु इतना तो निश्चय है कि बहुत काल तक उत्तर और दक्षिण भारत का सम्बन्ध विच्छिन्न रहा। युगों तक विंध्याचल दोनों के बीच बड़ा भारी बाधक सिद्ध हुआ। अन्त में अगस्त्य सरीखे ऋषियों ने इन दुर्गम बाधाओं को कष्ट सहन कर पार किया और आर्य सभ्यता का प्रकाश दक्षिण में फैलाया। बौद्ध और तमिल साहित्य में भी हमें अगस्त्य और उनके शिष्यों के वर्णन मिलते हैं।

आर्यों का प्रभाव दक्षिण भारत पर कब से पड़ना प्रारम्भ हुआ इस बात में भी मतभेद है। बरनेल की राय में ७०० ई० तक भी यह प्रभाव अधिक नहीं था,[६] किन्तु गोविन्द स्वामी सिद्ध करते हैं कि ईसा पूर्व

---

१ Early History of Vaishnavism, Page II.

२ Outline of Religious Literature in India.

३ India and Western World.

४ Risley, "Peoples of India".

५ Rapson, "Encyclopedia Brittanica" P. 393.

६ "Indian Antiquery" 1872, P. 310.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३ री से ६ वीं शताब्दी के भीतर आर्य प्रभाव दक्षिण में काफी फैल चुका था।[१]

दक्षिणी भाषाओं में तमिल ही सब से प्राचीन, समृद्ध और सुसंस्कृत भाषा है। इसका मुख्य कारण बाहरी सभ्यताओं का संसर्ग माना गया है। ई० सन् के बहुत पहिले पाण्ड्य, चोल और चेर नामक तमिल राज्य काफी उन्नत और समृद्ध थे; और उनका व्यापारिक सम्बन्ध न केवल उत्तरी और पश्चिमी भारत में था, वरन् भूमध्यसागर के देशों तक फैला हुआ था।[२]

इस संसर्ग का प्रभाव साहित्य और संस्कृति पर पड़े बिना नहीं रहा। कन्नड़ साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उत्तर से आये हुए संस्कृतज्ञ जैन विद्वानों ही के प्रभाव से कन्नड़ व्याकरण तथा लिपि का प्रारम्भ हुआ।[३] तेलगू लिपि पर ई० पू० २५० में अशोक लिपि की दक्षिणी शाखा का ही प्रभाव पड़ा था। कन्नड़ की संस्कृत प्रचुरता ही के कारण उसे सौतेली मां कहा गया है।[४] कन्नड़ और तेलगू प्रान्तों के बीच कोई भौगोलिक बाधा न होने के कारण दोनों भाषाओं का आदान प्रदान बराबर चलता रहा और एक दूसरे से वे प्रमाणित होती रहीं। वैष्णव पंथ के उदय के बाद तो तमिल संस्कृति ने भी कन्नड़ पर अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया।[५]

मलयालम साहित्य का उदय तो बहुत बाद में हुआ। जैन कवियों की रचनाओं ही से उसका प्रारम्भ होता है। १० वीं सदी के पहिले स्वतंत्र भाषा के रूप में उसके कोई प्रमाण नहीं पाये जाते। १२वीं सदी का "रामचरित्रम्" नामक एक उत्तम काव्य उसमें पाया जाता है। तमिल की अपेक्षा मलयालम् में संस्कृत शब्दों की बहुत अधिक प्रचुरता होने ही से यह सिद्ध होता है कि उत्तर भारत की भाषा का प्रभाव दक्षिणी भाषाओं पर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

श्री स्टीनकोनौ ने भी द्रविड़ साहित्य पर आर्य प्रभाव स्वीकार किया है।[१] आयंगर तो यहां तक कहते हैं कि जिस प्रकार भारत का इतिहास आर्यों के आगमन से प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार दक्षिण भारत का इतिहास भी आर्यों के दक्षिण भारतीय संसर्ग से प्रारम्भ होता है। भण्डारकर का कथन है कि ई० पू० सातवीं सदी तक उत्तर भारत के आर्यों को दक्षिण का कुछ पता ही न था।[२] श्री क्रुक मानते हैं कि प्राचीन काल से द्रविड़ भाषा, साहित्य, कला और संस्कृति स्वतंत्र रूप से उन्नत होती चली आई है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि आर्य संसर्ग के पूर्व भी द्रविड़ भाषाएं काफी उन्नत हो चुकीं थीं, तो भी आत्मज्ञान के प्रचारक ब्राह्मणों, जैनों और बौद्धों के प्रभाव से उत्तर भारतीय आर्य संस्कृति के सम्पर्क में आने से उनमें अभूतपूर्व उन्नति हुई।

इस बात के काफी प्रमाण हैं कि जहां जहां बौद्ध भिक्षु और जैन सिद्ध अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ गये, वहां वहां उन्होंने अपने देश की बोलियों को साहित्यिक रूप दिया और उन्हीं को अपने प्रचार का माध्यम बनाया।[३] जिस प्रकार ब्राह्मणों के प्रभाव से संस्कृत की उन्नति और प्रचार हुआ, उसी प्रकार जैनों और बौद्धों के प्रभाव से लोक भाषाओं की उन्नति हुई। ये धर्म जिस प्रकार धर्म और नीति में सुधार वादी थे, उसी प्रकार भाषा-क्षेत्र में भी। उन्होंने लोक धर्म के लिये लोक भाषा ही की आवश्यकता अनुभव की और

---

१ Ibid 1912, P. 727.
२ "India and Western World".
Ch. 5., "Some Contributions of South India to Indian culture" ch. 18.
३ Rice, Kanaris Literature.
४ Ibid
५ Ibid.

---

१ Encyclopedia Brittanica, VIII, P. 551.
२ Bombay Gazetteer.
३ Rapson, Impereial Gazetteer 35.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वयं बुद्ध ने संस्कृत छोड़कर पाली का आश्रय लिया था और बुद्धों की वाणी को लोक भाषा में प्रचलित करने का आदेश किया था, तब उनके शिष्यगण क्यों न ऐसा करते।

पल्लव राज्य के पूर्व तमिल साहित्य में हमें ऐसे "सङ्गम" का उल्लेख मिलता है, जो साहित्यिक कार्य के लिये राजाओं द्वारा नियुक्त किये गये विद्वानों के समूह थे।[1] इससे अनुमान होता है कि इससे पहिले व्यक्तिगत रूप से कार्य करने वाले कवियों के द्वारा साहित्य की काफी उन्नति हो चुकी होगी। इस प्रकार के तीन 'सङ्गमों' का उल्लेख हमें मिलता है। आयंगर इनकी तिथि पहली या दूसरी सदी मानते हैं। ये एक प्रकार के वीरगाथापूर्ण काव्य थे। इन काव्यों से पता लगता है कि तमिल देश धन-धान्य, वाणिज्य, व्यापार तथा धर्म-संस्कृति में कितना सम्पन्न और उन्नत था। वहां बौद्ध और जैन धर्मों का काफी प्रचार हो चुका था। अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा तमिल राज्य की उत्तरी सीमा से प्रायः मिलती जुलती थी; अतः वहां बौद्ध धर्म का प्रवेश होना स्वाभाविक ही था। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि इन दोनों मतों तथा तीसरे शैव मत वाले सब हिल-मिल कर रहते थे।[2]

बाद के साहित्य में अवश्य ही इस बात का इशारा मिलता है कि उक्त दोनों मतों का शैव मत से कुछ विरोध हो गया था। ह्यून त्सांग के वर्णन से प्रकट होता है कि अकेले कांची नगर में १ लाख बौद्ध भिक्षु, अनेक जैन साधु तथा ८० ब्राह्मण मत के मन्दिर मौजूद थे। कई बौद्ध स्तूपों के भग्नावशेष भी उसे मिले थे, जिससे प्रगट होता है कि ब्राह्मण मत उन्नति पर था और शेष दो मत अवनति पर। पांचवीं छठीं सदी तक इन मतों के प्रति विरोध के भाव अधिक बढ़ गये थे।

कलिंग और आंध्र राज्य, जो कि दक्षिण भारत के प्रधान राज्य थे, उन पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। ई० पू० २६२ में अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की, किन्तु भयानक नर-हत्या के कारण उसे निर्वेद हुआ। पश्चाताप करते हुए उसने जो कुछ कहा, उससे प्रगट होता है कि कलिंग में ब्राह्मण भिक्षु तथा अन्य मतावलम्बी रहते थे। अशोक के बाद कलिंग ने फिर स्वाधीनता प्राप्त करली। कलिंग के जैन राजा खारवेल ने हाथीगुम्फा आदि गुफाओं में जैन मूर्तियों का निर्माण कराया। इससे प्रगट होता है कि आर्य संस्कृति के चिह्न कलिंग में मौजूद थे। कलिंग की सीमा से लगे होने के कारण आंध्र पर भी इसका प्रभाव पड़ा। मौर्यों के पतन के बाद १९४ ई० पू० में आंध्रों का उदय हुआ। इन्होंने पहिले श्री काकुलम् तथा बाद में अमरावती में अपनी राजधानी बनाई, जहां कि आंध्रों द्वारा निर्मित बौद्ध स्तूप पाये गये हैं। आंध्र साम्राज्य की सीमा दोनों समुद्रों को ही स्पर्श नहीं करती थी, किन्तु विदिशा और उज्जैन तक फैल चुकी थी।[1]

इसके नगर रोम आदि से विस्तृत व्यापार के कारण धन-धान्य से पूर्ण थे। आर्थिक समृद्धि के साथ धर्म और संस्कृति में भी आगे बढ़े हुए थे। राजा सातकर्णि द्वारा वैदिक विधान के अनुसार अनेक बार अश्वमेध यज्ञ के वर्णन[2] से हमें आर्य धर्म के कर्म-काण्ड का दक्षिण में प्रचार होने तथा आन्ध्र नृपतियों के आर्य धर्म के संरक्षक और संवर्धक होने के प्रमाण मिलते हैं।[3] ५ वीं सदी में आंध्र साम्राज्य के पतन के बाद हमें अनेकों राजवंशों का उदय मिलता है। महाराष्ट्र में जैन कदम्ब, उत्तर में राष्ट्रकूट, इसके भी उत्तर में चालुक्य तथा बिलकुल दक्षिण में पाण्ड्य राज्य स्थापित थे। इन सब प्रदेशों में वैदिक, बौद्ध तथा जैन मत तीनों साथ साथ

१ Ayangar, P. 9.
२ Frazer E. R. E. (V) P. 23.

१ Cambridge History, P 551.
२ Buhlar Arch. Survey of Western India, V, P. 60.
३ Oxford History of India.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसी को अपने लोक धर्म का वाहन बनाया। जब प्रचलित थे। किन्तु राज घरानों ही तक इनका अधिकतर प्रचार था। सर्वसाधारण में हमें प्राचीन द्रविड़ धार्मिक विश्वासों का प्रचार मिलता है। धन-धान्य से सुसम्पन्न वैदिक कर्मकाण्ड का प्रचार होना जितना स्वाभाविक था, उतना ही अधिक सुख सम्पत्ति के कारण, प्रतिक्रिया स्वरूप सन्यास-प्रधान जैन और बौद्ध मतों का प्रचार होना भी स्वाभाविक था। साथ ही जन साधारण के विश्वासों से सामंजस्य स्थापित करने की वैदिक धर्म में अद्भुत क्षमता थी। जैन या बौद्ध मतों की अपेक्षा जनसाधारण के विश्वासों से वैदिक धर्म का अधिक साम्य भी था। अथर्व वेद के तंत्र मंत्र के साथ द्रविड़ जादू टोना की अधिक समानता थी।

काल्डवेल, ह्वाईटहेड तथा सेवेल आदि के वर्णनों से पता लगता है कि द्रविड़ ग्राम देवता पत्थर पर किसी देवी की आकृति, वृक्ष में निवास करने वाली भूत प्रेतात्माएं अथवा नाग आदि होते थे। इन की प्रसन्नता के लिये बलिदान की प्रथा प्रचलित थी। इनके मन्दिरों के पुजारी जादू टोना तथा वैद्यक में निपुण होते थे। देवता के सामने बलिदान या नृत्य गीत करना इनका पूजा विधान था।[1]

इसी नृत्य-गीत-पद्धति को मन्दिर-पूजा के आवश्यक अंग के रूप में, विष्णु तथा शिव मन्दिरों में प्रचलित कर वैष्णव आलवार तथा शैव आदियार सन्तों ने अपनी समन्वय बुद्धि का परिचय दिया। आगे चलकर शक्ति उपासना में भी द्रविड़ विश्वास की स्पष्ट छाप लक्षित होती है, जिसमें पृथ्वी को मातृरूप मानकर उनकी उपासना की जाती और उन्हें बलिदान आदि से सन्तुष्ट किया जाता था।

बहुत से लोग तो रुद्र शिव की उपासना को भी द्रविड़ देश में प्रचलित मानकर यह सिद्ध करते हैं कि आर्यों के रुद्र तथा द्रविड़ों के रुद्र में इतनी समानता थी कि दोनों ने एक दूसरे के गुणों का आपस में आदान-प्रदान करके एक ऐसे देव की रचना की थी, जो दोनों को समान रूप से ग्राह्य हो सका। आर्य जाति जो कि नवीन रूप से द्रविड़ देश में आई हुई थी, उसे अपने तथा द्रविड़ जाति के धार्मिक विश्वासों में सामञ्जस्य करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ और उसने फिर अपनी समन्वय बुद्धि से काम लिया। इसी कारण वह अपने कार्य को सुदूर दक्षिण देशों तक फैलाने में समर्थ हुई।

यहां पर हम तमिल साहित्य के सब से प्राचीन और उस महान ग्रन्थ का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं, जो कि साहित्यिक और राजनीतिक दृष्टि से केवल भारतीय साहित्य ही का नहीं, वरन् विश्व-साहित्य का एक रत्न माना गया है। उस ग्रन्थ का नाम 'कुरल' है। इसे निरुवलुवर नामक एक जुलाहे ने रचा था। इसके समय के विषय में मतभेद है। आयंगर इसकी रचना कौटिल्य के बाद मानते हैं। और श्री पिल्ले पहली सदी मानते हैं। इस ग्रन्थ में सर्व-सम्मत नीति-तत्वों का इतना सुन्दर वर्णन है कि वैदिक, जैन तथा बौद्ध सभी इसे अपने आचार्यों द्वारा रचित बताने में चढ़ाऊपरी करते हैं। निरुवलुवर ने धर्म को नैतिक आधार पर स्थापित किया है। उन्होंने सन्यास की निन्दा कर क्रियात्मक धर्म का प्रतिपादन किया और एकेश्वर वाद के आधार पर अहिंसात्मक नीति धर्म की स्थापना की। इस ग्रन्थ से अच्छी तरह सिद्ध होता है कि ईस्वी सन् के आरम्भ के पूर्व ही वैदिक आर्य संस्कृति ने दक्षिण में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

1 White Head:—Village Gods of South India Imperial Gazettier P. 322
Caldwel:—Comparative Dravidian Grammer.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय संस्कृति में ज्ञान और कर्म का सम्बन्ध

प्रोफैसर राजाराम शास्त्री

मोटे तौर पर किसी समाज की संस्कृति उसके ज्ञान तथा कर्म की परम्परा को कहते हैं। किन्तु वस्तुतः ज्ञान का समावेश कर्म में ही हो जाता है। यह कैसे होता है, यही हमें भारतीय संस्कृति में देखना है। भारतीय संस्कृति के मूल प्रतिपादक ग्रन्थ वेद हैं, और कर्म मीमांसा दर्शन वेदों की मीमांसा है, वही भारतीय संस्कृति की मीमांसा है। अतः हमें अपने विषय के लिए उसी का आधार लेना होगा।

वेदों में भारतीय समाज के परम्परित व्यवहार या कर्म का प्रतिपादन है, इसी से उनकी मीमांसा कर्म-मीमांसा है। विद्वानों से यह छिपा नहीं है कि कर्म-मीमांसा के आदि रूप में कर्मों का प्रतिपादन उनके अनुभूत फलों के आधार पर ही होता था, किन्तु पीछे जब उन कर्मों की एक परम्परा बन गई और वे अभ्यास-सिद्ध होगये, तब उनके फलों को निरन्तर दृष्टि के सम्मुख रखना अनावश्यक हो गया और इसलिये उनके हेतुरूप फलों को समाज ने विस्मृति के गर्भ में डाल दिया। ऐसी स्थिति में कर्मों का प्रतिपादन अनुभूत फलों से विमुक्त हो गया। कर्मों में स्वतः प्रेरणा आ गई और विधियों की स्वतंत्र प्रामाणिकता हो गई। उन्हें और किसी प्रमाण की आवश्यकता न रही। इसी कारण प्रत्यक्ष अनुमानादि के अतिरिक्त आप्त वाक्य से भी वेद का प्रामाण्य अलग माना गया, क्योंकि आप्त वाक्य भी अन्ततोगत्वा किसी न किसी व्यक्ति के सहेतुक और सफल अनुभव पर आश्रित होता है और उस व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित होता है, और वेद का विषय सामाजिक कर्म था, जिसकी सफलता व्यक्तिगत अनुभव के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। इसी अर्थ में कोई व्यक्ति उसका प्रतिपादक भी नहीं कहा जा सकता। यह तो समाज के अनेक अवयवों के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप अनेकों की इच्छाओं के टक्कर से और (फिर भी या इसीलिये) सभी इच्छाओं से स्वतंत्र—सामाजिक परिणाम के सामाजिक अनुभव से सिद्ध होता है। हर व्यक्ति के कर्म का जो सामाजिक परिणाम होता है, वह सीधे उसके कर्म से प्रसूत फल से मेल नहीं खाता, बल्कि कभी तो उससे सर्वथा विपरीत होता है। यह फल हर व्यक्ति को अपने कर्म के फलस्वरूप अपने अन्दर से नहीं बल्कि, बाहर से आता हुआ प्रतीत होता है। जब तक वह समाज के अनेक अवयवों के घात-प्रतिघात के नियमों का तारतम्य और उनके सामुदायिक वर्तन की प्रणाली न समझ ले, तब तक सामाजिक कर्मों के फल व्यक्ति के लिये अदृष्ट और अपूर्व ही रहते हैं। फिर कोई व्यक्ति उनके लिये कैसे प्रमाण हो सकता है और उनका प्रतिपादक कैसे कहा जा सकता है? किसी व्यक्ति को किसी कर्म का आविष्कारक तथा प्रमाण तक माना जा सकता है, जब वह अपने अनुभव से किसी कर्म के स्वाभाविक फल को देखे और इस अनुभव के आधार पर उस फल की कामना करने वाले दूसरे लोगों के लिये उस कर्म का प्रतिपादन करे, और दूसरे भी अपने अनुभव से उसकी बात की परीक्षा कर सकें। जैसे किसी वैद्य ने किसी औषधि के प्रयोग का फल देखकर उसका प्रतिपादन किया, तथा अन्य लोगों ने भी उसके प्रयोग द्वारा वही फल प्राप्त किया, तब उस वैद्य को उसके लिये आप्त प्रमाण और उस का आविष्कर्त्ता माना जायगा। किन्तु सामाजिक कर्म के फल का अनुभव इस प्रकार व्यक्तिगत रूप में नहीं होता। सारे समाज के अनुभव समष्टिगत अनुभव पर आश्रित होते हैं; इसीलिये कोई व्यक्ति उसके लिये आप्त प्रमाण या उसका आविष्कर्त्ता नहीं माना जा सकता। वेदों को अपौरुषेय और ऋषियों को केवल अध्येता मानने का यही कारण है, और इसीलिये व्यक्तिगत अनुभवसिद्ध कर्म वैदिक विधियों के क्षेत्र से सर्वथा निकाल दिये गये हैं और इन अदृष्ट फलों वाले

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामाजिक कर्म प्रत्यक्षादि व्यक्तिगत अनुभवमूलक प्रमाणों से सर्वथा स्वतंत्र प्रमाण माने गये। अर्थात् सामाजिक कर्मों का आविष्कार बोधपूर्वक अथवा अबोधपूर्वक सामाजिक शक्तियों के सामाजिक अनुभव से हुआ और इन शक्तियों के व्यापार के नियमों के पूर्ण ज्ञान के अभाव में, हम प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर व्यक्तिगत रूप में फलप्राप्ति न देखकर इन सामाजिक कर्मों का तब तक तिरस्कार नहीं कर सकते, जब तक ये प्रत्यक्ष रूप से कुफल न उत्पन्न करने लगें। क्योंकि इनका आरम्भ ही यह बताता है कि प्रत्यक्ष फल न होने पर भी इनका कुछ न कुछ अप्रत्यक्ष फल तो होता ही है। हां, यदि प्रत्यक्ष रूप से ये कुफल उत्पन्न करने लगें, तब अवश्य उनका तिरस्कार किया जाना चाहिये। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था कोई व्यक्तिगत प्रयोगों की वस्तु नहीं है। व्यक्तिगत प्रयोगों के लिये सारे समाज को ख़तरे में नहीं डाला जा सकता। समाज की गति अर्थात् इतिहास तो निरीक्षण की चीज़ है। इतिहास ही बतायेगा कि कौन सा कर्म किस समय अनुपयोगी हो गया। और जब ऐसा हो जाय, तब उन्नतिशील समाज में उसका तिरस्कार होना ही चाहिये। 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इसी सिद्धान्त के अनुसार भारतीय समाज में पीछे बहुत से वैदिक विधान का त्याग कर दिया गया। सारांश यह है कि सामाजिक कर्म की सार्थकता असार्थकता में समाज की गति ही प्रमाण है. यदि उस कर्म समुदाय से समाज सुरक्षित और अबाधरूप से उन्नतिशील है, तो वह उपादेय है, और यदि वह समाज की उन्नति में बाधक होता है तब वह हेय है। यही सामाजिक कर्म के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त है। इस प्रकार कर्म आपाततः फल विधान से स्वतन्त्र हो जाते हैं और उनका ज्ञान तथा प्रतिपादन मूलतः सत्यात्मक न होकर विध्यात्मक ही रह जाता है। 'अमुक कर्म का अमुक फल होता है' इसके स्थान में अमुक कर्म करो या करना चाहिये' इस प्रकार हो जाता है। अमुक कर्म इसलिये न करना चाहिये कि उसे कोई ज्ञान फल होना सिद्ध है, बल्कि वे कर्म स्वयं सिद्ध हैं, अतः प्रज्ञा अथवा सामाजिक भावना प्रसूत प्रेरणा से ही वे सिद्ध होते हैं और इस भावना को सामाजिक अनुभव अथवा संस्कार की निधि वेदों से ही जाना जा सकता है। चूंकि वे शब्दों में सामाजिक भावना को ही व्यक्त करते हैं, इसीलिये उनमें इस भावना के अर्थ अर्थात् सामाजिक कर्म को सिद्ध करने की स्वाभाविक शक्ति है। उन शब्दों और उन अर्थों का निसर्गतः नित्य सम्बन्ध है। अतः इन अर्थों में शब्द ही प्रमाण है। प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण वस्तुस्थिति प्रतिपादक होते हैं, कर्म-प्रेरक नहीं। वे किसी स्थित वस्तु की सत्ता को सिद्ध करते हैं, कर्म की सिद्धि नहीं; क्योंकि कर्म कोई स्थित वस्तु नहीं है, जिनका ग्रहण मात्र करना हो। ये तो भावना द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। यहां केवल 'चित्' का नहीं, 'सत्' का प्रश्न है। प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल ग्रहणात्मक और निष्क्रिय हैं। शब्द प्रमाण ही रचनात्मक और सक्रिय है। इस अर्थ में शब्द प्रमाण का सत्यात्मक ज्ञान के सम्पादन में प्रयोग नहीं किया जा सकता। वह केवल कर्मपूरक विधानात्मक ही हो सकता है। इसीलिये "आम्नायस्यक्रियार्थ त्वादानर्थक्यम तदर्थानाम" का सिद्धान्त है। भले ही वेदों में सत्यात्मक वाक्य और शब्द आयें, किन्तु उनका वेदत्व इनमें नहीं है। ये वाक्य कर्म-प्रेरणा के सहायक रूप से ही ग्रहण किये जा सकते हैं। उनका सत्यत्व वहां अपेक्षित नहीं है। प्रेरकत्व ही अभीष्ट है। यदि वे विधियों से, कर्म की प्रेरणाओं से नहीं जोड़े जा सकते, तो वे श्रुति नहीं हो सकते क्योंकि वे व्यर्थ हैं। सत्यात्मक ज्ञान की स्वतन्त्रता से इनकार नहीं किया गया है। किन्तु कर्म के मामले में सामाजिक व्यवहार के प्रतिपादक ज्ञान में ऐसे ज्ञान को स्वीकृति नहीं मिल सकती, जो केवल व्याख्या करे, विधान नहीं; जो केवल विवेचनात्मक हो रचनात्मक नहीं, जो समाज निर्माण की चेष्टा न उत्पन्न करे, जो सक्रिय अर्थात् क्रिया की ओर ले जाने वाला न हो, जिसकी सार्थकता, जिसका प्रयोग क्रिया में न हो सके। इस क्षेत्र में तो सब ज्ञान कर्म के लिये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। कर्म ही में उसकी परिसमाप्ति है, और कर्म ही के द्वारा उसकी प्रामाणिकता है। सामाजिक कर्म के सिद्धान्तों का यही स्वरूप होता है—कि अमुक कर्म से अमुक इष्ट सिद्धि होगी। यह इष्ट कोई वर्तमान सिद्ध वस्तु नहीं है, जिससे प्रत्यक्षादि द्वारा इसकी प्रमा हो सके। उसकी प्रमा तो उसके लिये कर्म करने से ही हो सकती है। सिद्धान्त यदि व्यवहार में इष्ट-दाता हुआ तो सही है नहीं तो ग़लत। इस प्रकार सिद्धान्त व्यवहार का पूर्व रूप है और व्यवहार सिद्धान्त की कसौटी और उसका प्रेरक हेतु, निमित्त या प्रयोजन। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों एक श्रृङ्खला की कड़ियां बनकर वस्तुस्थिति का निर्माण या उसमें परिवर्तन करते हैं, और परिवर्तित वस्तु-स्थिति फिर नये पूर्णतर सिद्धान्त तथा व्यवहार के लिये आधार बनती है, अथवा यों कहिये कि सिद्धान्त और व्यवहार को शुद्ध और परिमार्जित करती है। इस प्रकार एक ओर सिद्धान्त और व्यवहार तथा दूसरी ओर वस्तुस्थिति; एक ओर पुरुष दूसरी ओर प्रकृति, एक ओर ज्ञाता और कर्त्ता दूसरी ओर ज्ञेय और कर्म; एक ओर सत्य, दूसरी ओर शिव—दोनों पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा परिवर्तित और विकसित होते हैं। जीवन के ऐतिहासिक विकास की यही द्वंद्वात्मक गति है।

किन्तु, क्या यह बात सामाजिक व्यवहार के प्रतिपादक ज्ञान पर, सामाजिक कर्म के सिद्धान्तों पर ही लागू होती है? क्या सत्यात्मक ज्ञान, प्रत्यक्षादि द्वारा प्राप्त ज्ञान भी सचमुच क्रिया से स्वतंत्र है? क्या सामाजिक व्यवहार का प्रतिपादक ज्ञान ही नहीं वरन सभी ज्ञान कर्म ही के लिये नहीं हैं और ज्ञान मात्र की परिसमाप्ति कर्म ही में और उसकी प्रामा-णिकता कर्म ही के द्वारा नहीं है? प्रभाकर के मत से कोई भी ज्ञान केवल वर्तमान सिद्ध वस्तु का द्योतन नहीं करता। सभी ज्ञान की अन्तिम सार्थकता कर्म में ही होती है। इस दृष्टि से ज्ञान मात्र के स्वरूप पर सामान्यत: और सत्यात्मक ज्ञान के मूल प्रत्यक्ष ज्ञान पर विशेषत: विचार कर लेना चाहिये।

कर्म मीमांसा में ज्ञान अपनी 'उत्पत्ति' और 'ज्ञप्ति' दोनों में स्वतः प्रमाण है। जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वही उसे प्रमाणित भी करते हैं। इसी प्रकार जब ज्ञान होता है, तभी वह प्रमाण भी होता है। और उसको प्रमाणित करने के लिये किसी दूसरे साधन की आवश्यकता नहीं है। सभी ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है, जब तक कि कोई विशेष ज्ञान अप्रमाणित न सिद्ध हो जाय। हम सदा यही मानकर चलते हैं कि ज्ञान सत् है, किन्तु यदि उसका कोई अंश मिथ्या सिद्ध होता है, तो उसकी अप्रामाणिकता का कारण हम ज्ञान से बाहर अन्य अवस्थाओं में ढूंढ़ते हैं, जिन्होंने ज्ञान की स्वच्छन्द सिद्धि में बाधा डाली होगी। ज्ञान की अप्रामाणिकता का कारण ज्ञान के साधन में किसी दोष का होना है, जिसे 'कारण दोष' कहते हैं। जैसे यदि कोई मनुष्य एक वस्तु विशेष को देखकर 'रजत्' समझता है किन्तु पीछे वह देखता है कि वह 'शुक्ति' है, या इसी प्रकार पहले सर्प समझी हुई वस्तु को नज़दीक जाने पर रस्सी देखना है, तो उसका पहिला ज्ञान मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यह मिथ्यात्व पश्चाद्वर्ती ज्ञान—बाधक प्रत्यय—की प्रतिकूलता से ज्ञात होता है। मिथ्या ज्ञान या ज्ञान के अप्रामाण्य के विषय में मीमांसा का मत न्याय वैशेषिक के मत के अनुकूल है। किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य के संबंध में दोनों का मतभेद है, जिसका मुख्य कारण न्याय वैशेषिक में प्रतिपादित सद् ज्ञान या प्रमा का स्वरूप और उसे प्रमाणित करने का प्रकार है। न्याय वैशेषिक में प्रमा की परिभाषा 'वस्तु' की अनुरूपता बताई गई है, किन्तु इसकी जो कसौटी बताई गई है, उससे इस बात का निश्चय नहीं होता कि ज्ञान वस्तु के अनुरूप है या नहीं। अतः प्रकारान्तर से 'संवादि-प्रवृत्ति' द्वारा परीक्षा करने की एक विधि बताई गई है। 'संवादि प्रवृत्ति' का अर्थ है सफल क्रिया। इस प्रकार एक दूसरा अनुभव या ज्ञान ही कसौटी का काम देता है। जैसे किसी वस्तु के पानी होने के ज्ञान की कसौटी यह दूसरा ज्ञान होगा कि उससे प्यास बुझती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। किन्तु यदि पहले ज्ञान को दूसरा ज्ञान प्रमाणित करता है, तो दूसरे ज्ञान को भी उसी प्रकार प्रमाणित करने के लिये एक तीसरा ज्ञान चाहिये। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा। और यदि यह भी मान-लिया जाय कि दूसरे ज्ञान को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, तो भी वह ज्ञान से बाहर तदनुरूप किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध नहीं करता। कोई व्यक्ति पानी का स्वप्न देख सकता है और स्वप्न ही में उसे पीकर अपनी प्यास भी बुझा सकता है। यहां पर संवादि प्रवृत्ति अर्थात् सफल क्रिया तो है किन्तु ज्ञाना-नुरूप कोई 'वस्तु' नहीं है। इस कसौटी से तो केवल दो अनुभवों की अनुकूलता मालूम होती है। और इस कसौटी को पर्याप्त मान लेने से 'सद्वाद' का आधार ही जाता रहता है, क्योंकि 'वस्तु की अनु-कूलता' अप्रमाणित ही रह जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि न्याय वैशेषिक 'सद्वाद' से आरम्भ तो करते हैं, किन्तु सदसद् ज्ञान की समस्या के हल में उसका निर्वाह नहीं कर पाते और उसका दार्शनिक आधार ही खो देते हैं। वास्तव में सद्वाद और ज्ञान के परतः प्रामाण्य का सिद्धान्त—ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। इसी कारण मीमांसा दर्शन अपने सद्वाद के अनुकूल स्वतः प्रामाण्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, और सर्वज्ञान को प्रमाण मान लेने से उसे किसी और साधन से जांचने की आवश्य-कता सामान्यतः उसे नहीं होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान का मीमांसक सद्वादी है और कोई ज्ञान ऐसा नहीं होता, जो अपने से बाहर किसी अनुरूप वस्तु को नहीं दिखलाता। किन्तु यहाँ सभी ज्ञान स्वतः प्रामाण्य के सिद्धान्ता-नुसार सद् माना जाता है और उसकी जांच तभी आवश्यक होती है जब उसके प्रामाण्य में कोई संशय उत्पन्न हो। वस्तुतः प्रभाकर यह स्वीकार नहीं करते कि ज्ञान कभी भी अपने आप में——ज्ञान रूपेण—गलत हो सकता है। फिर प्रश्न यह होता है कि मिथ्या ज्ञान क्या है और वह कैसे उत्पन्न होता है। मिथ्या ज्ञान की व्याख्या शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से नहीं हो सकती। ज्ञान को स्वरूपतः व्यवहार का साधन मानकर ही मिथ्या ज्ञान की व्याख्या की जा सकती है। प्रभाकर के अनुसार सर्वज्ञान क्रिया का प्रेरक है। और व्यावहारिक उपयोगिता की इस नई कसौटी पर सद् ज्ञान मिथ्या ज्ञान से सर्वथा पृथक हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञान स्वरूपतः तो कभी धोखा नहीं दे सकता। किन्तु वह ऐसा हो सकता है कि 'उससे काम चले' या 'उससे काम न चले'। पहली हालत में वह सद्ज्ञान या प्रमा होगा, दूसरी हालत में असद्-ज्ञान या अप्रमा। अप्रमा भी ज्ञानत्वेन तो उतना ही मूल्य रखती है जितना कि प्रमा किन्तु उसमें व्यावहा-रिक मूल्य नहीं है। और उसे 'अप्रमा' कहने का यही आशय होता है कि उसका उपयोगी होने का दावा मिथ्या सिद्ध होता है। तदनुसार उसके संशोधन के बाद जब अप्रमा के स्थान पर प्रमा का उदय होता है, तो उसके ज्ञान रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु उससे प्रेरित कर्म का त्याग मात्र होता है। (और अप्रमा के कारण जिस कर्म का त्याग हुआ है प्रमा उसे प्रेरित करती है।) सारांश यह कि ज्ञान के मिथ्यात्व के बोध या निराकरण का प्रभाव चेतना के क्रिया पक्ष पर देखा जाता है, न कि ज्ञान पक्ष पर। किन्तु यहां पर कुमारिल प्रभाकर के मत में संशोधन उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार भी प्रमा अप्रमा द्वारा प्रेरित कर्म को बाधित करती है। किन्तु यह उसका तात्कालिक फल नहीं है। उसका तात्कालिक फल तो वस्तु या विषय के संबंध में हमारे ज्ञान का संशोधन है। तब इस संशोधित ज्ञान का ही प्रभाव हमारी क्रिया पर भी पड़ता है।

कुमारिल के इस संशोधन के प्रकाश में प्रभाकर द्वारा निर्णित ज्ञान और क्रिया के समन्वय में भी कुछ संशोधन आवश्यक हो जाता है। और उसी संशोधन से दोनों का सम्बन्ध होता है। वास्तव में ज्ञान क्रिया का साधन मात्र नहीं, उसका एक अंश ही है। वह क्रिया से भिन्न स्वरूपतः सिद्ध वस्तु नहीं है। उसकी क्रिया से पृथक स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह अपने स्वरूप को सिद्ध करने के लिए भी क्रिया की अपेक्षा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रखता है। वह क्रिया के अंग रूप से ही समझा जा सकता है। वह क्रिया से व्यावृत कोई स्थिर वस्तु नहीं, क्रिया का ही आरम्भ है। ज्ञान से क्रिया तक एक ही अनवरत् शृखंला है। और यह शृखंला चक्रवत् है। ज्ञान से क्रिया और क्रिया से फिर ज्ञान—इस प्रकार एक वृत्त बनता है। किन्तु यह वृत्त ज्ञाता अथवा कर्ता (व्यक्ति या चेतना) में ही पूर्ण नहीं होता। वाह्य वस्तु भी इसका अविच्छेद्य अंग है। विषयी विषय से अपना सम्बन्ध ज्ञान और क्रिया द्वारा जोड़ता है। क्रिया द्वारा वह विषय को परिवर्तित करता है और ज्ञान द्वारा उसे समझाता है। इस प्रकार किसी वस्तु का प्राथमिक ज्ञान विकसित होकर उस वस्तु को बदलने की चेष्टा (क्रिया) के रूप में व्यक्त होता है। इस क्रिया का जो प्रभाव वस्तु पर पड़ता है, उसका अर्थात् क्रिया द्वारा परिवर्तित वस्तु का फिर परिवर्तित ज्ञान होता है। और फिर वह परिवर्तित ज्ञान परिवर्तित क्रिया के रूप में व्यक्त होता है। इसी प्रकार यह अनन्त विकास चक्र चलता रहता है, जिसमें ज्ञान भी पूर्णतर और शुद्धतर होता जाता है और तदनुसार क्रिया भी। दूसरी ओर इसके फलस्वरूप वस्तु का भी विकास होता जाता है। एक शब्द में विषयी और विषय दोनों विकसित होते जाते हैं। विषयी विषय को विकसित करने की चेष्टा में अपना भी विकास करता जाता है।

इस दृष्टि से अप्रमा ज्ञानत्वेन भी उतना ही मूल्य नहीं रखती, जितना कि प्रमा और उसके संशोधन के बाद जब अप्रमा के स्थल पर प्रमा का उदय होता है, तो उसके ज्ञान रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता और ज्ञान के मिथ्यात्व के बोध या निराकरण का प्रभाव चेतना के ज्ञान पक्ष पर नहीं देखा जाता ऐसी बात नहीं है। ऐसी स्वतो व्याहृत बात ज्ञान को क्रिया से सर्वथा पृथक एक स्वतंत्र, स्थिर, निष्क्रिय और अविकासी वस्तु मानकर ही कहनी पड़ती है। ज्ञान की सक्रिय और विकासी कल्पना के लिये यद्यपि अप्रमा स्वरूपतः सर्वथा मूल्य रहित नहीं है, किन्तु मूल्य की मात्रा में प्रमा उससे बढ़ी हुई है। इस दृष्टि से अप्रमा और प्रमा सर्वथा विरुद्ध वस्तुएं ही नहीं हैं। उनमें एक्य भी है। अप्रमा प्रमा का अल्पांश ही है। असत्य वास्तव में अर्द्ध सत्य है, सत्य की ही एक मात्रा का नाम है, जो सदा विकसित होती रहती है। यह सदसद् ज्ञान की समस्या का द्वंद्वात्मक समन्वय है।

इस दृष्टिकोण से सत्यात्मक ज्ञान और कर्म प्रतिपादक सिद्धान्त में भी पार्थक्य नहीं रहता। बीज रूप से सत्यात्मक ज्ञान भी कर्म प्रतिपादक होता है। सिद्धान्त सत्यात्मक ज्ञान की ही एक विकसित मंज़िल है, जो सत्यात्मक ज्ञान और क्रिया के मध्य में पड़ती है। इस प्रकार पूरी शृखंला चार कड़ियों में विभक्त हो जाती है। सत्यात्मक ज्ञान, कर्म प्रतिपादक सिद्धान्त, कर्म और वस्तु।

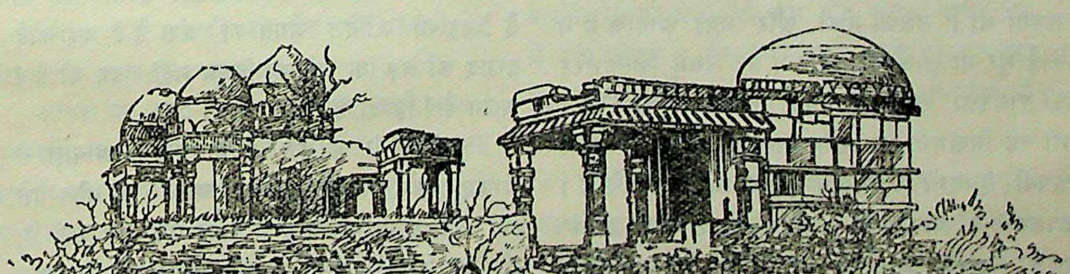

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मज़ार

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार

(१)

ज़िन्दगी में

भीख मांगते हुए, लोगों की दया-भावना को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये, जिन बातों की ज़रूरत होती है, आक़ा में उनमें से एक भी बात नहीं थी। न वह लँगड़ा, लूला, अंधा या अपाहिज था और न इस तरह का कोई भेस ही वह बना सकता था। उसकी मोटी और भद्दी आवाज़ में न कोई सुर या लोच थी और न वह उसमें किसी तरह की द्रावकता लाने का प्रयत्न ही करता था। फिर भी वह भिखमंगा था और भीख मांगते मांगते उसने अपनी ज़िन्दगी के इक्यावन साल निकाल दिये थे। आक़ा के माँ-बाप अपने भिखमंगे बेटे का नाम 'आक़ा' रखकर उसके साथ, जो हर समय दोहराया जाने वाला क्रूर मज़ाक़ कर गए थे, उसका चाहे और कोई अच्छा या बुरा प्रभाव हुआ हो या नहीं, इतना अवश्य हुआ था कि भिखमंगे आक़ा के स्वभाव में एक ख़ास तरह की ज़िद और ख़ास क़िस्म की अड़ शामिल हो गई थी। पेशे की दृष्टि से इस बात ने उसे और भी अधिक असफल बना दिया था।

एक असफल भिखारी के रूप में सारी ज़िन्दगी बिताकर बुढ़ापे में आक़ा लगभग एक निष्काम और अनासक्त भिखमंगा बन गया था। भीख मांगने में भी वह कोई बहुत दिलचस्पी नहीं दिखाता था। इधर-उधर घूम-फिर कर भीख मांगते वह कभी दिखाई नहीं देता था। अनाज के आढ़ती लाला सरजूमल की दूकान के ठीक सामने एक ख़ाली जगह पड़ी हुई थी। इस जगह बरगद का एक विशाल वृक्ष छाया हुआ था। इस वृक्ष की ठण्डी छाया में आक़ा एक तपस्वी के समान बैठा या लेटा सदैव दिखाई देता था। भीख मांगने के लिये अक़्लमन्द भिखमंगों ने जो बीसों आशीर्वचन ईजाद कर रक्खे हैं, उन सबसे आक़ा को जैसे नफ़रत थी। न किसी तरह का आशीर्वचन न किसी तरह का आर्तनाद। रह रह कर बहुत ही मोटी, खुरदरी और भद्दी आवाज़ में वह "हूं!" "हूं!" चिल्ला उठता था। वह भी बहुत जल्दी जल्दी नहीं। घण्टे भर में सिर्फ़ बीस-पचीस बार। जैसे अपने आसपास के प्राणि-जगत को बीच-बीच में वह बता देना चाहता हो कि वह भी है! वह भी जीवित जगत का अंश है! वह कोई बरगद की जड़ या तने का हिस्सा नहीं; वह भी है! अलग है! ज़िन्दा है!

'हूं!' 'हूं!' की इस संगीत-विहीन आवाज़ से आकृष्ट होकर कितने राहगीर आक़ा को भीख देते होंगे, यह कहना कठिन है। परन्तु एक बात पक्की है, और वह यह कि बरसों से इस हुंकार के दिन-रात के लिसनर (Listener—श्रोता) होते हुए भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कम से कम लाला सरजूमल ने आक़ा को कभी एक कौड़ी की भी भीख नहीं दी।

गरमियों के दिन थे। अब के गरमी इतनी तेज़ थी कि बड़े-बूढ़ों को अपनी उम्र पर अभिमान करने का एक और अवसर मिल गया था। 'हमने पिछले ७५ सालों में कभी इतनी गरमी नहीं देखी !'; 'आज से ८० साल पहले एक बरस इतनी तेज़ गरमी पड़ी थी !' आदि। ग़रीब आक़ा ने भी अनुभव किया कि सचमुच पिछले ५१ बरसों में कभी इतनी तेज़ गरमी नहीं पड़ी। जहां तक याद काम करती है, पिछले बीसों बरसों की गरमियां इस घने बरगद की छाया में आक़ा ने मज़े मज़े में निकाल दी थीं। मगर अब के ? अब के तो सूरज उभरने के साथ ही जैसे आग बरसने लगती है। नौ बजते न बजते तेज़ लू चलने लगती है। और यह लू जैसे रास्ते की सभी चीज़ों को चुभ कर पार कर जाना चाहती है। दोपहर के ६ बजे तक इस लू की तीक्ष्णता और चुभने की शक्ति जैसे प्रतिक्षण बढ़ती ही चली जाती है।

आक़ा अपनी परेशान ज़िन्दगी में पहली बार परेशान नज़र आया। आधी सदी की विभिन्न तेज़ मौसमों में पका हुआ उसका शरीर इस साल की तेज़ गरमी को भी शायद बरदाश्त कर जाता। परन्तु इस गरमी का एक असर यह भी पड़ा कि लोगों की आमदरफ़्त बन्द-सी हो गई। आक़ा को पहले भी बहुत कम भीख मिलती थी, अब तो वह लगभग बन्द ही हो गई। वह रोज़ देखता था कि जलती हुई और तेज़ लू के थपेड़े उसकी 'हूं !', 'हूं !' को एकदम व्यर्थ और अश्राव्य सा बना देते हैं। बरगद की शाखाओं पर बैठे परिन्दों को छोड़ कर उसकी यह जीवन की पुकार और कोई नहीं सुन पाता।

नतीजा यह हुआ कि आक़ा भूखा रहने लगा। भूख और गरमी दोनों ने मिल कर उसे बहुत जल्द कमज़ोर बना दिया। यहां तक कि उसकी 'हूं !', 'हूं !' की आवाज़ भी क्षीण होती चली गई।

आख़िर एक दिन आक़ा से रहा नहीं गया। तीन दिनों से पानी और बरगद के सूखे बीजों को छोड़ कर और कुछ भी उसके पेट में नहीं गया था। लाचार होकर बरसों का नियम उसने तोड़ डाला और एक दिन दोपहर को वह अपनी जगह छोड़ कर बाज़ार में भीख मांगने के लिए चल दिया।

आक़ा का ख़याल था कि बरसों के बाद उस का इस तरह चल-फिर कर भीख मांगना राहगीरों और दूकानदारों को बहुत अधिक प्रभावित करेगा। परन्तु बहुत शीघ्र उसे मालूम हो गया कि वह ग़लती पर था। ५१ बरस के बाद पहली बार आक़ा की आवाज़ सचमुच करुण और भीगी-भीगी-सी हो उठी थी, परन्तु फिर भी वह किसी राहगीर को प्रभावित नहीं कर सकी। तेज़ गरमी के कारण शायद लोग अपने सहज मनुष्यत्व में नहीं थे। भीख मांगते-मांगते आक़ा बाज़ार के दूसरे किनारे तक जा पहुँचा, और किसी ने उसे एक पाई तक भी नहीं दी। आक़ा की निराशा और वेदना का अन्त नहीं रहा।

बाज़ार के दूसरे किनारे बरफ़ के किसी कारख़ाने की दूकान थी। बूढ़े आक़ा ने अपनी बची खुची बेशरमी और लाचारी की अनुभूति को जाग्रत कर इस दूकान पर भी भीख मांगी। दूकान वालों ने उसे चना देना चाहा, मगर जब वे इस बात में कामयाब न हुए, तो खीज कर अथवा तमाशे की भावना से दूकान के मालिक ने ८, १० सेर का बरफ़ का एक बड़ा-सा टुकड़ा आक़ा के सामने फेंक दिया और कहा—"जा बाबा, जा, लस्सी बना कर पी !"

क्षण भर के असमंजस के बाद आक़ा ने बरफ़ का वह भारी टुकड़ा उठा लिया और चुपचाप अपनी रोज़ की जगह की ओर लौट चला। रास्ते भर में उसने किसी से भीख नहीं मांगी। उस तेज़ दोपहरी में बरफ़ का स्पर्श उसे एक अननुभूत शीतलता दे रहा था।

चलते-चलते अचानक दूकानदार की बात जैसे उसकी अन्तरात्मा की पुकार बन गई। बरफ़ डाल कर यदि वह दूध की कच्ची लस्सी जी भर कर पी सके, तो सचमुच उसकी आत्मा तक तृप्त हो जाय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बरफ़ वाली मीठी कच्ची लस्सी पीना मानों बूढ़े आक़ा के जीवन की सब से बड़ी साध बन गई।

तेज़ चाल से चल कर लगभग १०, १२ मिनटों में आक़ा बरगद के निकट जा पहुंचा। बरफ़ का टुकड़ा कभी वह एक हाथ पर रखता था, कभी दूसरे हाथ पर और कभी वह उसे दोनों बाहुओं में दबा लेता था। टुकड़ा लिए-लिए वह लाला सरजूमल की दूकान के सामने जा खड़ा हुआ।

बरसों के बाद आक़ा को अपनी जगह छोड़ कर दूकान पर आया देख कर भी लाला सरजूमल को जैसे इस बात में कोई अचम्भा नज़र नहीं आया और अनायास ही उनके मुंह से निकल गया—"जाओ, माफ़ करो बाबा!"

आक़ा ने यथासम्भव मुसकराने की कोशिश करते हुए कहा—"दूध की लस्सी पीनी है लाला जी! ज़रा एक आना दे दीजिए!" यह कह कर उसने बरफ़ का वह बड़ा टुकड़ा लाला जी को दिखा दिया। जैसे वह बताना चाहता हो कि लस्सी का आधा सामान तो उसके पास पहले ही मौजूद है!

एक भिखमंगे के मुंह से ऐसी अनोखी मांग सुन कर लाला सरजूमल को जैसे आग लग गई। उन्होंने डांट कर कहा—"अबे, हमारी दूकान को तूने ससुराल समझ रक्खा है क्या? भाग यहां से!"

मगर आक़ा वहां से नहीं हिला। सिर्फ़ अपनी हार्दिक इच्छा, बिना लाग-लपेट के, उसने फिर से दोहरा दी। लाला सरजूमल ने उसे बहुतेरा डांटा, फटकारा, बुरा-भला कहा, परन्तु वह उनकी दूकान के सामने से नहीं हटा।

पांच-सात मिनटों की कशमकश के बाद आक़ा लाला सरजूमल की दूकान के सामने जैसे धरना देकर बैठ गया। बरफ़ का टुकड़ा नंगी धूप में क्रमशः पिघलता चला जा रहा था। आक़ा के सब चीथड़े उससे गीले हो गए। परन्तु अब भी उसके पास बरफ़ ज़रूरत से बहुत ज़्यादह थी।

लाला सरजूमल ने हज़ार कोशिशें की। मगर आक़ा वहां से नहीं हिला। उन्होंने यह दलील तक भी पेश की कि भिखमंगे मनचाही चीज़ नहीं पाया करते। मीठी लस्सी पीना भिखमंगों का काम नहीं। उसके पास बरफ़ है, तो वह पेट भर कर ठंडा पानी पीले, और ऐश करे। मगर आक़ा नहीं माना। वह वहीं डटा रहा।

दलील, गाली गलौज, मारपीट की धमकी, इन सब में से किसी भी बात का असर आक़ा पर नहीं पड़ा। मगर वक़्त का असर उस पर पड़ना लाज़मी था। घण्टे भर की ज़िद् के बाद आक़ा ने अनुभव किया कि बरफ़ का टुकड़ा, पिघल पिघल कर बहुत ही छोटा रह गया है!

आक़ा की अन्तरात्मा जैसे अचानक विद्रोह कर उठी। सहसा वह उठ खड़ा हुआ, और बाक़ी बचा हुआ बरफ़ का टुकड़ा लाला सरजूमल की दूकान की देहलीज़ पर फेंक कर चुपचाप वह बरगद के वृक्ष के नीचे, अपने सदा के स्थान की ओर लौट चला। चरम-निराशा भरे स्वर में उसके मुंह से निकला—"अच्छा!" और इस 'अच्छा' का अन्तिम भाग एक लम्बे उच्छ्वास में परिवर्तित हो गया।

इस छोटी-सी, या शायद बहुत बड़ी, घटना ने आक़ा का दिल तोड़ दिया। सांझ को और उससे अगले दिन की सुबह लाला सरजूमल ने पाया कि सामने के बरगद के नीचे से 'हूं!', 'हूं!' की आवाज़ आनी बन्द हो गई है।

मालूम होता है, ज़िद्दी आक़ा ने अपने आसपास के मानवीय जगत का तीव्र प्रतिरोध करने की भावना से आमरण अनशन करने का निश्चय कर लिया था। सारी उम्र भूख से डरते डरते जैसे आज अचानक ही उसने भूख को चुनौती दे डाली। तीन दिनों का भूखा और घण्टों का प्यासा आक़ा बरगद की छाया में चुपचाप लेटा रहा।

सुबः शाम जो राहगीर उस ओर से गुज़रते थे, उनका ध्यान लाश के समान निश्चल और शान्त पड़े हुए आक़ा की ओर जाना स्वाभाविक ही था। एक छोटी-मोटी भीड़ उसके चारों ओर हर वक़्त जमा रहने लगी। आक़ा के इस मूक प्रतिरोध ने चारों ओर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के वातावरण में जैसे एक ख़ास तरह की विभीषिका और ख़ास तरह का आतंक पैदा कर दिया। इस आतंक से प्रभावित होकर अनेक राहगीरों ने आक़ा को अनेक तरह से भोजन देने का प्रयत्न किया। मगर आक़ा ने किसी चीज़ को स्वीकार करना तो एक ओर रहा, न किसी की बात सुनी और न किसी खाद्य पदार्थ की ओर देखा।

लोगों का कौतूहल क्रमशः बढ़ने लगा। उसी परिमाण में आक़ा के चारों ओर की भीड़ भी बढ़ने लगी। लोगों को एक नई क़िस्म का तमाशा मिल गया। आदमी अपनी ज़िन्दगी से कभी इतना अधिक बेज़ार हो जा सकता है, यह बात लोगों के लिए अकल्पनीय और अदृष्टपूर्व थी। आक़ा का यह आमरण उपवास बहुत शीघ्र शहर भर की चरचा का विषय बन गया। सारी उम्र आक़ा बाक़ी भिखमंगों से भिन्न बन कर रहा था। ज़िंदगी में तो आक़ा की यह भिन्नता उसके काम नहीं आई, परन्तु अब इसी भिन्नता के आधार पर लोकमत ने अनायास ही उसे भिखमंगे के बजाय 'एक पहुंचा हुआ फ़क़ीर' बना दिया।

आख़िर एक सुबः लोगों ने देखा कि बरगद के नीचे आक़ा की जगह उसकी लाश पड़ी हुई है। लोकमत की आर्थिक भावना ने अब क्रियात्मक सहानुभूति का रूप ले लिया। शहर भर में एक ख़ास क़िस्म का आतंक-सा छा गया और आक़ा के कफ़न और ताबूत के लिये चन्दा जमा किया जाने लगा।

सांझ के समय जब आक़ा की लाश का जलूस निकला, तो हज़ारों आदमी उसकी अरथी के साथ थे। मां बाप का रक्खा नाम मरने के बाद काम आया और आक़ा एक भिखमंगे फ़क़ीर से पहुंचा हुआ फ़क़ीर बन गया।

सहसा लोगों की राय बन गई कि आक़ा की क़ब्र उसी जगह बननी चाहिये, जहां बैठे रहकर उसने सारी उम्र साधना की; जिस जगह पड़े रह कर स्वेच्छापूर्वक उसने अपने प्राणों का त्याग किया। शहर की मुख्य सड़कों का चक्कर काट कर जुलूस उसी बरगद के नीचे वापस आ गया और सूर्यास्त के साथ ही साथ हज़ारों मनुष्यों की उस भीड़ के सामने आक़ा के शव को उसी जगह दफ़ना दिया गया। म्युनिसिपैलिटी के अधिकारी शहर की भूमि के अपहरण को चुपचाप देखते रहे। भीड़ के काम में बाधा देने की हिम्मत किसी को भी नहीं हुई।

रात ही रात में बरगद के उस वृक्ष के नीचे एक नया मज़ार तैयार हो गया।

(२)

मरने के बाद

क : आषाढ़ महीने की पहली तारीख़ को हर साल पीर आक़ा के मज़ार पर हिन्दू और मुसलमानों का एक सम्मिलित मेला होता है। उस दिन सारे शहर में राह चलते को बरफ़ मिली मीठी लस्सी पिलाई जाती है।

ख : म्युनिसिपैलिटी इस जगह शहर के बच्चों के लिए एक पार्क बनाना चाहती थी, मगर पीर आक़ा के मज़ार की सुरक्षा के लिए शहर के हिन्दू और मुसलमानों ने वह उत्साह दिखाया, जिसके सामने म्युनिसिपैलिटी तो क्या प्रान्तीय सरकार को भी हार माननी पड़ी।

ग : आक़ा के मज़ार पर प्रतिदिन जितनी भेंट पूजा भक्तों या दर्शनार्थियों की ओर से चढ़ाई जाती है, आजकल उससे भिखमंगों और फ़क़ीरों की एक पूरी फ़ौज पल रही है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शान्तिनिकेतन में

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी

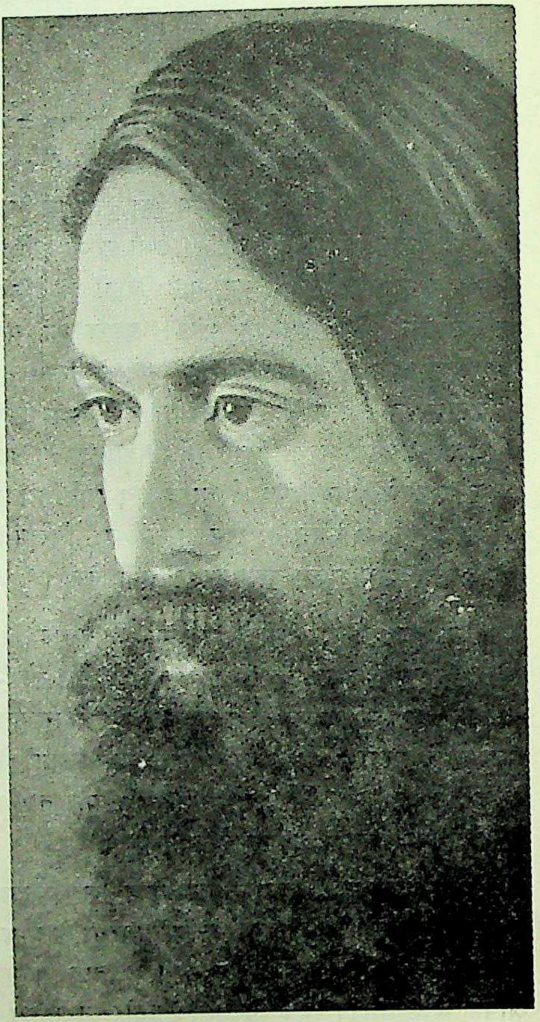

लेखक

मैं पान्थ जो हूं—दूर दूर का राही। शायद इसी लिये यह पान्थ-निवास मुझे इतना पसन्द है। वह सड़क, जिसके किनारे यह मकान खड़ा है, पच्छिम की तरफ़ सन्थालों के गांवों से जा मिली है।

हंसे जाओ, सन्थाल छोकरियो, तुम्हारी हंसी में तो धरती खिल खिलाती है?

सबेरा होते ही सन्थाल स्त्रियां गाँव से निकल पड़ती हैं और पान्थ निवास के सामने से गुज़रती हुई अपने काम पर चली जाती हैं। भूख है, सदियों की ग़रीबी है और बड़ी कठिन मज़दूरी में जीवन गुज़रता है, पर रोज़ रोज़ के जीवन की कड़ुवी सचाईयां उन की हंसी नहीं मार सकीं। शाम को इसी सड़क से वे वापस आ जाती हैं, दिन भर की मेहनत से थक कर।

शहर और गांव तो मैंने बहुत छान मारे हैं। लोग भी मैंने बहुत देखे भाले हैं। बार बार मेरा मुंह पान्थ-निवास की तरफ़ घूम जाता है। जब मैं यहां आता हूं इसी कोने वाले कमरे में ठहरता हूँ। बारह साल से मैं इसे जानता हूं। अब यह मेरा कमरा है।

अपनी खिड़की से, जो सड़क की तरफ़ खुलती है, उस छिदरी छाया वाले वृक्ष की तरफ़ देखता रहता हूं, जिस के नीचे चौकड़ी भूले हुये हिरन की तरह कोई सन्थाल आ खड़ा होता है। वह बांसुरी पर अपना गान छेड़ता है। सदियों से यह बांसुरी जागती रही है। सदियों से यह गान जारी है—

क्या हैं आख़िर हम सब मिल कर,
हम सब मिल कर?
अनगिनत वृक्षों का इक झुरमुट!
बार बार बज बज उठते हैं
ढोल पुराने वक्तों के
लचक लचक जाती हैं कमरें
बाज़ू काले चमकीले
लचकें जैसे कमल हवा के
हलके नरम थपेड़ों से।
क्या हैं आख़िर हम सब मिल कर,
हम सब मिल कर?
अनगिनत वृक्षों का इक झुरमुट?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ये भाव जो पहली बार इधर आने पर एक पुरातन सन्थाल लोक गीत में मुझे मिल गये थे, मेरे मन में नाच उठते हैं। यह कैसा गान है ? बांसुरी वाले की आँखों में आत्म-सम्मान झलकता है।

यह जा, वह जा, वह दूर निकल जाता है। दूर से गान की आवाज़ सुनता हूँ तो मालूम होता है कि दूरी नज़दीकी में बदल रही है। सोचता हूं कि सन्थाल न होते तो शान्ति निकेतन की पृष्ठ-भूमि का बहुत सारा सौन्दर्य फीका पड़ जाता।

इधर ये लोग कब आये ?

अठारवीं शताब्दी के आख़िरी दिनों में।

सन्थाल परगना (बिहार) में वर्षा न होने के कारण खेत बांझ रह गये थे। अकाल से बचने के लिये कुछ लोग इधर आ निकले। होशियार जमींदारों की चाँदी हो गई। मामूली मज़दूरी पर वे अपनी पथरीली भूमि को खेती के लायक बनवाते चले गये। अब भी ये लोग अनथक मेहनत करते हैं। सबेरे के प्रकाश में उन्हें अपनी खिड़की से देखता हूं तो चाहता हूं कि एक सन्थाल से पूछूँ कि रात को भर पेट खाने को मिल गया था या नहीं और जल पान कितना मज़ेदार रहा।

"सब के-सब सन्थाल अपना मुंह खुला रखकर ही चलते हैं, जिस से स्पष्ट होता है कि जीवन-यात्रा में उन्हें बार बार असफलता मिली है और जीवन संग्राम के लिये उन की बुद्धि और उन का अनुभव अपर्याप्त रहा है···सूक्ष्म हास्य और विनोद नहीं देख पाना तो इन को दबी हुई जाति ही बताता। अगर इन लोगों को किसी ख़ास लक्षण ने बचाया है, तो इन के संगीत और इन के नृत्य में प्रकट होने वाले जीवनानन्द ने। जापानी लोगों के बारे में कहा जाता है कि चाहे जितना संकट, दुःख, अपमान अथवा पराजय आ पड़े, जापानी हंसता ही रहेगा। यह कोई बनावटी शिष्टाचार नहीं, परिस्थिति चाहे जितनी विकट हो, जापानी अपना आत्म विश्वास खोता ही नहीं। वह जानता है कि उसका व्यक्तित्व परिस्थितियों से बढ़ा चढ़ा है, और समय पाते ही परिस्थितियों को परास्त करने की क्षमता उस में है। ये सन्थाल भी वैसे ही आत्म विश्वासी मालूम होते हैं। सम्भव है यह आत्म विश्वास न हो, बल्कि परिस्थिति का बालोचित अज्ञान हो···यह संरक्षक अज्ञान न होता तो असहाय और अनाथ बच्चे कभी बड़े न हो पाते और अनन्त आकाश का विस्तार देखकर आदिम निवासी कल्पना के भार से ही दब जाते··· अगर हम जीना चाहते हैं, इन्हें अपने जैसा बना कर अपने साथ लिए बिना चल नहीं सकते।"[1]

हँसे जाओ खिलखिलाकर, भोले सन्थालो ! बजाये जाओ बांसुरी। गाये जाओ गान पुराने। पर जीवन से लड़ना होगा। अपने बल पर। दब कर न रह जाना। कौन खाता है तरस किसी पर ? स्वयं लड़ना होता है दूरन्देशी के बल पर।

छिदरी छिदरी छाया वाले वृक्ष के नीचे एक बुड्ढा सन्थाल आ बैठा है। अपने कमरे की खिड़की से मैं उसे देख रहा हूं। उसके पास जा बैठने को जी चाहता है। लो अब तो सुन्दरम् भी उसके पास आ बैठा है। वह इस बुड्ढे का पेन्सिल स्केच बनाने आया होगा। मैं भी देखूँ चल कर।

बुड्ढा मुसकरा रहा है, सुन्दरम भी और मैं भी।

कितने भोले लोग हैं ये सन्थाल !

जी हां।

कितने भोले लोग हैं ये सन्थाल, ऐसा कहने में सुन्दरम् का लाभ है। वह स्वयं क्यों भोला बनना पसन्द नहीं करता ? यही आदमी यों अपना स्केच न बनाने दे और अपने समय की क़ीमत मांगना सीख ले, तो सुन्दरम् के होश आ जाय। दक्षिण हिन्दुस्तान का यह सुन्दरम् आख़िर कैसा विद्यार्थी है ! चित्रकार बनकर वह पैसे कमायेगा और बहुत सम्भव है यही स्केच जो वह इस समय बना रहा है पांच सात आने में किसी टूरिस्ट के हाथ बेच डाले...पर इससे इस बुड्ढे को क्या लाभ ? उसे अगर इस समय दो

१—'सन्थाली मुरली', काका कालेलकर, 'विशाल-भारत' [फरवरी १९३८]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रसगुल्ले ही खिला दिये जांय, तो वह सुन्दरम् की तरफ़ अहसान-भरी निगाह से देखने लगे।

एक अंग्रेज़ टूरिस्ट कह रहा है, "सन्टाल बहुत अच्छा लोग है।"

मैं सोचता हूं, काश हम सब इतने अच्छे होते। अब अगर मैं यह बात खुल्लम-खुल्ला इस टूरिस्ट से कह दूं तो वह शायद झल्ला कर कह उठे, "आम टो सन्टाल नाइ बनने सकटा !"[1]

कल सुन्दरम् ने एक सन्थाल छोकरी का स्केच बनाया था। पेन्सिल चलाते चलाते वह कह रहा था, "सौंदर्य क्या केवल रंग तक सीमित है ? गोरे रंग और तीखी नोक की पलक से परे भी सौंदर्य की सरहदें फैलती चली गई हैं।"

उस समय मैं सोच रहा था, काश सुन्दरम् ने यही बात सन्थाली भाषा में या सरल बंगला में कही होती तो वह छोकरी अपने सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर समझती कि उसे उसके समय की क़ीमत मिल गई है, और यह सोच करके शायद उसके जूड़े का फूल नीचे को ढल गया है, वह उसे ठीक करने लग जाती, पर वह तो बुत बनी बैठी रही थी। सम्भवतः यह उसका पहला अनुभव तो न था !

सात पौष को शान्ति-निकेतन का जन्म दिन मनाया जाता है। यह 'सातइ पौष' वर्षों से एक मेले का रूप धार चुका है। सागर की उछलती हुई लहरों की तरह सन्थाल छोकरियां बस तट पर आती हैं और उनके अट्टहास आश्रम के शान्त वायु-मण्डल में हलचल पैदा कर देते हैं।

अपनी पेन्सिल तेज़ कर लो, सुन्दरम् !

हां, भाई, सातइ पौष आ गया एक वर्ष बाद। आज मैं नई स्केच बुक में काम शुरू करूंगा।

पहले किसका स्केच बनाओगे ?

किसी दाढ़ी वाले का।

मैं जो हूं।

लहरों के रेले देख लीजिये। एक लहर मेरी अपनी पत्नी है। सन्थाल छोकरियों की देखा देखी उसने पुराने ढंग के गिलट के बने हुये कांटे ख़रीद कर अपने कानों में पहन लिये हैं। सन्थाल स्त्रियां उसे देखती हैं और अजब अन्दाज़ से मुसकराती हैं। सुन्दरम् ने जल्दी जल्दी उसका एक स्केच बना डाला है।

यह स्केच मुझे दे दो, सुन्दरम् भाई।

नहीं यह मेरे पास रहेगा।

अब कविता (मेरी कन्या) अपनी माता का स्केच लेने की ज़िद कर रही है। सुन्दरम् उसके लिये इसी तरह का दूसरा स्केच बना रहा है।

मेरे मन में एक सन्थाल लोक-गीत के भाव जाग रहे हैं।

माता पिता हैं चांद और सूरज
भाई बहन हैं तारे सारे, सारे—
सूरज की किरनों से मेरा जन्म हुआ है
नाम है सूरजमुखी, प्यारे !

पहले पहल कब यह फूल खिल उठा था ? क्या यह धरती कभी इतनी बांझ हो जायगी कि ये फूल खिलने से रह जांय ? क्या मेरी अपनी पत्नी भी एक सूरजमुखी है ?

मास्टर मोशाय[1] आ रहे हैं। बहुत ख़ुश नज़र आते हैं। इन मानवीय लहरों के रेले निस्सन्देह उन के दिल के सागर-तट को छू-छू जाते हैं। वे क्या सोच रहे हैं ? मैंने अपना कैमरा खोल लिया है।

मास्टर मोशाय ! अपना फोटो खैंच लेने दीजिये आज ?

मेरा फोटो ?

जी हां।

अपने विशेष अन्दाज़ से वे फिर कह उठे हैं, "मैं तो इतना सुन्दर नहीं हूं। यों ही फिलम ख़राब

१—हम तो सन्थाल नहीं बन सकता।

१—श्री नन्दलाल बोस, कला भवन के आचार्य; नवीन हिन्दुस्तानी चित्रकला के निर्माताओं में प्रथम श्रेणी के व्यक्ति।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करोगे। किसी सन्थाल लड़की का फोटो क्यों नहीं ले लेते ?

(२)

क्या सोच रहे हो, पण्डित जी ?

कुछ नहीं।

पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी[1] उमर में मुश्किल से मुझसे एक-आध वर्ष बड़े होंगे, पर उन्हें मिलने से पहले उनके लेख पढ़कर श्री प्रेमचन्द तक को ख़्याल था कि उनकी उमर पचास से तो क्या कम होगी। शुक्र है मुझे यह ग़लत फ़हमी न हुई थी।

पहले पहल पण्डित जी मुझे कलकत्ता में मिले थे। यह कोई आठ वर्ष पहले की बात है। उस समय भी वे यों ज़ोर से क़हक़हे लगाया करते थे। जो आदमी उनकी निगाह में न जँचे, उसकी तरफ़ टिकटिकी बाँध कर देखते रहने से वे उन दिनों भी उकताते न थे।

रात को उनके लिये एक पलँग पर बिस्तर लगाया गया और मैं स्वयं एक बड़ी मेज़ पर चादर बिछाकर लेट गया। पण्डित जी मेरी तरफ़ टिकटिकी बाँधकर देखते रहे। आख़िर मैंने कहा, "शास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिये यही हिदायत की गई है कि वह नरम बिस्तर पर न सोये।"

विवाह के कुछ ही महीनों के बाद मैं पत्नी को घर पर छोड़कर चला आया था। किसी तरह यह समझने लगा था कि मैं फिर से ब्रह्मचारी बन गया हूँ। और फिर जब पण्डित जी को पता चला कि मैं विवाहित हूँ तो उन्होंने ज़ोर से क़हक़हा लगाया।

क्या सोच रहे हो, ब्रह्मचारी जी ?

कुछ नहीं।

अकसर वे तिलोत्तमा को याद किया करते हैं। इस अप्सरा के सम्बन्ध में पुराणों में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने जगह जगह से तिल तिल भर सौंदर्य जमा किया और फिर इससे तिलोत्तमा की रचना की। पण्डित जी का ख़्याल है कि अगर ब्रह्मा ने सिर्फ़ यह मसाला जमा किया होता और यह न सोचा होता कि आख़िर इससे किसी तरह की चीज़ तैयार करनी होगी, तो शायद यह सौंदर्य का ढेर अपने आप में सब से असुन्दर चीज़ सिद्ध होता। इस अप्सरा के जन्म का हवाला देकर पण्डित जी कहा करते हैं, "लोकगीतों के खोजी को भी अपनी तिलोत्तमा की मूर्ति की कल्पना कर लेनी चाहिये।" मैं कह दिया करता हूँ—"अपनी तिलोत्तमा की कल्पना मैंने कर रखी है, पण्डित जी !"

पण्डित जी यह मानते हैं कि कुछ लोकगीत इतने सरस और मार्मिक होते हैं कि कालिदास और भवभूति भी उनके सामने हेच नज़र आते हैं, पर सभी गीतों पर तो यह बात लागू नहीं होती। वह यह दलील दिया करते हैं, 'लोक-मानस भी गीतों को जन्म देते समय उन्हीं भावों से स्पन्दित और आन्दोलित हुआ है जिनसे कालिदास और भवभूति प्रभावित हुये थे। इसी तरह घास और बाँस प्रकृति के एक ही महकमे से सम्बन्ध रखते हैं पर कोई भला आदमी बाँस की जगह घास का प्रयोग नहीं करेगा···हमारे पड़ोसी सन्थाल लोग पुराने रहन सहन पर मुग्ध हैं। हम उन से स्नेह कर सकते हैं पर इसका भाव यह तो नहीं कि हम स्वयं भी सन्थाल बन जाँय। सन्थाल बनकर हम समय का अपमान करेंगे आज की सभ्यता क्या चाहती है ? यही ना कि हम नये युग के साथ साथ चलें···हाँ तो मैं कह रहा था कि लोकगीतों के निर्माता कालिदास, भवभूति और रवीन्द्रनाथ की बिरादरी ही से हैं पर इसका भाव यह तो नहीं कि आज का कवि लोकगीत लिखने लगे और कालिदास, भवभूति और रवीन्द्रनाथ से मुंह मोड़ ले। क्या यह बात अफ़सोस करने के योग्य नहीं कि हमारे कुछ युवक कवि अब गीत लिखने लगे हैं ताकि खद्दर-प्रचार में मदद दें ? और हमारे कुछ साहित्य-सेवी उनकी पीठ ठोंकने लगे हैं !'

जब भी लोकगीतों के बल पर जनता के दुःख सुख का ज़िक्र छेड़ता हूँ, पण्डित जी बात का रुख़ बदलकर मेरा ध्यान उस सभ्यता की तरफ़ मोड़

[1] शान्तिनिकेतन में हिन्दी और संस्कृत के अध्यापक और 'हिन्दी भवन' के आचार्य।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देते हैं जो उनके ख़याल के अनुसार प्राचीन आर्यों के हिन्दुस्तान में आने से पहले इस देश में मौजूद थी। मुझे हँसी आ जाती है। मुझे विश्वास है कि यदि कोई प्रगतिशील साहित्य-सेवी उनका भाषण सुन ले तो ज़रूर उन्हें प्रतिक्रियावादियों की श्रेणी में गिनने लगे!

अपनी बात पण्डित जी यों शुरू किया करते हैं, 'लोकगीतों की सहायता से हम एक पुराने संसार को प्राप्त कर लेंगे जिसे या तो हम भूल चुके हैं या जिसे हम ग़लत समझ बैठे हैं। राजनीतिक रूप में तो आर्य लोगों ने हिन्दुस्तान को जीत लिया था, पर उस सभ्यता को जो पहले से यहां मौजूद थी और इस विशाल देश के हर भाग में ज़रा ज़रा फ़र्क़ के साथ सांस ले रही थी, आर्य लोग पराजित न कर सके थे...आज भी हमारे जन-साधारण के रस्म-रिवाजों में आर्यों से पहले की उस सभ्यता की कुछ न कुछ झलक पाई जाती है। प्राचीन लोकगीत उस सभ्यता पर प्रकाश डाल सकते हैं। पुरातत्त्व विभाग वालों को यह बात बुरी न लगे तो मैं कहूँगा कि प्राचीन लोकगीतों का महत्त्व मोहेंजोदड़ो सरीखे खण्डहरों से कहीं ज़्यादा है।'

यह सुनकर मैं सोचने लगता हूं कि क्या ये शब्द उन्हीं पण्डित जी के मुख से निकल रहे हैं जो कहा करते हैं कि सन्थाल बनकर हम समय का अपमान करेंगे!

एक बार लिथुआनिया का एक प्रोफ़ेसर शान्तिनिकेतन देखने आया था। अपने भाषण में उसने बताया कि पिछले पांच सौ वर्षों से उसका देश ईसाई धर्म के पंजे तले रहा है और बराबर स्वाधीनता के लिये लड़ता रहा है। ईसाई विजेताओं ने पुराने राष्ट्रीय साहित्य को नष्ट कर दिया। अब जब इस देश को आज़ादी मिल चुकी है वह अपनी पुरातन राष्ट्रीय संस्कृति को फिर से ज़िन्दा करना चाहता है। लोगों के पास सिर्फ़ वे गीत बच पाये हैं जो सदियों से उनके ओंठ चूमते आये हैं। इन गीतों के प्रकाश में लिथुआनिया अपनी खोई हुई दुनिया को ढूँढ़ लेना चाहता है। लोकगीतों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और अभी कई संग्रह तैयार किये जा रहे हैं।

पण्डित जी कहा करते हैं कि उस प्रोफ़ेसर ने उन्हें बताया था कि लिथुआनिया की पुरानी सभ्यता पर हिन्दुस्तानी संस्कृति का बहुत असर रह चुका है। जब एक व्यक्ति वहां दूसरे व्यक्ति से मिलता था तो 'राम राम' (?) कहा करता था और जब कोई मर जाता था तो उसके सम्बन्धी 'राम नाम सत्त' (?) कहा करते थे। मैं कहता हूँ, "लिथुआनिया के लोकगीतों पर कोई पुस्तक अंग्रेज़ी में ज़रूर मिल जायगी, और ये सब बातें मैं बहुत ध्यान से पढ़ूंगा, पण्डित जी!"

एक बार पण्डित जी ने भी अपने गाँव[1] में लोकगीतों का अध्ययन शुरू किया था। माता दाई (शीतला) की पूजा के एक गीत में एक पद ऐसा भी आता था जिसमें यह पता चला कि माता दाई का विवाह किसी 'अलीसेर' (अलीशेर?) से हुआ था। उन्होंने यह गीत लिख कर एक हिन्दू मित्र को दिखाया तो वह बोला, 'हिन्दू स्त्रियों को यह गीत गाना बन्द कर देना चाहिये।' फिर जब यह गीत श्री मनमोहन घोष एम० ए० को दिखाया गया तो वे बोले, यह "अलीसेर अलीशेर का बिगड़ा हुआ रूप नहीं है बल्कि किसी बौद्ध महायान मरमी का विकृत नाम होगा। इससे मिलता जुलता एक नाम मैंने बौद्ध भिक्षुओं में पाया भी है।"[2]

पण्डित जी कहा करते हैं, "कौन कह सकता है कि "अली सेर' का ज्ञान हमारी किसी बड़ी जानकारी का साधन नहीं होगा?"

---

१ युक्त प्रान्त बिहार की सीमा पर बलिया ज़िला

२ बहुत से बौद्ध गान और बौद्ध देवी देवताओं के नाम लोक गीतों में छिपे हैं। इस दिशा में डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त ने बङ्गाल के कुछ गीतों का अनुसन्धान किया है। पर हिन्दी में अभी किसी अध्येता ने इस ओर ध्यान नहीं दिया—सम्पादक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्थाली गीतों के बारे में पण्डित जी दिलचस्पी से सुनते सुनाते हैं। एक बार वे क्षिति बाबू[1] के साथ घूमने निकले तो उन्होंने देखा कि सन्थाल स्त्रियों की एक टोली हाथ में पुआल की मशाल जलाते हुये गाती चली जा रही है। ये स्त्रियां दूर निकल गईं, तो क्षिति बाबू ने पूछा, "कहिये, क्या सुना?" और जब पण्डित जी ने बताया कि गङ्गा पूजने जाती हुई स्त्रियाँ उनके अपने गाँव में भी इसी लय में गाया करती हैं, तो क्षिति बाबू बोले, "गङ्गा आर्यों का शब्द नहीं है। उनके यहाँ आने से पहले भी यह हिन्दुस्तान की स्थानीय जाति में प्रचलित था। ये सन्थाल भी उसी प्राचीन जाति में से हैं। आप के प्रान्त की स्त्रियों ने गङ्गा-पूजा का वह गीत किसी ज़माने में सन्थाल स्त्रियों से ही सीखा होगा।"

मेरे संग्रह में पण्डित जी को एक गुजराती दुलहन का दुःखान्त गीत बहुत पसन्द है। उस बेचारी का अपना पति एक घरेलू ग़लतफ़हमी के कारण सोने के कटोरे में ज़हर घोलकर उसे पिला देता है। सारे गीत पर वेदना का वायु-मण्डल छा रहा है। "ऐसा कोई गीत सन्थालों में भी ज़रूर मिलना चाहिये," यह कहते हुये वे किसी गहरी सोच में खो जाते हैं।

पण्डित जी अकसर कहा करते हैं कि कभी किसी लाटरी में यदि उन्हें पछत्तर लाख रुपये मिल जायँ तो पाँच लाख रुपये मुझे दे देंगे ताकि मैं लोक गीतों का प्रकाशन बड़ी सुन्दरता से कर सकूँ।

उन्हें अपने वेतन का काफ़ी भाग पीछे घर पर भेज देना होता है। रात की नींद हराम करते हैं तब जाकर कुछ लेख लिख पाते हैं। इससे कुछ आमदनी हो जाती है, पर उन्हें यह डर लगा रहता है कि कहीं कोई यह एतराज़ न करे कि इतने लेख लिखने वाला प्रोफ़ैसर कालिज के काम में कैसे मन लगाता होगा!

कलकत्ता में प्रगतिशील लेखकों के कुल हिन्दुस्तान सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन अभी अभी ख़तम हुआ था। अगले ही दिन जब इसके प्रधान डाक्टर मुल्कराज आनन्द यहाँ पधारे, पण्डित जी से भी मिले थे। शुरू में डाक्टर आनन्द ने पण्डित जी के सामने एक घण्टे तक अपनी बात जारी रखी। पण्डित जी बुत बने सुनते रहे; बीच में कुछ भी बोलेंगे तो निस्सन्देह प्रतिक्रियावादी सिद्ध होंगे, यही डर लगा रहा।

शायद असली प्रगतिशील लेखक वही है जो जब भी किसी आदमी से मिले एक घण्टे तक अपनी बात सुनाता रहे और सुनने वाले को अपनी ज़बान से एक भी शब्द न कहने दे।

प्रगतिशील लेखकों के इस सम्मेलन के सिलसिले में सुब्बाराओ और रेड्डी बुरी तरह झगड़ रहे हैं। इस की भी एक कहानी है:—

ये दोनों लड़के आन्ध्रदेश के हैं। रेड्डी कालिज की पढ़ाई ख़तम कर चुका है और अब संगीत का अभ्यास बढ़ा रहा है। सुब्बाराओ अभी आई० ए० के दूसरे वर्ष में पढ़ता है। जब डाक्टर आनन्द को मालूम हुआ कि यहां से वे एक आदमी को तेलुगू साहित्य की कुरसी के लिये सम्मेलन में ले जा सकते हैं तो वे बहुत ख़ुश हुये।

रेड्डी से पूछा गया तो उसने जाने से इनकार कर दिया। बोला, "मैं लेखक ही नहीं, प्रगतशील लेखक कहां?" पर सुब्बाराओ मान गया।

जब से सुब्बाराओ सम्मेलन से लौटा है उसका जीवन दूभर हो गया है। रेड्डी उसका मज़ाक़ उड़ाता रहता है। आज किचिन में हाथा-पाई तक नौबत पहुँच गई...रेड्डी बोला, "तेलुगू साहित्य पर सीधी तरह कुछ कहो तो तुम्हारी योग्यता का अन्दाज़ा लगाऊँ। वाह बिना कुछ समझे बूझे प्रगतिशील लेखक भी बन बैठे। कलकत्ते के सम्मेलन में तेलुगू साहित्य की कुरसी पर बैठकर तुम ने सारे आन्ध्रदेश का अपमान किया है। मैं तुम्हें कभी क्षमा नहीं कर सकता।"...बस इसी पर हाथा पाई होने लगी।

पण्डित जी कह रहे हैं 'अपने शान्तिनिकेतन से जिसे हम हिमालय पर्वत पर शुरू करने वाले हैं,

---

१ श्री क्षितिमोहन सेन, शान्ति निकेतन में 'विद्या भवन' के आचार्य।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आप की लोक गीत सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित होंगी, हम ऐसा प्रबन्ध करेंगे कि वहां ऐसी हाथा-पाई कभी न हुआ करे।'

मैं कहता हूँ, "पण्डित जी, ये हाथापाईयाँ तो रहती दुनियाँ तक जारी रहेंगी...छोटी हाथापाईयाँ... बड़ी हाथापाईयाँ!"

(३)

सातइ पौष के मेले पर पिछले वर्ष श्री सी० एफ० ऐंड्रूज़ से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे यों मिले थे जैसे कोई बाप वर्षों के बिछुड़े हुये बेटे से मिलता है। चीना भवन की ओर उनके साथ जाते हुये मैंने देखा कि वे सभी से बग़लगीर होकर मिलते हैं। सामने कोई सन्थाल आ जाता तो वे उसे भी छाती से लगा लेते। मुझे यों महसूस हो रहा था कि मैं स्वयं हज़रत ईसा मसीह के हमराह चल रहा हूँ।

इस बार उन्हें कलकत्ता में काम था। इस लिये सातइ पौष के फ़ौरन बाद चल दिये। वे कह रहे थे, "कौन जाने अगले सातइ पौष पर तुम किधर रहो और मैं किधर रहूँ। पिछले वर्ष की तरह अब के हम फिर मिल सकें, यह कुछ कम बात नहीं है...तुम्हारे कार्य से मुझे बहुत दिलचस्पी है। हर कार्य एक साधना माँगता है, एक धुन; और मैं तो समझता हूँ कि गाँव वालों के गीत बड़ी ख़ूबी के साथ हिन्दुस्तान का धड़कता हुआ दिल हमारे सामने ले आते हैं।"

चलते चलते वे कह गये कि मैं उन्हें उनके फोटो जल्द भेजूँ। क्रिसमिस की सुबह को उनका जो फोटो लिया था उसमें उनकी भरपूर हार्दिक ख़ुशी को दिखाने का यत्न किया था। उन्हें एक दूसरा फोटो और भी पसन्द आता जिसमें कविता—मेरी कन्या, उनकी गोद में बैठी है।

वे कह रहे थे "जीवन की एक बड़ी ख़ुशी मुझे उस समय मिलती है, जब किसी बच्चे का हाथ मेरी दाढ़ी को छू रहा होता है, यों लगता है कि वह कोई बच्चा नहीं है, बल्कि मेरा अपना बचपन यह रूप धारण कर मेरे पास आ निकला है और पूछ रहा है—तुमने समझा था मैं तुम्हें छू न सकूँगा?"

मानवीय लहरों के वे ज़बरदस्त रेले अब नज़र नहीं आते। पान्थ-निवास के सामने वाली सड़क पर फिर वही ख़ामोशी छा रही है।

दूर से बाँसुरी की लय कान तक पहुँचती है और समय गुज़रता रहता है पल पल करके।

सवेरा, दोपहर, शाम!

वर्तमान भूत बन जाता है। भविष्य वर्तमान बन जाता है। गानें से पेट तो नहीं भरता, पर गाना भी ज़रूरी है। सदियों से यह बाँसुरी काँपते डगमगाते आदमी का सहारा रही है, सदियों से वह कभी सोई नहीं। यह यहां न होती तो शान्ति-निकेतन का बहुत सारा सौंदर्य फीका पड़ जाता। और मैं तो समझता हूँ गुरुदेव की कविता भी इससे प्रभावित हुई है।

आसाम से लौटकर दार्जिलिंग में गुरूदेव से मिला था तो उन्होंने मेरी ऑटोग्राफ़-बुक में ये शब्द लिख दिये थे।

दुनिया की ख़ाना-बदोश हस्तियो!
मेरे शब्दों में छोड़ जाओ अपनी खोज।

मैं सोचने लगा था कि सन्थालों ने भी, जो अठारहवीं शताब्दी के आख़िरी दिनों में इधर के गांवों में आ बसे थे और जो रोज़ इस सड़क पर चलते हैं जो पान्थ-निवास के सामने से गुज़रती है, गुरुदेव की कविता में ज़रूर अपनी खोज छोड़ी होगी।

कल ही की बात है। मैं गुरूदेव को कुछ फोटो दिखला रहा था। एक सन्थाल छोकरी के चित्र पर उनका ध्यान जम गया। मैंने पूछा, "आपको यह चीज़ पसन्द आई?"

"हाँ," वे बोले, "इसका नाम होना चाहिये, धरती की पुत्री। किस तरह आंखें झुका रखी हैं इस ने! यह लाज तो खेतों की लाज है जो धान की तरह उगती है...ज़रूर यह धरती की पुत्री है।"

'तो इसे आप रख लीजिये," मैंने ख़ुश होकर कहा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गुरूदेव ने मुसकराकर मेरी तरफ़ देखा और तसवीर अपने सेक्रेटरी के सुपुर्द कर दी।

"मैं तो समझता हूँ," मैंने कहा, "कि वह सन्थाल लड़की जिसने अपने गीत में दरिया किनारे की चट्टान तले सोये हुये पानी से अपने प्यार की तुलना की है और किसी युवक को सम्बोधन करके कहा है कि वह बाँसुरी न बजाये ताकि यह सोया हुआ पानी जाग न उठे, ज़रूर कोई ऐसी ही कुंवारी होगी..."

"मेरा भी यही विचार है," गुरूदेव बोले।

उत्तरायण [१] के दरवाज़े से ज़रा परे सड़क के किनारे किंकर दा [२] सीमेंट कंकरीट से दो तीन कद्दे आदम मूर्त्तियाँ बनवा रहे हैं!

एक सन्थाल स्त्री ने सिर पर टोकरा उठा रखा है, एक पुरुष काँवर उठाये हुये है, पास ही उनका कुत्ता हुक्म में बँधे हुये आदमी की तरह खड़ा है। पहले काठ के ढाँचे खड़े किये गये थे। अब सीमेंट कंकरीट से काम किया जा रहा है। जब ये चीज़ें पूर्ण हो जायेंगी तो आश्रम का सौंदर्य और भी बढ़ जायगा। परे गाँवों से आते हुये सन्थाल सुबह के प्रकाश में दूर से इन मूर्त्तियों को देखकर क्या सोचा करेंगे, यही सोच रहा हूँ। दिल कहता है कि यह चीज़ तो आज से बहुत पहले बन जानी चाहिये थी।

किंकर दा कह रहे हैं, "ये मूर्त्तियाँ बहुत ज़्यादा फ़िनिश नहीं की जाँयगी, वैसी ही सादा और खुरदरी हालत में रहेंगी जैसे कि आज से कई वर्ष पहले एक अप्सरा की मूर्ति में तजुरबा किया गया था जो अब भी कला-भवन हॉस्टल के समीप खड़ी है।"

मैं कहता हूँ, "देवताओं और अप्सराओं की मूर्त्तियां तो बहुत बनाई गईं पर स्वयं धरती के वासियों का यह प्रतिनिधित्व अलग विशेषता रखता है।

दूर से सन्थाल बाँसुरी के स्वर समीप आने लगते हैं। मेरे मन में वही पुराना गीत जाग उठता है जो बारह वर्ष पहले प्रथम बार इधर आने पर सुना था—क्या हैं आख़िर हम सब मिलकर?...अनगिनत वृक्षों का इक झुरमुट![३]

बजाये जाओ बाँसुरी, भोले सन्थालो! गाये जाओ गान नये पुराने। गाना भी ज़रूरी है। शक्तियों का बोझ जो झेलना होता है। तुम्हारे गीतों में गाती है धरती माता, अच्छी प्राचीन धरती माता! पर जीवन होगा अपने बल पर। दब कर न रह जाना। कौन खाता है तरस किसी पर?...हाय, जीवन की कड़वी सचाईयाँ!...[४]

१—कवीन्द्र के सुपुत्र का निवास स्थान।

२—कला-भवन के एक कलाविद

३—यह और दूसरा एक गीत, जिनका इस लेख में प्रयोग हुआ है, हिन्दी में पलटाये हुये हैं।

४—उपरोक्त लेख लेखक ने दो वर्ष पूर्व जनवरी ३९ में लिखा था और अप्रकाशित पड़ा था। थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ यह प्रकाशित किया जा रहा है। हमारा विश्वास है तब से अब तक प्रगतिशील लेखकों के सम्बन्ध में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी जी ने अपनी राय अवश्य दोहराई होगी।—सम्पादक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक लोक प्रचलित कहानी

मेरा लाल राजा से भी बड़ा !

श्री विष्णु

पुराने ज़माने के एक शहर में एक स्त्री रहती थी। घास छीलकर पेट पालती और राम का नाम लेती। उस काल की व्यवस्था के अनुसार उसकी जाति नीची थी। उसका शरीर भी जर्जर था और वस्त्र भी फटे हुये। परन्तु उसके नेत्रों में प्रकाश था, मन में उमंग थी और शरीर की जर्जरता में जीवन चमकता था। इसका कारण उसकी भरी हुई गोद थी। उसके जीवन का वरदान उसकी छाती से चिपका हुआ था। वह उसका प्रतिरूप था, परन्तु उसके लिये वह पृथ्वी का चांद था। स्नेह से विभोर वह उसे चूम लेती और कहती—मेरा लाल बहुत बड़ा, राजा से भी बड़ा।

लोग सुनते और मुस्कराकर आगे बढ़ जाते। कुछ उसकी स्पर्धा पर कटाक्ष करते। कुछ उसे स्नेह का स्वर समझकर गदगद होते, परन्तु ज़्यादातर वे लोग थे, जो थे तो मानव पर ऊंचे थे। भौतिक नाप तोल में नहीं, परन्तु कहते थे वे आत्मिक नाप में ऊंचे हैं। वे ही लोग उस नीच वर्ग की 'माता' के उन शब्दों को सुनकर कहते—छीः अभागिन नारी ! तेरी इतनी स्पर्धा !!

'तेरा काला कलूटा बच्चा राजा से भी बड़ा ?'

'राजा वह जो परमेश्वर का स्वरूप है !'

'जो स्वयं परमेश्वर है !'

पहिले तो वह स्त्री सुनकर मुस्करा देती, परन्तु उनका स्वर दिन पर दिन तीव्र होता गया। अपशब्द, ताड़ना सभी को बिखरे फूलों की तरह उसने अपने ऊपर लिया, परन्तु कहती रही—मेरा लाल बहुत बड़ा, राजा से भी बड़ा।

क्रुद्ध होकर अब उन लोगों ने कहा—'राजा ने सुन लिया तो कोल्हू में पिलवा देंगे।'

'तेरी सात पीढ़ियां तहख़ानों में सड़ेंगी।'

'तेरी जात बिरादरी तेरे साथ सूली पर लटकेगी।'

और सचमुच एक दिन राजा ने सुन ही तो लिया। व्यवस्था के कान लम्बे होते हैं। सुनकर क्रोध उमड़ आया, बोले—उस नीच नारी की इतनी स्पर्धा ! उसे सभा में उपस्थित करो।

व्यवस्था में भूचाल आ गया। दूत दौड़ कर उस नीच नारी की झोपड़ी पर पहुँचे और स्वर में तीव्रता साकार करके बोले—तुझे राजा ने बुलाया है।

राजा ने बुलाया है—उस स्त्री के सम्बन्धी हठात कांप उठे। लहू पानी बन गया और शरीर निर्जीव !

लेकिन वह स्त्री थी शान्त गम्भीर ! काँपी वह भी लेकिन उसी तरह जिस तरह परीक्षा में सर्व प्रथम आने वाला विद्यार्थी पारितोषक लेते वक्त कांपता है। उसने आगे आकर कहा—मैं राजा के पास चलूंगी !

(२)

राजा की सभा इन्द्र सभा की तरह सजी हुई थी। मणि मुक्ताओं से जड़ित स्वर्ण सिंहासन पर राजा बैठे थे शान्त गम्भीर ! ऋषिवर्ग काषाय वस्त्र धारण किये राजा के दाहिनी ओर गम्भीरता में बृहस्पति का अनुरूप कर रहे थे। बाईं ओर कौषेय वस्त्रों में महातेजधारी प्रधान तथा अन्य मंत्री, सचिव तथा सामन्त थे। फिर वर्गाकार स्थिति में अन्य व्यवस्था के अधिकारी, आत्मीय, नागरिक तथा सुधी गण थे। शूद्र गण अपने-अपने स्थानों पर स्तम्भ की तरह स्थिर थे। मौनता सर्वत्र व्याप्त थी। ऐसे ही समय उस स्त्री को लेकर दूतों ने राज सभा में प्रवेश किया। सब की दृष्टि एक साथ उठी और क्षण भर के लिये उठी की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उठी रह गई। मन इतने में बोल उठा—अरे! इस नीच स्त्री की इतनी स्पर्धा !!

ऋषि गण उसकी ढीठता पर मुस्कराये ! सामन्त गण क्रुद्ध हुये। प्रधान मंत्री उपेक्षा से दूसरी ओर देखने लगे और राजा क्षणिक मुस्कराहट से बोले—यह है वह स्त्री ?

स्त्री ने गोद के बालक को ज़मीन पर बैठा कर राजा को साष्टांग दण्डवत किया। बोली—राज राजेश्वर की जय हो !

राजा कठोर हुये—तुम कहती हो कि तुम्हारा बेटा राजा से भी बड़ा है ?

स्त्री के नेत्र पृथ्वी में गड़े रहे—जी राज राजेश्वर !

'अब भी कहती हो ?'

'जी, राज राजेश्वर !'

राजा आख़िर राजा थे। क्षण भर के लिये विचार-मग्न होकर बोले—'कारण बता सकती हो ?'

'अवश्य राजन् !'

तो बताओ—राजा फिर कठोर हो उठे और सभा में उत्सुकता उमड़ आई ! अचरज से अनेक आंखें उसी स्त्री और बच्चे पर स्थिर हो गईं। स्त्री ने पहिली बार सिर उठाया। वह काँप रही थी। उसके चेहरे का रंग बदल रहा था। उसने हाथ जोड़ कर कहा—राज राजेश्वर की जय हो ! एक प्रार्थना है।

कहो—राजा बोले !

एक विषधर नाग मँगा दीजिये—स्त्री ने प्रार्थना की।

विषधर नाग—सभा फुस फुसाई !

विषधर नाग—राजा दोहरा गये।

जी, राज राजेश्वर—स्त्री ने दृढ़ होकर कहा।

उस स्त्री की प्रार्थना राजा की आज्ञा के कारण पूरी की गई। कुछ ही क्षणों में फुंकारते हुये नागराज को लेकर सँपेरा वहाँ आ गया। सभा में भय की एक लहर दौड़ गई, लेकिन यह स्त्री उसी तरह काँपती काँपती हाथ जोड़े खड़ी थी। उसने फिर कहा—एक और प्रार्थना है, राज राजेश्वर !

कहो—राजा अचरज के साथ पर स्थिरता से बोले !

स्त्री ने कहा—राजेश्वर ! मैं प्रार्थना करती हूं कि आपकी सभा में जो मनुष्य इस नाग को पकड़ सके वह आगे आजाये।

सभा में मौत का सन्नाटा साकार हो उठा। कोई नहीं बोला, कोई नहीं हिला।

राजा बोले—अभागिन नारी ! इसे पकड़कर कौन मरना चाहेगा। यह तो काल है।

स्त्री मुस्कराई—राजन ! जो काल के प्रेम को जीत सकता है, क्या ऐसा कोई भी व्यक्ति सभा में नहीं है ? आप भी नहीं राजेश्वर !

नहीं—राजा बोले।

है—स्त्री ने नम्रता से कहा।

कौन—सारी सभा एक साथ राजा के स्वर में चिल्ला उठी ?

यह बच्चा !—स्त्री ने कहा और शीघ्रता से अपने बच्चे को उठा कर नागराज की पिटारी के पास बिठा दिया। पलक मारते यह सब हो गया। सभा भूचाल के झटके से हिल हिल उठी। राजा उस क्षण देख भी नहीं सके, पर जब स्थिर होकर सबने देखा तो वह काला कलूटा बच्चा किलकारी मारकर हंस रहा था और नागराज परम स्नेही बन्धु की तरह उसके हाथों को चूम रहे थे।

तब उस स्त्री ने गर्व से गद्‌गद् होकर कहा—मेरा लाल बहुत बड़ा, राजा से भी बड़ा !

× × ×

और उसके कुछ क्षण बाद मौत की बाट जोहते हुये उसके अनेक सम्बन्धियों ने जब उसे मणि-मुक्ताओं से लदा हुआ देखा, तो वे अचरज से पागल हो उठे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कबीरदास के "निर्गुण राम"

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी

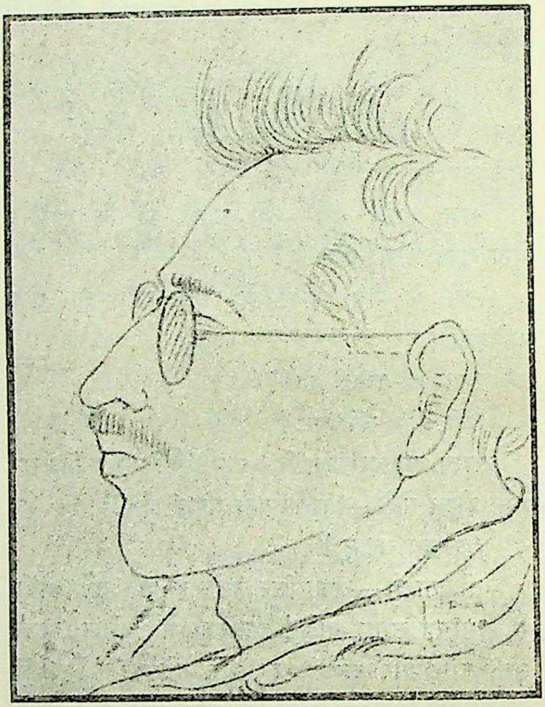

कई बार कबीरदास के आलोचकों ने आश्चर्य प्रकट किया है कि उन्होंने निर्गुण राम की उपासना कैसे बताई। वेदान्त ग्रथों में ब्रह्म ज्ञान के कई प्रकार के अधिकारी बताये गये हैं। उत्तम अधिकारी ब्रह्म के चैतन्य मय स्वरूप की उपलब्धि करके जीते ही जीते मुक्त हो जाता है। अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने के बाद यद्यपि उसका शरीर कुछ दिनों तक आहार-निद्रा आदि विकारों का वशवर्ती रहता है, पर वस्तुतः उसका आत्मा छुटकारा पा गया होता है। जिस प्रकार कुम्हार का चाका डंडे के घूर्णन-वेग को हटा लेने पर भी पुराने वेग के कारण कुछ और देर तक घूमता रहता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त का शरीर कुछ और काल तक चलता रहता है, पर असल में उसका आत्मा मुक्त हो गया होता है। "जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्था रूप जो माया है वही त्रैलोक्य का कारण है। जो कुछ दिख रहा है वह सभी इस माया के ही कारण। किन्तु परं ब्रह्म के दर्शन के बाद माया की मरीचिका जाती रहती है और जाग्रत् असत्य भासने लगता है। सकल-वस्तु-स्वरूप वह परं ब्रह्म नाम रूप और क्रिया से रहित है। किन्तु जो इस जगत् को माया के बल से सृष्टि करता है वह ईश्वर है। यही ईश्वर सब कुछ में प्रविष्ट हो रहा है।" (आत्मज्ञान ४-५) उत्तम अधिकारी इस तत्त्व को शम-दम-नियम-संयमादि अभ्यास के द्वारा आयत्त कर लेता है (पंच० ९. २०) परन्तु बुद्धि की अत्यन्त मंदता के कारण या साधनों के अभाववश जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी नहीं हो सका वह क्या करे? क्या वह सगुण की ही उपासना करे और 'परं निर्गुणं ब्रह्म' की आशा छोड़ दे? पंचदशी में विद्यारण्य स्वामी ने उत्तर में कहा है कि नहीं; वह निर्गुणतत्त्व की उपासना करे। यदि कहो कि जो वाणी और मन के गोचर है ही नहीं उसकी उपासना कैसे हो सकती है? तो उल्टे तुम्हीं से प्रश्न किया जा सकता है जो वस्तु वाणी और मन के परे है, अर्थात् जिस तक न तो वाणी पहुँच पाती है और न मन, उसका अनुभव भी तो संभव नहीं है, उसका जान लेना भी तो संभव नहीं दिखता। फिर यदि यह संभव है तो उपासना क्यों संभव नहीं है? [पंचदशी ९.५४-५७] विद्यारण्य स्वामी के इस कथन में ही कबीर के आलोचकों का उत्तर पाया जा सकता है। क्योंकि उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट भाषा में कहा है कि निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की उपासना असंभव नहीं है (९-५५)।

कुछ साम्प्रदायिक पण्डितों की ओर से इस प्रकार के 'रहस्योद्घाटन' का दावा किया गया है कि 'सन्त मत के प्रवर्तक आदि गुरु कबीर साहब;...के विचार हैं कि जो मन्दाधिकारी सत्त्वशुद्धि के अभाव से आत्म-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचार नहीं कर सकता, वह निर्गुण ब्रह्मोपासना भी नहीं कर सकता। क्योंकि महावाक्य-जन्य परोक्ष-ज्ञान से होने वाली ब्रह्मोपासना मन की कल्पना है। इस कारण उससे हृदय के विकार अहंकारादिक की निवृत्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत महा-अहंकार की उत्पत्ति होती है, जो कि वासना वाले मन्दाधिकारियों को हानि पहुँचा सकती है। जो हृदय वासना-पंकिल है उसमें ब्रह्मदेव की प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है ? अतः विकारों को दूर करने के लिए भी विषया-नित्यता और परिणाम-विरसता (अर्थात् विषय अनित्य हैं और परिणाम में विरस हैं) इत्यादिक विचार ही उपयुक्त हैं।······कामनादिक विकार वाले पुरुष पूर्वोक्त विचार के बिना ब्रह्मोपासना से आत्म-साक्षात्कार नहीं कर सकते, अतः विकार-निवृत्ति के लिये विचार करने की अनुमति सद्गुरु ने इस प्रकार दी है—

करु विचार जिहि सब दुख जाई।
परिहरि झूठा केर सगाई॥
भव अति गरुआ दुख करि भारी।
करु जिय जतन जो देखु विचारी॥
खरा खोट जिन्ह नहि परखाया।
चहत लाभ तिन्ह मूल गँवाया॥
इत्यादि।

वस्तुतः यम-नियमादि अनुष्ठानपूर्वक किये जाने वाले संसारानित्यादि विचार से सत्त्व शुद्धि हो जाने पर ब्रह्मोपासना की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रसंग में विद्यारण्य स्वामी के इस मत पर शंका प्रकट की गई है कि—

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृतिधारयेत्।[1]
—पंच० ९. ७८

इस देश में विद्यारण्य स्वामी के भक्तों और समर्थकों की कमी नहीं है। वे विद्वान और समर्थ भी हैं। निश्चय ही वे इस शंका का जवाब दे लेंगे। हमें यहां उस उलझन में पड़ने की कोई ज़रूरत नहीं है। पर कबीरदास के नाम पर प्रचलित पदों और साखियों का सीधा सादा अर्थ करने पर हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि निस्संदेह कबीरदास ने आत्मविचार को बहुमान दिया है, पर जो लोग उसके अधिकारी नहीं हैं उनके लिये 'निर्गुण राम' के जपने का उपदेश भी दिया है। निर्गुण राम के जप का अर्थ वही है जो महावाक्यों के चिन्तन का अर्थ है। नाम-जप का महावाक्य चिन्तन से इतना अन्तर ज़रूर है कि नाम-जप करने वाला, जहां विचार से बिल्कुल शून्य रह सकता है, वहां महावाक्यों का मनन करने वाला किसी-न किसी कोटि के विचार में लगा ही रहेगा। महावाक्यों के स्मरण से अपने में ब्रह्मत्वाभिमान होने का मतलब ही है कि अपने को ब्रह्म समझते रहने का अभ्यास करना। कबीरदास 'भाई' संबोधन के द्वारा साधारण सांसारिक जीवों को संबोधन करते हैं और उसे अपना व्यक्तिगत उपदेश देते हैं—'हे भाई, निर्गुण राम का जप करो। अविगति की गति लखना सहज नहीं है (तुलनीय०—अवाङ् मनस गम्यस्य वेदनं न च संभवेत्—पंच० ९. ५६)। वेद और पुराण, स्मृति और व्याकरण, शेष, गरुड़ और कमला भी जिसे नहीं जान सके। (उसे जानने की चेष्टा करना साहस का कार्य है!) सो कबीरदास की सलाह है कि हरि की छाया पकड़ो—उन्हीं की शरण

१ उपनिषदों में 'मैं ही ब्रह्म हूँ' [बृह०४·१०], 'वह तू ही है' [छन्दोग्य ६-८-७] आदि महावाक्यों से ब्रह्म के साथ जीव की अभिन्नता बताई गई है। यह अभिन्नता जानने की चीज है। ज्ञान से ही वह प्राप्त होती है। पर जो व्यक्ति इस ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सका है, उसके लिये यह विधान किया गया है कि वह तब तक इन महावाक्यों का मनन करता हुआ अपने को ब्रह्म से अभिन्न समझने का प्रयत्न करता रहे, जब तक उसे अपने में ब्रह्मत्व का अभिमान [–मानना] न हो जाय। उक्त उद्धरण में इसी विचार का विरोध किया गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में जाओ। [१] अरे ओ पगले, भूला भूला क्यों फिर रहा है ? कामनाओं का त्याग कर, हरि का नाम जप, वही अभय पद का दाता है,—कबीरा की यह कोरी बात गांठ बांध ले ! [२] इस राम के साथ विषयों का कुछ अग्नि तृण का-सा संबंध है। यह कहना कि पहले वासनायें हट जांय तभी राम आयेंगे नहीं तो "वासना-पंकिल हृदय में ब्रह्मदेव की प्रतिष्ठा" संभव नहीं है, विषयों को राम से ज़बर्दस्त समझने के समान है। कम-से-कम कबीरदास वासना को राम की अपेक्षा ज़बर्दस्त मानने को तैयार नहीं थे। एक बार उनके राम—उनके निर्गुण ब्रह्म—जिसके हृदय में आ जाते हैं, वह अनायास ही मति बुद्धि पा जाता है। लालच और विषय रस में आपादमस्तक डूबे हुए व्यक्तियों से ललकारते हुए कहते हैं कि भाई, तरे वही जिन्हों ने राम रस का आस्वादन किया। बकवादी तो डूब मरे क्योंकि उन्होंने राम को कभी याद ही नहीं किया।[३] ऐ मेरे मन तू अविनाशी हरि का ही भजन कर। उन्हें छोड़कर और कहीं न जा। अगर तू विषय रूप दीप के पास फिर रहा है, तो निश्चय मान कि तू पतिंगा होकर जल जायगा। जिस प्रकार भ्रमरी के ध्यान में मगन कीट ख़ुद भी भ्रमरी बन जाता है, उसी प्रकार तू राम-नाम में ऐसा लौ लगा कि स्वयं राम-मय हो जा (तुल०—पंचदशी ७·७८)। देख भाई, यह संसार बड़ा गुरु गम्भीर है, इस संसार सागर में चारों ओर विकार की लहरें तरंगायित हो रही हैं, तुझे आर पार कुछ भी नहीं सूझता। अरे ओ मेरे मनसाराम, इच्छा के इस अपार भवसागर के लिये एक मात्र नैया राम हैं। बाबा, उसी की शरण जा, फिर देख यह महान संसार-समुद्र बछड़े के खुर के समान छोटा हो जाता है कि नहीं ![४]

राम के इस परम प्रसाद और अनुग्रह की याद दिलाने वाले पद में क्या यही कहा गया है कि वासना-पंकिल हृदय वाला मंदाधिकारी—जिसे विशाल भवसमुद्र में आर-पार कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा, जो चारों ओर तरंगायित विषय-वीचि को देख

---

१ निर्गुण राम जपहु रे भाई।
अविगति की गति लखी न जाई॥
चारि वेद जाके सुमृत पुराना।
नौ व्याकरना मरम न जाना॥
सेस नाग जाके गरड़ समाना।
चरन कँवल कवला नहिं जाना॥
कहै कबीर जाके भेदै नाहीं।
निज जन बैठे हरि की छांहीं॥
—क० ग्र० पद ४९

२ परिहरि काम राम कहि बौरे सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि कौ नांव अभैपद दाता कहै कबीरा कोरी॥
—क० ग्र० पद ३४८

३ रसनां राम गुन रमि रस पीजै।
गुन अतीत निरमोलिक लीजै॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई।
जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई॥
विष तजि राम न जपसि अभागे।
का बूड़े लालच के लागे॥
ते सब तिरे राम रस स्वादी।
कहै कबीर बूड़े बकवादी॥
—क० ग्र० पद ३७५

४ अब कहु राम नाम अविनासी।
हरि तजि जियरा कतहुँ न जासी॥
जहां जाहु तहां होहु पतंगा।
अब जनि जरहु समुझि विष संगा॥
राम नाम लौ लाय सुलीन्हा।
भ्रिंगी कीट समुझि मन दीन्हा॥
भव अति गरुवा दुख करि भारी।
करि जिय जतन जु देखु विचारी॥
मन की बात है लहरी विकारा।
तुहि नहिं सूझै वार न पारा॥
इच्छा के भव सागरै, बोहित राम अधार।
कहैं कबिर हरि सरन गहु, गोबछ खुर विस्तार॥
बीजक रमैनी, २०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर हत बुद्धि हो रहा है,—निर्गुण उपासना का पात्र नहीं है ? बल्कि उल्टे इस पद में क्या यह नहीं बताया गया कि अज्ञान पूर्वक ध्यान करने से भी आदमी परम पद पा लेता है ? आख़िर कीट-भ्रमरी का प्रसिद्ध उदाहरण इसी बात को बताने के लिये ही तो प्रयुक्त होता है। फिर यह क्या आश्चर्य का विषय नहीं है कि इस पद को उपासना के प्रत्याख्यान में प्रमाण स्वरूप पेश किया गया है !! कबीर दास ने राम नाम की अपरंपार महिमा वर्णन के प्रसंग में द्विधा रहित भाषा में कहा है कि गनिका और अजामिल जैसे अज्ञानी पापी भी पार हो गये।[१]

परन्तु यह राम या हरि कौन है ? परंब्रह्म, अपरं ब्रह्म, ईश्वर या और कुछ ! इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि हरि, गोविन्द, राम, केशव, माधव आदि पौराणिक नामों को कबीर दास क्वचित् कदाचित् ही सगुण अवतार के अर्थ में व्यवहार करते हैं। एक दम नहीं करते, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर जब वे अपने परम उपास्य को इन नामों से पुकारते हैं, तो सगुण अवतारों से उनका मतलब नहीं होता। उनका 'अल्लाह' अलख-निरंजन देव है, जो सेवा से परे है; उनका 'विष्णु' वह है जो संसार रूप में विस्तृत है; उनका 'कृष्ण' वह है जिसने संसार का निर्माण किया है; उनका 'गोविन्द' वह है जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया है; उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है; उनका 'खुदा' वह है जो दस दरवाज़ों को खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियों का परवरदिगार है, 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है; 'गोरख' वह है जो ज्ञान से गम्य है; 'महादेव' वह है जो मन की जानता है, 'सिद्ध' वह है जो इस चराचर दृश्यमान जगत् का साधक है, 'नाथ' वह है जो त्रिभुवन का एक मात्र यती है;—जगत् के जितने साधक हैं, सिद्ध हैं, पैगम्बर हैं वे इस एक की ही पूजा करते हैं। अनन्त हैं इसके नाम, अपरंपार है उसका स्वरूप। वही कबीर दास का भगवान् है (कबीर ग्रंथावली पद ३२७)। यह राम निरंजन है उसका रूप नहीं, रेखा नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं; धरती भी नहीं, आकाश भी नहीं; सूर्य भी नहीं, चंद्र भी नहीं, पानी भी नहीं, पवन भी नहीं;...—समस्त दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण, सबसे न्यारा (क० ग्रं० पद २१९)! वह समस्त वेदों से अतीत, भेदों से अतीत, पाप और पुण्य से परे, ज्ञान और ध्यान का अविषय, स्थूल और सूक्ष्म से निवर्जित, भेख और भीख के अगम्य, डिंभ और रूप से अतीत—अनुपम त्रैलोक्य-विलक्षण परम तत्त्व है (क० ग्रं० पद २२०)!

जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, कबीर दास उत्तम अधिकारी के लिये इस 'अवाङ्-मनस-गोचर' परंब्रह्म की उपासना को बहुत महत्त्व नहीं देते। परन्तु वे इस बात में खूब सावधान हैं। वे बार बार याद दिला देते हैं कि यह जो उपासना बताई जा रही है, वह सगुण अवतार की नहीं है, बरन् निर्गुण राम की है।

इतना ही नहीं वह भाव और अभाव दोनों से परे है अर्थात् न तो यही कहा जा सकता है कि वह भाव रूप है और न यही कहा जा सकता है कि वह अभाव रूप है—वह "भावाभाव विनिर्मुक्तः" है[१]। फिर उसे किसी पक्ष विशेष के द्वारा भी नहीं समझाया जा सकता। न तो वह द्वैत पक्ष का विषय है न अद्वैत पक्ष का प्रतिपाद्य। असल में सयाना साधु वही है जो निष्पक्ष भाव से उसको भजता है। जैसे तिनके से तिनका बँधा होता है, वैसे ही सब लोग एक दूसरे से बँधे हुए हैं। जिसे आत्मदृष्टि प्राप्त है वही ठीक ठीक देख पाता है। वह जानना एकमेक होकर

---

१ अजामेल गजगनिका पतित करम कीन्हा।
तेऊ उतरि पार गये राम नाम लीन्हां॥
—क० ग्र० पद ३२०

१ कहां न उपजै उपजां नाहिं जाणैं
भाव अभाव विहूनां।
उदै अस्त जहां मति बुधि नाहीं
सहजि राम ल्यौ लीनां॥
—क० ग्र० पद १७९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जानना है। एकमेक अर्थात् प्रेम प्रीति से भरे मन को परम प्रीति के एक मात्र आश्रय भगवान् में लीन कर देना। इसे ठीक ठीक कह कर नहीं समझाया जा सकता। यह पूर्ण की पूर्ण दृष्टि से पूर्ण को ही देखना है।[१] वह अद्वैत वादी की भांति चिदात्मक ब्रह्म सत्ता में चैतन्य का विलय नहीं है, बल्कि जैसा कि स्वयं कबीर ने ही कहा है सहज भाव से एकमेक हो कर राम से मिल रहना है। सहज भी ऐसा वैसा 'सहज' नहीं—परम प्रेमाश्रय भगवान् से सहज ही मिल रहना सहज है।[२]

फिर उसे न तो भीतर कहा जा सकता है न बाहर। बाहर कहो तो सद्गुरु लज्जित होंगे क्योंकि सद्गुरु रूप में वह भीतर ही बैठा है—वह स्वयं सद्गुरु है और समस्त जगत् को, जो हम देख रहे हैं और पहचान रहे हैं, वह इसीलिये कि वह भीतर बैठा हुआ दिखा रहा है और पहचनवा रहा है। इस सद्गुरु को हम बाहर कैसे कहें ? फिर अगर भीतर कहें तो सारा संसार, समूची बाह्य रूप में दृश्यमान सृष्टि झूठी हो जाती है। असल में वह बाहर से भीतर तक ऐसा व्याप्त हो रहा है कि कह कर समझाया नहीं जा सकता। न तो वह दृष्टि का विषय है (बाह्य) और न मुष्टि का (आन्तर)। वह अलख है अगम है आगोचर है। उसे पुस्तक में लिख कर प्रकट नहीं किया जा सकता। उसे वही भली भांति जानते हैं, जो पहचानते हैं। जो नहीं जानते वे कहने पर विश्वास ही नहीं करेंगे।[१]

इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण, भावाभाव-विनिर्युक्त, अलख अगोचर अगम्य प्रेमपारावार भगवान् को कबीर दास ने 'निर्गुण राम' कह कर सम्बोधन किया है। वह समस्त ज्ञात तत्वों से भिन्न है फिर भी सर्वमय है। वह अनुभवैकगम्य है—केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। इसी भाव को बताने के लिये कबीरदास ने बार बार 'गूंगे का गुड़' कह कर उसे याद किया है। वह किसी दार्शनिक वाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक बहस के ऊपर है, पुस्तक की विद्या से अगम्य है, पर प्रेम से गम्य है, अनुभूति का विषय है, सहजभाव से भावित है—यही कबीरदास का निर्गुण राम है। भक्त लोग इस राम को जानते हैं और राम भी भक्तों को पहचानते हैं। नैन की व्यथा बैन जानती है, बैन की वेदना श्रवण। पिंड का दुख प्राण जानता है, प्राण का दुख मरण। आस का दुःख प्यास को मालूम है प्यास का दुःख पानी को। कबीरदास का निश्चित विश्वास है कि इसी प्रकार राम भक्त के दुःख को जानते हैं'।*

---

१ पषा पषी के पेषरनैं सब जगत् भुलांनां।
निरपष होइ हरि भजै सो साध सयांनां।
ज्यूं पर सूं पर बांधिया यूं बंधे सब लोई।
जाकै आतम द्रिष्टि है साचा जन सोई।
एक एक जिनि जांणियां तिनहीं सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लींन मन ते बहुरि न आया।
पूरे की पूरी द्रिष्टि पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछू समुझि न पाई,
या कछु बात अलेखै।
वही, पद १८१

२ सहजैं सहजैं सब गए,
सुत बित कांमिणिकांम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या,
दासि कबीरा रांम॥
सहज सहज सब कोइ कहै,
सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजैं हरि जीं मिलै,
सहज कहीजै सोइ॥
—वही पृ० ४२ साखी ४०८

१ जन की पीर हो राजा रांम जानै
कहूँ काहि को मानैं।
नैन का दुख बैन जानै बैन का दुख श्रवनां।
प्यंड का दुख प्रान जानै प्रान का दुख मरनां।
आस का दुख प्यास जानै प्यास का दुख नीर।
भगति का दुख रांम जानै कहै दास कबीर॥
—क० ग्रं० पद २८३

*हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बंबई से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली पुस्तक कबीर के एक अध्याय में से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मध्यकालीन भारत में हिन्दुओं की स्थिति

डाक्टर मेहदी हुसेन एम. ए., पी-एच. डी. (लन्दन), डी. लिट (पेरिस)

मैंने विश्ववाणी के नवम्बर अङ्क में उपर्युक्त शीर्षक से कुछ लिखा था। यह उसी के सिलसिले में दूसरा लेख है। उस पहिले लेख के पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि हिन्दुओं की तत्कालीन दशा के विषय में असत्य कल्पनायें फैली हुई हैं। यह भी कहा जाता है कि उस समय हिन्दुओं की आर्थिक परिस्थिति बड़ी शोचनीय थी और इसके लिये अला-उद्दीन खिलजी तथा मुहम्मद बिन तुगलक को दोषी ठहराया जाता है। परन्तु तत्कालीन इतिहास को देखने से इसका दूसरा ही रूप मिलता है, वह यह कि भारतवर्ष धन-धान्य से परिपूर्ण था और हिन्दू बड़े धनाढ्य थे। उस काल के विदेशी यात्रियों के लेखों तथा उनकी लिखी हुई पुस्तकों से पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष अतुल धन से भरपूर था। मसालिक-उल-अबसार* के सम्वाददाता भारतवर्ष के असंख्य धन को और सुलतान मुहम्मद की बख़्शीशों को देख देखकर चकित हो जाते थे। एक सम्वाददाता का कहना है कि "सुल्तान मुहम्मद इतना ख़र्च करता है, लेकिन उसके मुल्क की आधी आमदनी भी ख़र्च नहीं हो पाती।" इस सम्वाददाता ने लिखा है कि "सुलतान मुहम्मद ने कोई फ़तह हासिल की थी, जिसमें इतना सोना हाथ लगा था कि तेरह हज़ार बैलों पर लाद कर लाया गया था।" मसालिक-उल-अबसार के सम्वाददाता का कथन है कि "हिन्दुओं को धनोपार्जन और धन एकत्रित करने का चाव है। जब वह परस्पर मिलते हैं, तो एक दूसरे से पूछते हैं 'कहो तुमने कितनी रोकड़ इकट्ठी कर ली,' कोई कहता है कि 'मेरे घराने में मेरे दादा के समय से रुपया इकट्ठा हो रहा है और मैं द्रव्य-संचय करने वालों की दूसरी पीढ़ी में हूँ,' तथा कोई कहता है कि 'मेरे वंश में मेरे परदादा के समय से रुपया इकट्ठा होता चला आया है तथा मैं धन-एकत्रित करने वालों की तीसरी पीढ़ी में हूं जो द्रव्य कई पीढ़ियों से एकत्रित होता चला आ रहा है, मैं उसका अनुमान क्या बताऊँ।' हिन्दुओं की आदत है कि रुपया इकट्ठा करने के अभिप्राय से अपने घरों में गड्ढा खोद लेते हैं, दीवारों में मोखे बना लेते हैं और उनका मुंह बन्द कर देते हैं। बस एक छोटा सा छेद खुला रहने देते हैं, जिसके द्वारा उसमें रुपया डाल तो सकें, लेकिन निकालना आसान न हो। लेन-देन के समय वे बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लेते हैं। इस डर से कि कहीं खोटा माल न आजाए, वह न तो चाँदी सोने के आभूषण लेते हैं और न टुकड़े। लेते हैं तो चाँदी सोने के सिक्के लेते हैं। कुछ हिन्दू घरानों में यह प्रथा प्रचलित है कि जिस किसी घर में अशर्फ़ियों की एक बोट (देग़) भर जाती है, तो घर का मुखिया छत के ऊपर एक झण्डा गाड़ देता है। इस प्रकार एक एक मकान में दस दस झण्डियाँ गड़ जाती हैं। किसी किसी मकान की छत पर दस से अधिक झण्डियाँ मैंने अपनी आँखों से देखी हैं।"

शेख़ बरहानउद्दीन अबूबकर बन कला मुहम्मद बज्ज़ी सूफ़ी का कथन है कि "सुल्तान मुहम्मद ने एक बार देवगढ़ के किसी निकटवर्ती शहर पर चढ़ाई

---

* मसालिक-उल-अबसार शहाबुद्दीन अहमद का प्रसिद्ध संकलन है। उसमें सुलतान मुहम्मद के समय की वे घटनाएं हैं जिन्हें तत्कालीन यात्रियों ने अपनी आंखों देखे हाल शहाबुद्दीन अहमद के सम्मुख वर्णन किये जिन्हें उसने उपरोक्त पुस्तक में लिख लिया था। वह स्वयं कभी भारतवर्ष नहीं आया। उसकी किताब का नाम मसालिक-उल-अबसार है। यह पुस्तक अब प्राप्य नहीं है। ब्रिटिश म्यूज़ियम में तथा पैरिस में उसकी एक जिल्द अब भी मौजूद है। उसी के आधार पर हमने यह लेख लिये हैं। मसालिक-उल-अबसार में चौदह प्रकरण हैं। पहले प्रकरण में हिन्द व सिन्ध के हालात हैं, उनसे चौदहवीं सदी ईसवी की दशा और सभ्यता का पता चलता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करने के अभिप्राय से सेना भेजी। देवगढ़ में हिन्दू रहते हैं और वहाँ के अधिकारी राय कहलाते हैं। जब इस प्रदेश का राजा बादशाही सेना से तंग आ गया, तो उसने बादशाह से यह निवेदन कहला भेजा—'यदि बादशाह मुझे चैन से रहने दे, और मेरे राज्य से वापस अपनी राजधानी को चला जाय तो जितना धन वह मुझसे चाहे मैं उसकी राजधानी तक भेज देने का वचन देता हूँ। मेरे पास बादशाह केवल ढोने वाले जानवर भेज दे। उन पर खज़ाना लाद कर मैं उसकी राजधानी को भेज दूँगा।' जब बादशाह को यह मालूम हुआ तो उसने हुक्म दिया कि युद्ध बन्द कर दिया जावे और राजा को जीवित ही दरबार में लाया जावे। जब राजा बादशाह की शरण में लाया गया, तो बादशाह ने उसकी बड़ी आवभगत की और कहा—"यह तो बताओ कितना रुपया जानवरों पर लाद कर तुम मेरे पास भेज सकते हो?" राजा ने उत्तर दिया, "मुझसे पहले इस गद्दी पर सात राजा और बैठ चुके हैं। उनमें से हर एक ने एक एक खज़ाना छोड़ा है। हर खज़ाना सत्तर बबीन* का है और यह सब खज़ाने मेरे पास अब तक सुरक्षित हैं।" यह सुनकर बादशाह बहुत खुश हुआ और उसने आज्ञा दी कि इन सब खज़ानों पर शाही मुहरें लगा दी जायें। फिर उसने राजा से कहा कि दिल्ली चलकर रहो और इस सूबे में अपना मंत्री तथा अधिकारी नियुक्त कर दो। उचित यह है कि तुम इसलाम-धर्म स्वीकार कर लो। राजा जब इसलाम धर्म स्वीकार करने को राज़ी नहीं हुआ, तो बादशाह ने उसे अपने धर्म पर क़ायम रहने की इजाज़त दे दी। राजा ने अपने राज्य के लिए सेनापति नियुक्त कर दिये और स्वयं बादशाह के साथ चला गया और उसके दरबार में रहने लगा। बादशाह ने राजा के खर्च के लिए समुचित रक़म बांध दी और उसका प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया। चूंकि अब राजा की प्रजा बादशाह की प्रजा बन गई थी, इसलिये बादशाह ने समुचित धन उन लोगों में बाँटने के अभिप्राय से वहाँ भेज दिया। परन्तु बादशाह ने राजा के खज़ाने में से कुछ व्यय नहीं किया और उन सबको शाही मुहरें लगा कर छोड़ दिया।

सुल्तान मुहम्मद के शासन-काल में भारतवर्ष के सब शहरों में हिन्दुओं की अधिकता थी और वे अच्छी दशा में थे, उन्हें पूरी आज़ादी थी। किसी प्रकार का उन्हें कोई बन्धन न था। हिन्दुओं को अपने त्योहार मनाने की स्वतंत्रता थी। मुग़ल सम्राटों ने हिन्दुओं के रक्त में अपना रक्त मिला दिया था। उन्होंने हिन्दू राजकुमारियों से विवाह किये। हिन्दुओं के साथ सुल्तान मुहम्मद का सम्बन्ध न तो पारिवारिक था और न कौटुम्बिक, बल्कि एक शासक के रूप में था। वह उनकी रक्षा करता, तथा उनका पक्ष लेता था। उसकी हार्दिक इच्छा रहती थी कि हिन्दू खूब फूलें फलें। वह उन्हें राजभक्त बनाना चाहता था। सुलतान मुहम्मद का हिन्दुओं के साथ बिलकुल वैसा ही व्यवहार था, जैसा मुसलमान के साथ तथा हिन्दुओं को भी सुल्तान से कोई विरोध न था। उसके पच्चीस साल के शासन काल में हिन्दुओं के धार्मिक कामों को कोई धक्का न पहुँचा। किसी मन्दिर की ईंट तक नहीं निकाली गई। काँगड़ा विजय में एक भी मूर्त्ति न तोड़ी गई। एलोरा के मन्दिर दौलताबाद* के निकट थे। अगर सुल्तान को हिन्दुओं से कुछ दुश्मनी होती अथवा मन्दिरों को तोड़ने का सुलतान मुहम्मद का कोई सिद्धान्त होता तो, वह सब से पहले एलोरा के मन्दिरों को नष्ट भ्रष्ट करता। परन्तु यहां तो किसी मन्दिर को ठेस तक न पहुँचाई। हिन्दू घोड़ों पर सवार होते थे, हथियार बाँधते थे और तीर चलाते थे। सेना के ओहदे भी उनके लिये खुले हुये थे। अलाउद्दीन खिलजी के समय में भी हिन्दू

* बबीन का आशय एक बड़े हौज से है जिसके भीतर चारों कोने पर उतरने के लिये सीढ़ियां बनी होती हैं।

* दौलताबाद को सुल्तान ने अपनी मुख्य राजधानी तथा 'कुब्बुतुल इसलाम' [इसलाम का चिन्ह] बनाया था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सेनापति बादशाही सेना में मौजूद थे। सुल्तान मुहम्मद के शासन में तो उनका होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। ईरान या मुग़लिस्तान की फ़तह के लिये जो लशकर थोड़े से वक्त़ में भरती किया गया था उसमें राजपूत भरे पड़े थे।

इस काल में हिन्दू मुसलमानों में पूरा सम्पर्क स्थापित था तथा मुसलमान सूफ़ियों ने हिन्दुओं पर बेहद प्रभाव डाला था। हिन्दू बड़े बड़े सूफ़ियों को ऋषियों की तरह समझते थे। सूफ़ी बड़े उदार-हृदय तथा शान्तिप्रिय होते थे। शेख़ निज़ाम उद्दीन औलिया की शिक्षा थी कि हिन्दू और मुसलमान दोनों समान हैं। सुल्तान शमसउद्दीन के समय से भारतवर्ष पर चंगेज़ख़ानी मुग़लों (मंगोलों) के आक्रमण आरम्भ हो गये थे। हिन्दुओं को यदि आपत्ति थी तो मुग़लों* से, न कि मुसलमानों से। मुसलमानों को हिन्दुओं की सहायता करने के लिये ईश्वर ने भारतवर्ष में भेजा था, उनके द्वारा प्रकृति की इच्छा पूर्ण हुई तथा मुसलमानों ही के कारण हिन्दुओं को उनसे छुटकारा मिला। इतिहास फ़ीरोज शाही में लिखा है कि "मुसलमान सीना निकालकर मुग़लों के सम्मुख जाते और तलवारें मार मार कर उनके मुंह फेर देते!" मुग़लों के आक्रमणों का और मुसलमानों की योग्यता का एक बड़ा परिणाम यह निकला कि हिन्दुओं के हृदय में मुसलमानों के लिये स्थान हो गया और पारस्परिक सहानुभूति तथा केन्द्रीय शासन का बीज पड़ गया।

अलाउद्दीन ख़िलजी ने गाँवों की सामाजिक-परस्थितियों में नये सिरे से सुधार किये। लोगों पर किये जाने वाले अत्याचारों को दूर किया। हिन्दू सरदारों तथा गाँव के चौधरियों के अत्याचारों को, जो वे अपने आश्रितों पर करते थे, रोका, और उसमें पूर्ण सुधार किये। अव्यवस्थित और बेढङ्गी बातों को सुव्यवस्थित तथा नियमानुकूल बनाया और समुचित नियम जारी किये। सुल्तान मुहम्मद ने हिन्दुओं को, जो पहिले से ही अच्छी दशा में थे और भी योग्य बना कर दिखाया।*

* जो मुसलमान नहीं थे

*इन सब बातों का विस्तृत वर्णन मेरी किताब 'मुहम्मद बिन तुग़लक' में पाठकों को मिलेगा। यह पुस्तक लन्दन से छपी है।—लेखक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृत (संस्कृति)

महात्मा भगवानदीन

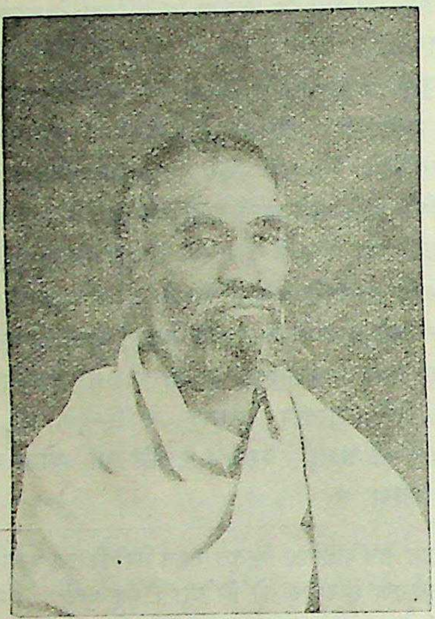

अनगिनत बार सोचा विचारा पर कभी इस बात से तसल्ली न हुई कि आदमी कोरा जिस्म ही है। आदमी निरा मिट्टी का पुतला नहीं, इसमें जान भी है और यह जान जिस्म से बिल्कुल जुदी क़िस्म की चीज़ है। इसी जान को किसी बोली में आत्मा, किसी में रूह और किसी में सोल कहते हैं। इसका एक प्यार का नाम 'आपा' भी है।

मस्तक को हज़ारों बार समझाया कि देख तू ही सब कुछ है। मन को भी अनेकों बार कहा कि तू ही सब कुछ है। पर वे बढ़ावे में न आये और बोल उठे कि हम बोल नहीं रहे हैं; बज नहीं रहे हैं; बुलाये और बजाये जा रहे हैं। बोलने और बजाने वाला कोई और ही है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह सिर्फ़ इस लिये कि संस्कृत (संस्कृति) जैसे मज़मून पर आत्मा के माने बिना कुछ लिखा ही नहीं जा सकता।

यह आत्मा हमेशा से है और हमेशा तक रहेगा। जान भी इसी का नाम है और लफ़्ज़ जीना इसी जान से बना है। जानकारी भी इसी जान का एक रूप है। इसलिये जान अमर है, वह जीती ही रहेगी। उसका नाम उसकी ख़ासियत का सुबूत है। जान हमेशा से जिस्म के साथ है और उसी के साथ रहेगी। कुछ लोगों का यह भी ख़्याल है कि जान जिस्म के साथ हमेशा से है तो मगर हमेशा रहेगी नहीं। यह बात ठीक है या ग़लत इस पर बहस की ज़रूरत नहीं। जान जिस्म के साथ हमेशा तक नहीं रहेगी, और कभी बिल्कुल ख़ालिस होकर भी रह सकेगी, ऐसा मान लेने में हमारा कुछ फ़ायदा है या नहीं इसे एक ओर रखकर यहतो साफ़ ही है कि हमारा नुक़सान कुछ नहीं है।

जान जिस्म के साथ हमेशा से है इससे तो हमारा कुछ नुक़सान नहीं, हमेशा उसी के साथ रहेगी, इससे भी हमारा कुछ बनता बिगड़ता नहीं। पर टोटे की बात तो यह है कि जिस्म के साथ रहने से जान की रोशनी असली रंग लिये हुये न निकल कर जिस्म का रंग लिये हुये निकलती है। इतना ही नहीं बाहरी दुनियाँ की रोशनी हमारी जान तक ज्यों की त्यों न पहुंचकर जिस्म के रंग में रंगी हुई पहुँचती है, जिसकी वजह से सोसायटी का सही ढाँचा नहीं बन पाता। हम असली आनन्द का मज़ा नहीं ले पाते और सुख-दुख जैसी दो पहलू वाली चीज़ उस आनन्द की जगह बना बैठते हैं।

समझने के लिये बादल की गरज और बिजली की चमक लगनी तो चाहिये थी सुहावनी पर लगती है डरावनी। बच्चे ही नहीं बड़ी उम्र वाले भी उस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गरज और चमक से डर जाते हैं। डरता आदमी नहीं—वह मिट्टी का पुतला है। डरता जिस्म नहीं—वह मिट्टी है। डरती है जान—डरना जिसकी ख़ासियत नहीं। डर और बहादुरी दोनों ही जान की ख़ासियतें नहीं। जान तो अटल है। उसका यह अटलपना जिस्म के साथ मिलकर डर या बहादुरी का नाम पा लेता है। बहादुरी-बुज़दिली भी सुख दुख की तरह जान और जिस्म ने मिलकर गढ़ी हैं। डर जान के ख़याल से कोई चीज़ ही नहीं। शक होने पर जान और जिस्म मिलकर जिस बेतुकेपन से काम कर बैठते हैं, उसी का नाम डर पड़ गया है।

शेर के सामने आ जाने से जो डर आदमी को लगता है, उसके उस पर दो असर होते हैं। या तो वह घबराकर बेहोश हो जाता है या ग़ुस्से में आकर उसे मारने लगता है। घबराहट और ग़ुस्सा न जिस्म की ख़ासियत है न जान की। जान की ख़ासियत है हमेशा अटल बनी रहना। ऐसे मौक़े पर अटल बने रहने की ख़ासियत को किसी बोली में क्षमा किसी में अफ़ो कहते हैं। शान्ति भी इसी का नाम है। ग़ुस्सा और घबराहट इसी अटल रहने की ख़ासियत की नई चीज़ बन गये हैं।

शेर को मारते वक्त एक दूसरा ख़याल भी साथ रहता है और वह ये कि हम शेर से बड़े हैं। इसका नाम है घमंड। घमंड भी न जिस्म की ख़ासियत है न जान की। जान की ख़ासियत है हमेशा एकसा बना रहना और अटल रहना। घमंड से बचकर अटल बने रहने की ख़ासियत को किसी बोली में समता कहते हैं किसी में कुछ। यही समता जिस्म के साथ मिलकर जब हमसे बाहर होती है तो घमंड बन जाती है।

एक तीसरी बात शेर को मारते वक्त हमसे ख़ासुमुख़ां हो जाती है। उस वक्त हम यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि हम शेर से बड़े हैं और इसके सुबूत में हम हाथों को फैलाते हैं, हवा भरकर बदन को फुलाते हैं यानी हम जो नहीं है वह बनकर दिखाते हैं। यह बनना भी न जान की ख़ासियत है न जिस्म की। जान की ख़ासियत है हमेशा अटल रहना। दिखावे के मौक़े पर अटल बने रहने को किसी बोली में 'ऋजुता' किसी में सरलता और किसी में कुछ और कहते हैं।

शेर को मारते वक्त एक बात और भी होती है। और वह ये कि हम समझते हैं कि हम दुनियां की सब चीज़ों के मालिक हैं, शेर नहीं। इसी ख़याल का नाम है लालच। यह लालच भी न जान की ख़ासियत है न जिस्म की। जान की ख़ासियत है अटल रहना, अडिग रहना। लालच में न पड़कर अडिग रहने को किसी बोली में शुचिता और किसी में कुछ और कहते हैं।

बस अब यह समझ में आ गया कि जान की यह कोशिश कि जिस्म और बाहरी दुनियाँ के असर उसकी ख़ासियतों को बिलकुल न बिगाड़ सकें या कम से कम बिगाड़ सकें, इसी का नाम संस्कृति है। संस्कृति की आख़िरी मंज़िल है, गुस्से, घमंड, दिखावे और लालच पर पूरा क़ाबू। यानी एक लफ़्ज़ में अपने को पहचान लेना और अडिग रहना। ऐसा कितने दिन में होगा यह कौन जाने। मुसलिम संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, ईसाई संस्कृति वग़ैरः या हिन्दुस्तानी तमद्दुन, चीनी, तमद्दुन, रुसी तमद्दुन वग़ैरः या पच्छमी कल्चर और पूरबी कल्चर जैसी चीज़ें कहाँ से पैदा हो गईं कौन जाने। संस्कृति, तमद्दुन, कल्चर मंझन ये सब एक जान, आत्मा, रूह, सोल इन्हीं की हुआ करती हैं।

संस्कृति के लिये सीधा सादा लफ़्ज़ मंझन बड़ा अच्छा लगता है। क्योंकि असल में आत्मा अपने आपको हमेशा मांझती रहती है और यह जिस्म अदल बदल कर हमेशा उसे गंदा करता रहता है। इसीलिये तो मानव समाज की या बनी नोय इंसान की इस तरफ़ की हुई कोशिशें सैकड़ों बार बरबाद हुई हैं हो रही हैं और होती रहेंगी। जब तक की आत्मायें इतनी न मंझ जाय कि जिस्म और बाहरी असर उन पर कोई असर न डाल सके। वह दिन कैसा होगा उसकी ख़याल के ज़रिये भी तसवीर नहीं खींची जा सकती।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्पादकीय-विचार

संस्कृति अङ्क

(१)

दुनिया के देशों और समाजों की इस समय की प्रधान आवश्यकताओं और उनकी समस्याओं को सामने रखकर 'विश्ववाणी' के ये विशेषाङ्क, 'संस्कृति अंक' के नाम से प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस समय की संसार की स्थिति पर हम जिधर भी नज़र डालें हमें एक ही दृश्य दिखाई देता है, जिधर देखो उधर एक संस्कृति या कलचर दूसरी संस्कृति या कलचर से टकरा रही है, ये सब अलग अलग संस्कृतियां इस समय एक दूसरे के साथ ज़िन्दगी और मौत के संघर्ष में जुटी हुई हैं।

पश्चिमी और पूरबी संस्कृतियां और सभ्यताएं आपस में भयंकर टक्करें ले रही हैं।

इन संस्कृतियों के मातहत हर देश, देशभक्ति को, यानी स्वयं अपनी सेवा और अपनी ही पूजा को, अपना असली मज़हब बनाकर, अपनी ही सभ्यता, संस्कृति और विशेषताओं को मानव जीवन का सार समझ कर, उन्हें चिपटे रहने और दूसरों को उनका अनुयायी बनाने के अथक प्रयत्न में लगा हुआ है।

इसके साथ साथ पुराने मज़हब और उनसे पैदा हुई और उनसे सम्बन्ध रखने वाली संस्कृतियां और तहज़ीबें, अपने आपको बाहरी हमलों से बचाए रखने की कोशिशों में, और भी ज़ोरों के साथ, अपनी पुरानी लकीरों की फ़क़ीर बन रही हैं।

इन मज़हबों के अन्तर्गत सैकड़ों सम्प्रदाएं अपने विशेष रस्म रिवाज, आचार विचार, खान पान, रहन सहन, लिबास, शादी विवाह इत्यादि को ही मानव संस्कृति का आखरी शब्द मानकर उन्हीं के मंत्र अपने को अपना असली मज़हब और ज़िन्दगी का असली मक़सद बनाए हुए हैं।

दूसरे देशों की तरह, बल्कि उनसे कहीं ज़्यादह भयंकर रूप से, ये सब संघर्ष जो हमने ऊपर दिखाए हैं हिन्दुस्तान के जीवन के टुकड़े किये डाल रहे हैं और हर तरफ़ से उसकी उन्नति और उसके विस्तार के रास्ते बन्द कर रहे हैं।

(२)

एक तरफ़ तो हर देश, हर जाति और हर सम्प्रदाय अपने अपने धार्मिक और सांस्कृतिक सांचों को सबसे अच्छा समझकर उन्हें इस तरह सुरक्षित रखने की कोशिशों में लगी हुई है; दूसरी तरफ़ प्रकृति और काल दोनों मिलकर अपनी चक्की, अपने मिश्रण-चक्र इतनी तेज़ी और ज़ोरों से चला रहे हैं कि इन्सानी ज़िन्दगी के अब तक के इतिहास में उसकी कोई मिसाल नहीं मिलती।

पहाड़, जंगल, रेगिस्तान, समुद्र, झीलें और नदियां जो इनसान के एक गिरोह को दूसरे गिरोह से स्थायी तौर पर अलग करके रखती थीं अब अपनी इस पुरानी ताक़त को बिल्कुल खो चुकीं।

रेलें, जहाज़, हवाई जहाज़, भाप, बिजली, सिनेमा, अख़बार, रेडियो वग़ैरह, जाने अनजाने सारे मनुष्य समाज को बड़ी तेज़ी के साथ एक सांचे में ढाल रहे हैं।

राजनैतिक मैदान में विराट साम्राज्य, जिनकी बुनियादें अपने मातहत देशों की आर्थिक और सांस्कृतिक ज़िन्दगी में भी गहरी पैवस्त होती जा रही हैं, और जो अपनी हकूमत को चलाने और लोगों की शहरी ज़िन्दगी को व्यवस्थित और क़ाबू में रखने के लिए, एक से तरीक़ों और एक सी मशीनरी से काम ले रहे हैं, अनजाने और अपनी मरज़ी के ख़िलाफ़, इनसानी दुनियां को एक सांचे की ओर ले जा रहे हैं।

राजनीति की तरह ही तिजारत, उसका ढङ्ग, उसकी नीति, उसकी मिक़दार और उसका फैलाव, उसकी शिक्षा, उसकी संस्थाएं, उसके विषयों और उसके तरीक़ों की सार्वभौम समानता, साइन्स की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पश्चिमी-संस्कृति द्वारा प्रतिपालित बीसवीं सदी की मानव-जाति
[श्री डेविड लो के सौजन्य से]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तरक़्क़ी और दुनियां पर उसका प्रभुत्त्व, और इन सब के साथ साथ इनसानी दिल और दिमाग़ पर तर्क और न्याय की प्रधानता,—ये सब चीज़ें राजनीति के साथ मिलकर एक महान, अटल और बेरोक स्टीम रोलर की तरह, पुराने सांचों को कुचल कुचल कर और चूर चूर कर, समस्त मानव संसार में समानता और एक तल पैदा कर रही हैं।

इन सारी विराट शक्तियों के असर से समस्त पुराने मानव समाज के मज़हबी, राजनैतिक और आर्थिक सांचों का, अर्थात् उसकी सारी संस्कृति का नए सिरे से निर्माण हो रहा है। ऐसी स्थिति में लाज़मी है कि हम इन प्रश्नों की ओर ध्यान दें कि संस्कृति का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसकी उपयोगिता क्या है, और संस्कृति किस तरह पैदा होती है या पैदा की जा सकती है।

बिना गम्भीरता के साथ इस ओर विशेष ध्यान दिये न हमें सच्चे रास्ते मिल सकते हैं और न सच्चे रास्तों पर चलने की हममें शक्ति पैदा हो सकती है, हमारे इन विशेषांकों का यही एक मात्र उद्देश्य है, और इसी उद्देश्य को सामने रखकर हम हिन्दुस्तान और दूसरे देशों के कुछ विचारशील विद्वानों की व्याख्याओं का संग्रह मुख्तलिफ़ दृष्टिकोणों से लिखा हुआ अपने पाठकों के सामने पेश कर रहे हैं, इस आशा से कि इन से उन्हें अपने देश की सांस्कृतिक समस्याओं के उचित हल ढूंढ़ निकालने और उन पर अमल करने में सहायता मिलेगी।

(३)

इसके साथ साथ हम अपने पाठकों का ध्यान दो एक और बातों की तरफ़ दिलाना चाहते हैं।

यह एक आम ख़याल है और इस अंक के अकसर लेखों में भी यह भावना झलकती है कि मानव उन्नति और उसका विकास एक कुचक्र में फंसा हुआ है। देश और जातियां बराबर संस्कृति और सभ्यता के ऊंचे से ऊंचे शिखरों पर पहुँचती रहती हैं और फिर नीचे से नीचे थलों में गिरती रहती हैं। इस ज़ाहिरा स्थिति ने हमारे दिलों पर यह असर डाल दिया है कि अभागी मानव जाति की क़िस्मत में ही कोई अन्तिम और स्थायी-उन्नत स्थल नहीं है।

यह विचार केवल भ्रम है। इस भ्रम का एक मात्र कारण यह है कि हम सार्वभौम मानव जीवन की ओर ध्यान न देते हुए अपनी कसौटी को अलग अलग जातियों के उन्नति और पतन की परीक्षा तक ही परिमित रखते हैं। अगर हम समस्त मनुष्य जाति के इतिहास पर एक व्यापक नज़र डालें तो हमें साफ़ मालूम हो जावेगा कि मानव जाति सामूहिक रूप से भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक तीनों क्षेत्रों में बराबर एक साफ़ सीधे और विशाल उन्नति-पथ पर बढ़ी चली जा रही है।

आदि-मानव और उसकी संस्कृति का इतिहास यह साफ़ साबित करता है कि नीची से नीची पाशविक हालतों से गुज़रकर इनसान ने कैसे अपने बुद्धि बल द्वारा पशु संसार पर प्रधानता और प्रभुत्त्व हासिल कर लिया, मोहन जो दड़ो के खण्डहर यह बताते हैं कि आज से पांच हज़ार वर्ष पहले तक मानव जीवन और पशु जीवन में कितना गहरा और विशाल अन्तर हो चुका था। मोहन जो दड़ो एक अकेली ही ऐसी घटना नहीं है, बल्कि बहुत सी पिछले समय की मिटी हुई सभ्यताओं का एक बाक़ी रहा हुआ निशान है। मोहन जो दड़ो का और उन सभ्यताओं का, जिनका कि वह एक अवशेष है, अगर हम आजकल के मानव संसार की सांस्कृतिक स्थिति से मुक़ाबला करें तो हमें यह साफ़ नज़र आ जायगा कि पिछले पांच हज़ार साल में मानव संस्कृति के हर क्षेत्र में कितना ज़बरदस्त अन्तर पड़ा है और कितनी अधिक उन्नति हुई है। इसलिए वास्तव में सांस्कृतिक कुचक्र का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि इनसान ने हैवानों पर अपने बाहुबल से नहीं बल्कि बुद्धिबल से प्रभुत्त्व प्राप्त किया है। बुद्धिबल की सहायता से ही उसने अपने बाहुबल को बेहद बढ़ा लिया, जिसका मुक़ाबला हैवान किसी हालत में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न कर सके। इससे भी ज़्यादह मनुष्य की सांस्कृतिक उन्नति और शक्ति का पता इन कामों से लगता है कि धीरे धीरे समयान्तर में उसने पशुओं को मारने की जगह उन्हें पालना और उनसे काम लेना और दरख़्तों को काट फेंकने के बजाय खेती करना शुरू किया। पशुपालन और खेती के इस विकास ने ही मनुष्य के और पशु संसार और वनस्पति संसार के बीच संघर्ष और स्पर्धा की जगह सहकारिता और सहयोग के परस्पर सम्बन्ध को क़ायम कर दिया।

मानव संस्कृति के विकास के बाहुबल और सहकारिता ये दो ही राज-पथ हैं। एक ओर मनुष्य की भौतिक संस्कृति लकड़ी, पत्थर, ताँबे, काँसे, लोहे को अपनी उन्नति का सोपान बनाती हुई आग, भाप, बिजली इत्यादि के शिखरों पर पहुंचती है, और दूसरी ओर सहयोग और सहकारिता के क्षेत्रों में मानव संस्कृति बड़े से बड़े मज़हब, ऊंची से ऊंची सभ्यताएं और विशाल और विराट साम्राज्य उत्पन्न करती है। इस सारी सर्वांगिक चौमुखी और असीम उन्नति को देखने से हमें मनुष्य की पिछले ज़माने की कामयाबी और भविष्य की सांस्कृतिक उन्नति के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

अगर हम आजकल के मनुष्य का किसी जानवर से या उन जानवरों से, जैसे बन्दर, लंगूर, बनमानुस इत्यादि, जिनसे मनुष्य की उत्पत्ति कही जाती है, मुक़ाबला करें, तो हमें कुछ अन्दाज़ा हो सकता है कि मनुष्य की (१) शारीरिक संस्कृति (२) मानसिक संस्कृति (३) नैतिक संस्कृति (४) आध्यात्मिक संस्कृति (५) हृदय या भावनाओं की संस्कृति (६) सामाजिक संस्कृति, (७) कलात्मक संस्कृति इत्यादि सब क्षेत्रों में कितनी असीम उन्नति हो चुकी है साथ ही यह भी साफ़ ज़ाहिर है कि अभी तक मनुष्य की उन्नति-शक्ति का अन्त नहीं आया, बल्कि साधनों के बढ़ते जाने के साथ साथ इस उन्नति के फैलते और बढ़ते जाने की अनन्त गुंजाइश दिखाई देती है।

[४]

हमने ऊपर कहा है कि बाहुबल और सहकारिता दोनों ने मिलकर आजकल की इनसानी दुनिया की रचना की है। इन दोनों शक्तियों में से मानव समाज में किस को कौन सा स्थान दिया जावे यह सदा से सब में बड़ी समस्या रही है, और आज भी कोई दूसरी समस्या गम्भीरता और महत्त्व में इससे बढ़कर नहीं है। 'विश्ववाणी' के इन अंकों के लेखों में जगह जगह इस समस्या पर रोशनी मिलेगी। निस्सन्देह इस विषय में बहुत बड़े मतभेद हैं। हमारे ख़याल में इनसान का सांस्कृतिक इतिहास यह साफ़ बताता है कि मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन या उसकी सामूहिक सभ्यता दोनों धीरे धीरे पाशविकता और हिंसात्मक साधनों के इस्तेमाल को कम करके, और सहकारिता और नैतिक साधनों को बढ़ाकर ही अपने सांस्कृतिक लक्ष्य तक पहुँचने में अधिक सफल हुई हैं। इस विषय में भी भयंकर भ्रम हैं। इन भ्रमों का असली कारण यह है कि हम अकसर जीवन की जटिलता की वजह से व्यक्तिगत सांस्कृतिक विकास और सामाजिक सांस्कृतिक विकास दोनों के तात्त्विक स्वरूप को देख नहीं पाते। व्यक्तिगत और सामाजिक संस्कृति को समझने के लिये अगर हम मानव जीवन के इतिहास का गहराई और गम्भीरता के साथ विश्लेषण करें तो हम लाज़मी तौर पर एक ही नतीजे पर पहुंचेंगे, वह यह कि व्यक्तिगत संस्कृति का विकास, वह चाहे शारीरिक हो, मानसिक हो, नैतिक हो, या आध्यात्मिक दो अंशों में बांटा जा सकता है। एक व्यक्ति की जानकारी के क्षेत्र का अधिकाधिक विशाल होना, और दूसरे उन साधनों और उस शक्ति का पैदा होना जिनकी सहायता से मनुष्य अपने इस बढ़ते हुये ज्ञान को अपने पसन्द किये हुए नैतिक और आत्मिक सांचों में ढालने की कोशिश करता है। जब हम इस कोशिश और इन सांचों की परीक्षा करते हैं तो हम यह पाते हैं कि हर सभ्यता हर मज़हब और हर संस्कृति में इस प्रयत्न और इन सांचों का लगभग एक ही मौलिक स्वरूप रहा है, और वह स्वरूप है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैवानी और शैतानी अंशों को कम करना और मानवी और दैवी अंशों को बढ़ाना। ये हैवानी और शैतानी अंश क्या हैं, या ये मानवी और दैवी अंश क्या हैं इसकी विस्तृत व्याख्या की यहां आवश्यकता नहीं है, केवल इतना कहना काफ़ी है कि हमेशा से काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, द्वेष, घृणा, स्वार्थ, घमण्ड, क्रूरता इत्यादि अर्थात् सारी हिंसात्मक वृत्तियों को दबाना और मिटाना और इनके स्थान पर संयम, क्षमा, उदारता, परोपकारिता, दया, प्रेम, निस्वार्थता, नम्रता, इत्यादि अर्थात् सारी अहिंसात्मक वृत्तियों को जगाना और बढ़ाना यही मनुष्य की व्यक्तिगत संस्कृति का सदा से सार रहा है। मनुष्य के सामूहिक जीवन की भी सब से महान सांस्कृतिक समस्या यही रही है कि इन्हीं हैवानी और शैतानी वृत्तियों को सामाजिक जीवन से कैसे निकाला जाय और इनसानी और दैवी वृत्तियों को कैसे उनकी जगह दी जावे।

(५)

इस महान समस्या के हल करने में इनसानी दुनिया को सबसे अधिक सहायता और सबसे अधिक रोशनी इस कल्पना से, इस मौलिक सत्य से, मिली है कि यह समस्त बाहरी दुनिया और इसका अलग अलग टुकड़ों में दिखाई देना केवल एक भ्रम है। इस अनेकता इस द्वैत और इस विस्तार के पीछे एक एकता एक व्यापक विश्वात्मा, एक शक्ति, एक अस्तित्व काम कर रहा है। हमारी साइन्स, हमारा सारा भौतिक ज्ञान भी अपनी असंख्य कठिन और कठोर मंज़िलें तय करता हुआ इसी नतीजे पर पहुंचता है कि हमारे पंच महाभूत, और वह अनगिनत 'एलिमेण्ट' या 'तत्त्व' जिनसे यह भौतिक संसार बना हुआ है, अन्त में एक ही अस्तित्त्व एक ही शक्ति के अनेक रूप हैं। हमारा भौतिक विज्ञान और आत्म-विकास अर्थात् हमारी भौतिक संस्कृति और आत्मिक-संस्कृति अथवा हमारी साइन्स और हमारा मज़हब गोकि इस विषय में एक ही नतीजे पर पहुंचे हैं फिर भी अभी तक भौतिक विज्ञान ने मानव जगत की नैतिक और आत्मिक सम्पत्ति को नहीं अपनाया। यही मानव संस्कृति के अन्तिम विकास की आख़िरी और सब में बड़ी रुकावट है। किन्तु ज्यों ज्यों भौतिक विज्ञान व्यक्तिगत और सामाजिक मनोविज्ञान की गहराइयों में पैठता जा रहा है, त्यों त्यों इस अन्तिम रुकावट के मिट जाने की सम्भावनाएं पैदा होती जारही हैं, और यद्यपि अभी रात ख़त्म नहीं हुई फिर भी उन सब लोगों को, जिनकी आत्माएं मानव कल्याण के लिये व्याकुल हैं, प्रभात की अरुणिमा दिखाई देने लगी है।

(६)

अन्त में हम एक बात और कहना चहते हैं। पाठक देखेंगे कि हम मानव संस्कृति के विषय को उसके तात्त्विक और व्यापक स्वरूप में ही दिखाने को कोशिश कर रहे हैं। इसके वह रूप जिनमें यह विषय कला, साहित्य, चित्रकारी, मूर्त्ति-निर्माण, गान-विद्या, नृत्य-कला इत्यादि विषयों तक ही परिमित किया जाता है, केवल इस मौलिक और व्यापक रूप के फलों और फूलों के समान है, जिनका रङ्ग, रूप, रेखा और रस सब उस संस्कृति पर निर्भर होते हैं, जिसकी भूमि और वायुमंडल में ये फूलते फलते हैं। कला कला के लिए, |Art for Ar Sake, एक निरर्थक कल्पना है। मनुष्य के जीवन का सब से सूक्ष्म और आनन्द-मय अंश उसकी नैतिक और आत्मिक बुनियादों से पृथक नहीं किया जा सकता। इसीलिए गोकि कुछ लोग 'कला कला के लिए' की आवाज़ उठाते रहते हैं, लेकिन कला का इतिहास हमें दिखाता है कि कला किसी भी काल, सभ्यता या संस्कृति में मानव जीवन के बुनियादी सिद्धान्तों और आदर्शों से अलग होकर विकसित नहीं हुई। कला को उसके असली और सर्वोच्च स्वरूप में हम जहां कहीं देखते हैं, वह हमें आत्मिक और आध्यात्मिक जीवन के अलौकिक शृङ्गार के रूप में ही दिखाई देती है।

वास्तव में जीवन एक है और मनुष्य जाति एक है। मानव संस्कृति एक संस्कृति है और अलग अलग देशों और जातियों में उस संस्कृति के ऊपरी रंगों और रूपों के फ़रक़ हमें इस अनेकता के अन्दर उसी मौलिक एकता, उसी अद्वैत, उसी तौहीदे हक़ाक़ो का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साक्षात करने की ओर लेजा रहे हैं। निस्सन्देह सर्वोच्च कला वही कला है, जो मानव समाज को अपने इस विकास में मदद देती है।

संस्कृति अङ्क : दूसरा भाग

जिस समय हमने संस्कृति अङ्क के लिये देश और विदेश के विद्वानों को सामग्री भेजने के लिये लिखा था, उस समय हमें यह विश्वास न था कि हमें चारों ओर से इतना अधिक सहयोग और प्रोत्साहन मिलेगा। इस सहयोग और प्रोत्साहन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति की पुकार युग की पुकार है और यदि भारत के व्याकुल प्राणों को किसी वस्तु की आवश्यकता है, तो वह सांस्कृतिक समन्वय की ही।

प्रस्तुत अङ्क के पृष्ठों में संस्कृति अङ्क के लिये पूरे लेख नहीं आ सके। यदि काग़ज़ के दाम चौगुने न हो गये होते, तो संस्कृति अङ्क ५०० पृष्ठों का भी थोड़ा ही होता। इस अङ्क के १९८ पृष्ठों में भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित लेखों के लिये ही स्थान निकल सका। बाक़ी बचे हुए लेख इतने महत्वपूर्ण हैं कि हम उन्हें फ़रवरी में संस्कृति अङ्क के दूसरे भाग के रूप में छाप रहे हैं। हमें डर है कि शायद फ़रवरी अङ्क में भी वे सब लेख न आ सकें।

अन्त में हम अपने आदरणीय कृपालु लेखकों को इस अङ्क को सफल बनाने के सहयोग के लिये हृदय से धन्यवाद देते हैं। यदि उनका सहयोग हमें प्राप्त न होता, तो हमारे जैसा तुच्छ और अयोग्य व्यक्ति भारतीय संस्कृति के प्रचार की महान ज़िम्मेवारी अपने ऊपर न उठा पाता।

किन्तु यह महान काम तभी अधिक व्यापक हो सकता है, जब हमारे स्नेही पाठक और पाठिकायें 'विश्ववाणी' के अधिक से अधिक प्रचार में हमारा हाथ बटायें। इस पिछले एक वर्ष में 'विश्ववाणी' के प्रति जो स्नेह और उत्साह उन्हों ने दिखाया है, वह हिन्दी संसार में एक अभूतपूर्व चीज़ है। 'विश्ववाणी' के जन्म के साथ ही पाठकों ने उसे हाथों हाथ उठाया है। फिर भी उनके इस स्नेह के बल पर ही हम यह कहने की ढिठाई कर रहे हैं कि जब तक 'विश्ववाणी' की स्थायी ग्राहक संख्या ५,००० तक नहीं पहुँचती, तब तक हमें सन्तोष नहीं। जैसा कि 'विश्ववाणी' के पाठक जानते हैं कि भारतीय संस्कृति के प्रचार के पवित्र उद्देश्य से ही 'विश्ववाणी' ने जन्म लिया है; इसीलिये हमारा अपने पाठकों से अनुरोध है कि अधिक से अधिक ग्राहक बनाकर उसके प्रचार में वे हमारी मदद करें। अकेले इतनी बड़ी ज़िम्मेवारी उठा सकना हमारे लिये असम्भव है।

आज संसार की परिस्थिति दिन प्रति दिन अधिक से अधिक भयानक होती जा रही है। युद्ध की लपटें भारतीय देह-प्राण को भी स्पर्श करने लगी हैं। ऐसी परिस्थिति में 'विश्ववाणी' की जिम्मेवारी बेहद बढ़ गई है। हम यदि पाठकों के प्रति अपनी इस ज़िम्मेवारी का दसवां हिस्सा भी पूरा कर सके, तो अपना सौभाग्य समझेंगे।

छपने से रह गया

श्री राय कृष्णदास लिखित 'गंगा कांठे की संस्कृति' नामक लेख की पहली टिप्पणी में 'आल इण्डिया रेडियो लखनऊ के सौजन्य से' जोड़ लें।

पाठकों से निवेदन

पिछले वर्ष के ग्राहकों के नये चन्दे हमें जिस क्रम से प्राप्त हुए हैं उसी क्रम से उनकी ग्राहक संख्या के नये नम्बर पड़े हैं। पाठकों से निवेदन है कि पत्र व्यवहार करते समय वे रैपर पर लिखी हुई अपनी नई ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य कर दिया करें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हो गई

हज़रत मुहम्मद और इसलाम

लेखक 'भारत में अंगरेज़ी राज' के रचियता

पंडित सुन्दरलाल

लगभग २५० पृष्ठ की सजिल्द, सचित्र और एण्टीक काग़ज़ पर छपी इस सरल और सुन्दर पुस्तक का मूल्य

केवल डेढ़ रुपया [डाक खर्च अलग]

विश्ववाणी के स्थायी ग्राहकों को पुस्तक केवल पौने मूल्य [डाक खर्च छै आना अलग] में मिलेगी

१५ वर्षों की लगातार खोज, और मेहनत से सैकड़ों पुस्तकों के अध्ययन के बाद यह पुस्तक तय्यार हुई है। पुस्तक में अरब का भूगोल और इतिहास, प्राचीन अरबों के सामाजिक जीवन, उनके धार्मिक विश्वास, उनकी पूजा के तरीक़े, मुहम्मद साहब का जन्म, इसलाम का प्रचार, रोम और ईरान के साथ टक्कर आदि विषयों का अत्यन्त सरल और चित्ताकर्षक वर्णन है। चित्रों और नक़्शों से पुस्तक की उपयोगिता बेहद बढ़ गई है। पुस्तक इतने आकर्षक ढङ्ग से लिखी गई है कि प्राचीन घटनाएं मानों क़ब्र से निकलकर बोलने लगती हैं।

काग़ज़ की तंगी से पुस्तक का दूसरा संस्करण लड़ाई के बाद निकलेगा। जल्दी से जल्दी अपना आर्डर भेजिये वरना प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसी पुस्तक का उर्दू संस्करण १ फ़रवरी को प्रकाशित होगा।

मैनेजर, विश्ववाणी बुक-डिपो

साउथ मलाका, इलाहाबाद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकाशित होगया

प्रकाशित होगया

'जीवन-सखा'

'व्यायाम-अंक'

इस अंक के द्वारा आप केवल दण्ड-बैठक आदि व्यायाम की क्रियाओं से ही परिचित नहीं होंगे, वल्कि संसार में प्रचलित व्यायाम प्रणालियां तथा उनका क्रमिक विकास, भारत की प्राचीन तथा आधुनिक व्यायाम शैली, रोगों के निवारण में व्यायाम का उपयोग आदि अनेक महत्वपूर्ण बातों से भी आपकी जानकारी होगी। इस विशेषांक के लेखों की सूची देखिये।

१—व्यायाम।
२—सम्यक् व्यायाम।
३—व्यायाम के क्षेत्र में आसनों का महत्व।
४—आसन व्यायाम।
५—योग क्रिया और अन्दरूनी सफ़ाई।
६—आधुनिक व्यायाम पद्धति पर एक दृष्टि।
७—छुट्टियाँ और काम करने का समय।
८—व्यायामियों का भोजन।
९—धनुर्विद्या।
१०—शरीर को सुडौल बनाने का अचूक उपाय।
११—नृत्य कला और व्यायाम।
१२—व्यायाम की प्रारम्भिक शिक्षा।
१३—बाल कवायद।
१४—चक्षु-व्यायाम।
१५—वृषभ स्कन्ध।
१६—यूरोप में व्यायाम आन्दोलन।
१७—प्राचीन भारत में शरीर रक्षा और व्यायाम का स्थान।
१८—व्यायाम वरदान या अभिशाप ?
१९—हार्नियाँ और उसका इलाज।
२०—शालाओं में शारीरिक शिक्षा।
२१—सांस की कसरत।
२२—टहलने का आनन्द।
२३—मेद-रोग का इलाज।
२४—शारीरिक विकास।
२५—मालिश—एक व्यायाम।
२६—सूर्य-नमस्कार।

अनेक चित्रों से सुसज्जित इस वृहद् विशेषांक का मूल्य १) है। किन्तु 'जीवन-सखा' के सभी पुराने-नये ग्राहकों को यह मुफ़्त दिया जा रहा है। यदि आप अब तक ग्राहक नहीं बनें हों, तो शीघ्र ३) भेज कर बन जाइये। युद्ध के कारण अनिवार्य कठिनाइयां उत्पन्न हो गई हैं, उनकी वजह से यह विशेषांक सीमित संख्या में प्रकाशित हुआ है। अत: शीघ्रता कीजिये अन्यथा निराश होना पड़ेगा।

मैनेजर "जीवन-सखा"

८७, हिम्मत गंज, इलाहाबाद

"हैन्यु"

दांतों के समस्त भयंकर रोगों से बचने के लिये सब से उत्तम और सस्ता मंजन "हैन्यु" इस्तेमाल कीजिये। इसकी प्रशंसा हम क्या ?—प्रयोग में लाने वाले करेंगे।

एजेण्टों की हर जगह आवश्यकता है ! लिखिये :—

मिलने का पता :—बी० प्रसाद, जूँडला गेट, करनाल (पञ्जाब) इण्डिया।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क़ुरान और धार्मिक मतभेद

लेखक

राष्ट्रपति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

भूमिका लेखक

भूतपूर्व राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद

राष्ट्रपति ने इस सुन्दर पुस्तक में क़ुरान की आयतों का हवाला देकर अकाट्य दलीलों के साथ यह साबित किया है कि इसलाम का उद्देश्य प्रेम का प्रचार करना है, नफ़रत का प्रचार नहीं। मिलाना है, लड़ाना नहीं। प्रत्येक हिन्दुस्तानी को, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, इस पुस्तक का ज़रूर अध्ययन करना चाहिये।

मूल्य डाक ख़र्च सहित केवल एक रुपया

शीघ्रता कीजिये, केवल थोड़ी-सी प्रतियाँ और बची हैं।

मैनेजर, विश्ववाणी बुकडिपो, साउथमलाका, इलाहाबाद

प्रदीप

जनता के जीवन - अधिकार का पहरेदार

बीसवीं - सदी - राजनीति का हिन्दुस्तानी मासिक

योरोप हिटलर का आखेट पड़ा है

एशिया पर महासागर की अँधियारी झूल आयी

हिन्दुस्तान में जीवन-मौत के सवाल खड़े हैं

आपने ऐसी हालत में घर और बाहर की सही-पूरी जानकारी के लिये क्या प्रबन्ध किया है ?

आपने, जो आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं ! आज़ादी की ओर बढ़ रहे हैं !!

आज़ादी असम्भव नहीं, इन्सान का सहज अधिकार है, पर हमें उसके लिये तय्यार भी तो होना चाहिए।

हम क्या हैं ? कैसे हैं ? हमारी ज़रूरतें किस तरह की हैं ? कैसी आज़ादी उन्हें पूरा कर सकेगी ?

और कैसे वह आज़ादी हम पा सकेंगे ? अपने पास रख सकेंगे ?

—हमें यह सब अब समझना ही होगा—

प्रदीप: हिन्दुस्तानी जनता की

यही सब ज़रूरतें पूरा करने की एक अनूठी कोशिश है

क्या आप उसकी एक कापी ढूंढकर नहीं पढ़ेंगे ?

सम्पादक : जगदीश, एम० ए० *प्रकाशक : प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, यू० पी०*

वार्षिक : पांच रुपया आठ आना प्रति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकाशित हो गई

भारतीय चीनी मिट्टियां

लेखक—मनोहरलाल मिश्र, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०

सिरेमिक विभाग, काशी विश्वविद्यालय

प्रस्तुत पुस्तक श्री मिश्र जी के बेहद परिश्रम और खोज का परिणाम है। भारतीय चीनी मिट्टी के व्यवसाय पर इतनी सुन्दर और महत्वपूर्ण पुस्तक हिन्दी में कोई दूसरी नहीं है। अपने देश की मिट्टी को हम किस तरह सोने में बदल सकते हैं, यही इस पुस्तक का उद्देश्य है। चीनी मिट्टी और मिट्टी के व्यवसाय में लगे हुए हर कारीगर, कुम्हार और दूसरे व्यवसाइयों के लिये यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। २९० पृष्ठों की इस सजिल्द पुस्तक का मूल्य है केवल १॥) रु०

मैनेजर, विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद

देशी राज्यों की चहारदिवारी से निकलने वाला

सर्व प्रथम लोक प्रिय राष्ट्रीय साप्ताहिक

प्रजा सेवक *** प्रजा सेवक *** **प्रजा सेवक**

अपने ढंग का निराला राष्ट्रीय पत्र है,

इसके सम्पादक हैं तपे हुए राष्ट्रसेवी और कर्मठ सेवक

पं० अचलेश्वरप्रसाद शर्मा

यदि आप राजपूताने के देशी राज्यों में मूक प्रजा की वर्तमान स्थिति, जागीरदारों के अवांछनीय कारनामे तथा दूसरी अन्य अजीबोग़रीब रियासती बातें जानना चाहते हैं, तो शीघ्र ४) रु० भेजकर—

आज ही "प्रजा सेवक" के ग्राहक बन जाइये

प्रत्येक राजस्थानी-मारवाड़ी को, चाहे वह कहीं भी रहता हो, केवल "प्रजा सेवक" द्वारा ही अपने देश के सभी समाचार मिल सकेंगे।

यदि आप व्यापार करते हैं !

तो अपने व्यापार का विज्ञापन "प्रजा सेवक" में अवश्य दें। यह हजारों की संख्या में सभी रियासतों में जाता है और लाखों आदमियों द्वारा पढ़ा जाता है। आपके व्यापार की बढ़ोतरी के लिए यह सर्वोत्तम साधन है। विज्ञापन के रेट मँगाइये।

मैनेजर—"प्रजा सेवक" कार्यालय, गान्धी बाजार, जोधपुर।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विश्वभारती पत्रिका

[साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी हिन्दी त्रैमासिक]

संसार की समृद्ध चिन्ताओं का विवेचन, रवीन्द्र-साहित्य का नियमित प्रकाशन, उत्कृष्ट कलाकारों की कृतियां और उनकी समीक्षा—पत्रिका की अपनी विशेषताएँ होंगी।

—प्रथम अङ्क जनवरी १९४२ में प्रकाशित—

विषय-सूची

एक संदेश	महात्मा गान्धी
एशिया के जागरण में ही यूरोप का परित्राण है	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
अहिंसात्मक साध्य और साधन	डा० राजेन्द्र प्रसाद
शिल्पी रवीन्द्रनाथ	नन्दलाल बसु
वे काम किये जा रहे हैं (कविता)	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
भारतीय संस्कृति के अध्ययन की एक उपेक्षित दिशा	क्षितिमोहन सेन
'ख' आदि शून्यवाची शब्दों का आकाश के साथ दार्शनिक सम्बन्ध	डा० आनन्द कुमार स्वामी तथा वासुदेव शरण अग्रवाल
आधुनिक काव्य	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
युद्धोत्तरकालीन यूरोपीय उपन्यास में धर्म	डा०, ए० एरन्सन
गुरुदेव के आंसू	गुरुदयाल मलिक
पुरानी पोथियों की विदेश यात्रा	प्रह्लाद प्रधान
'रस' का पुराना अर्थ	हजारी प्रसाद द्विवेदी

और समीक्षाएँ

मूल्य प्रति संख्या—१।) वार्षिक मूल्य—६)

विश्वभारती-संस्था के सदस्यों से ४) : (डाक-व्यय माफ़)

पत्र-व्यवहार इस पते से करें :—

व्यवस्थापक, 'विश्वभारती-पत्रिका'

हिन्दी-भवन, शांतिनिकेतन (बङ्गाल)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हिन्दी-मन्दिर, इलाहाबाद को आप जानते ही हैं

अब आपको

उसका समस्त प्रकाशन

सस्ता साहित्य मण्डल से मिला करेगा

क्योंकि

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग
के
समस्त प्रकाशनों का स्टॉक
मंडल ने मोल ले लिया है
अतः
'मंडल' के स्थायी ग्राहकों और
'ग्री० सा०' के ग्राहकों को
पौने मूल्य में मिल सकता है

(१)
कनाट सर्कस, नई दिल्ली

(२)
दरीबा कलाँ, दिल्ली

(३)
अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ

(४)
खजूरी बाज़ार, इन्दौर

(५)
१३२।१ हरिसन रोड, कलकत्ता

(६)
ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

हिन्दी-मन्दिर के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

काव्य-आलोचना
(१) कविता-कौमुदी : पहला (हिंदी), दूसरा (हिंदी) चौथा (उर्दू) सातवां (बंगला)
(२) तुलसीदास और उनकी कविता—दो भाग

काव्य (३) पथिक (४) मिलन (५) स्वप्न (६) मानसी आदि

नाटक (७) जयन्त (८) बफ़ाती चाचा (९) प्रेमलोक (१०) वानर संगीत आदि

कहानियाँ (११) तरकस (१२) वीथिका (१३) यूरोप की कहानियां आदि

जीवनियां (१४) अशोक (१५) चन्द्रगुप्त (१६) बुद्ध (१७) मुसलिम सन्त आदि

कोष (१८) हिन्दुस्तानी कोष (१९) पाकेट डिक्शनरी

इसके अलावा किसानोपयोगी, महिलोपयोगी, तथा बालोपयोगी साहित्य

कुल मिलाकर ११५ पुस्तकें !

विशेष सूचीपत्र मँगाकर देखिए ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति अङ्क ० दूसरा भाग

देश और विदेश के महान लेखकों ने 'विश्ववाणी' के संस्कृति अङ्क के लिये इतने अधिक और महत्वपूर्ण लेख भेजे हैं कि हमें संस्कृति अङ्क के और भाग प्रकाशित करने पड़ रहे हैं। जनवरी अङ्क के २०० पृष्ठों में तो भारतीय संस्कृति के ही पूरे लेख नहीं आ सके। इसलिये हमारा नम्र आयोजन है कि—

आगामी फ़रवरी अङ्क संस्कृति अङ्क का दूसरा भाग होगा

फ़रवरी अङ्क के लेखों की सूची

१ संस्कृति तो है ही नहीं—जार्ज बर्नर्ड शा
२ संस्कृति का मूल आधार—अलबर्ट आइन्सटाइन
३ हमारे जीवन की संस्कृति—सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन
४ विज्ञान और भारतीय संस्कृति—सर सी. वी. रमन
५ भारतीय संस्कृति की नवचेतना—सर पी. एस. शिव स्वामी अय्यर
६ तलवार की संस्कृति—गेरिक डाड
७ अन्तर्राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय संस्कृतियाँ—अलबर्ट ग्यूरार
८ युद्ध और संस्कृति—श्री गोपाल हालदार
९ हम पीड़ित और शापित निग्रो—और है हमारी भी संस्कृति—कुमारी ज़ोरा नील हर्स्टन
१० चीनी संस्कृति की नवचेतना—मेडम चियाङ्ग काइशेक
११ सोवियत् रूस में शिक्षा और संस्कृति—श्री बुद्धदेव बसु
१२ अरबों का वर्तमान और भविष्य—अलबर्ट वाइटन
१३ सर्व धर्म समभाव—स्वामी दरबारीलाल सत्यभक्त
१४ हिन्दू-न्याय विधान—सर सीताराम पाटकर
१५ रणजीतसिंह—सर शफ़ात अहमद ख़ाँ
१६ हिन्दू मुसलमानों के लिये विचारणीय प्रश्न—सर मिरज़ा इसमाईल
१७ हिन्दू मुसलिम भ्रातृ भाव—श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी
१८ नव व्यवस्था—श्री शंकर गणपतराव कोकने

इनके अतिरिक्त और अनेक लेख, सुन्दर कहानियाँ और रोचक एकांकी नाटक आदि होंगे

'विश्ववाणी' साहित्य की निर्मल गंगा है

देश के सभी विद्वानों की राय है कि 'विश्ववाणी' का एक एक अङ्क हिन्दी साहित्य की स्थायी वस्तु है। हिन्दी पाठकों का धार्मिक और पवित्र कर्तव्य है कि साहित्य के इस नव-निर्माण में वे 'विश्ववाणी' का हाथ बटायें।

आज ही पत्र लिखकर स्थायी ग्राहकों में अपना नाम लिखाइये

(वार्षिक मूल्य ६) एक अङ्क का ॥=)

मैनेजर, 'विश्ववाणी', इलाहाबाद

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद।